११

अदिति

सह

भारत माता

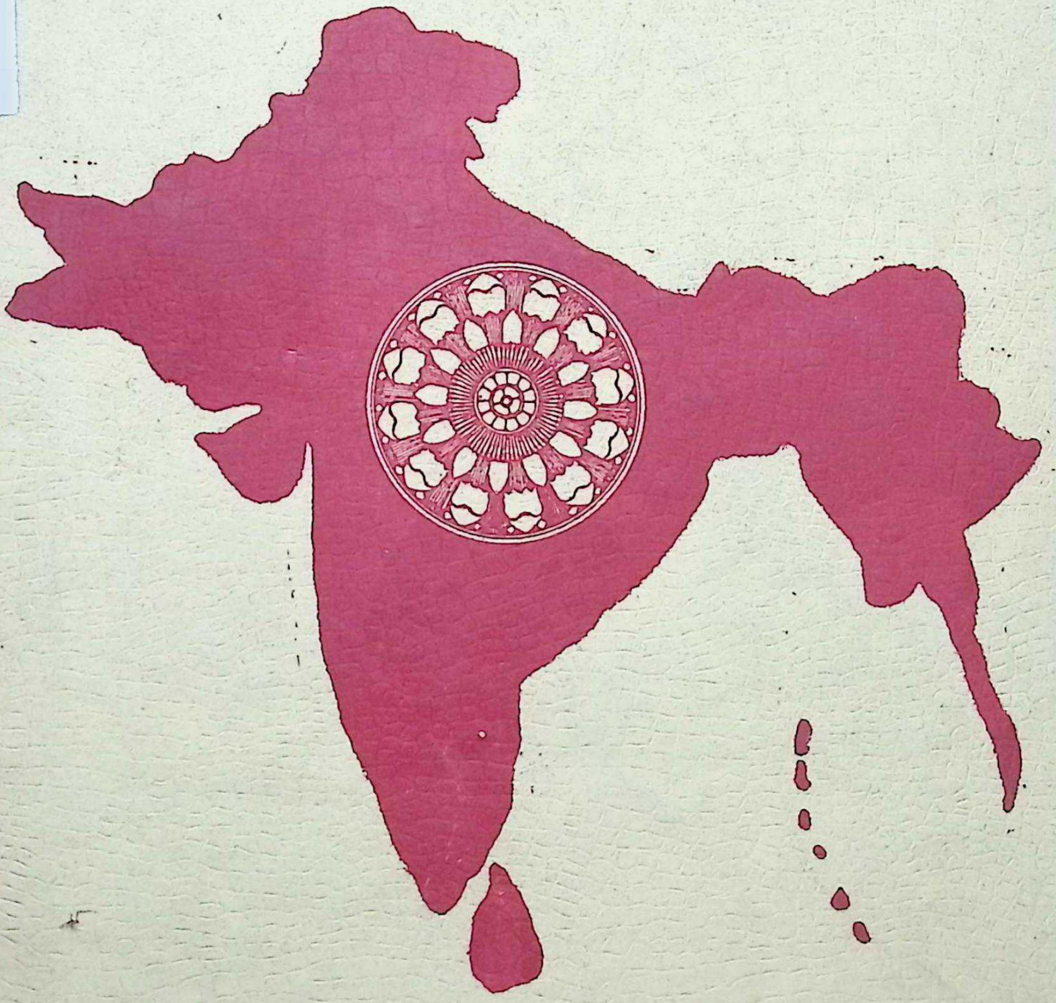

अदिति कार्यालय, श्रीअरविंद आश्रम, पांडिचेरी-२

97692

अदिति

सह

भारत माता

श्रीअरविंदकी विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टिसे प्रेरित

त्रैमासिक पत्रिका

एकासीवीं कला

श्रीमाताजी के जन्म-दिवस २१ फरवरी १९६३ के उपलक्ष्यमें

अदिति कार्यालय, श्रीअरविंद आश्रम

पांडिचेरी-२

विषय-सूची

('अदिति सह भारत माता', २१ फरवरी १९६३)

विषय		पृष्ठ
१. २१ फरवरी १९६३	(श्रीअरविंद)	३
२. प्रार्थना	(श्रीमां)	४
३. श्रीमां	(श्रीअरविंद)	५
४. गीताकी भूमिका (१४)	(श्रीअरविंद)	७
५. भागवत मुहूर्त्त (८)—योगप्रसंग	(श्रीअरविंद)	९
६. धम्मपदं—यमकवग्गो	(श्रीमां)	१३
७. चिंतनधारा और सूत्रावली	(श्रीमां)	१९
८. निरापद साधनाकी शर्त्तें	(श्रीअरविंद)	३५
९. दिव्य जीवन	(श्रीअरविंद)	३९
(१) जड़-तत्त्वकी ग्रंथि		४०
(२) द्रव्यकी ऊर्ध्वगामी क्रमपरंपरा		५०
१०. विभिन्न प्रकारके प्रेम	(श्रीअरविंद)	५९

संशोधन

२४ नवंबर १९६२ की 'अदिति सह भारत माता' में 'दिव्य जीवन' के जो दो अध्याय छपे हैं, वे २३वें और २४वें अध्याय हैं। कृपया शुद्ध कर लें। —सं.

प्रवन्ध-संपादक, श्रीकेशवदेव पोद्दार ('सहकार' बी रोड, चर्चगेट, बम्बई-१) तथा श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला (४/१ क्लाइड रो, कलकत्ता-२२); प्रकाशक, श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर (एस० एन० संडरसन एण्ड क०, कनाट सरकस, नई दिल्ली)।

The Director of Publication: Chandradip, Shri Aurobindo Ahsram Press, Pondicherry-2

1038/12/62/750

२१ फरवरी १९६३

जो वरदान हमने परम प्रभुसे मांगा है वह पृथ्वी परमात्मासे जिन वरदानोंको मांग सकती है उनमें सबसे बड़ा है। हमने वह परिवर्तन मांगा है जिसे साधित करना अत्यंत कठिन है, जिसकी शर्त्तें अत्यंत कठोर हैं। वह यह है—इससे कम कुछ भी नहीं—कि जड़तत्त्वमें परात्पर दिव्य सत्य और शक्तिका अवतरण हो जाय, भौतिक स्तर और चेतनामें तथा पार्थिव जगत्‌में अतिमानसिक सत्य स्थापित हो जाय एवं सत्ता नीचे जड़-तत्त्वतक संपूर्ण रूपांतरित हो जाय। इस चमत्कारको एकमात्र परमा कृपाशक्ति ही संसिद्ध कर सकती है।

परात्परा शक्ति अत्यंत जड़ चेतनामें अवतरित हो गयी है पर वह सघन भौतिक पर्देके पीछे खड़ी है; वह मांग करती है कि उसकी अभि-व्यक्तिसे पहले, उसकी महान् उन्मुक्त क्रियावलीके आरंभ होनेसे पहले परमा कृपाशक्तिकी शर्त्तें यथार्थ और प्रभावकारी रूपमें पूरी हो जानी चाहियें।

सर्वांगपूर्ण आत्मसमर्पण, भागवत प्रभावके प्रति ऐकांतिक आत्मोद्‌घाटन, सतत और संपूर्ण रूपसे दिव्य सत्यका वरण तथा मिथ्यात्वका परित्याग—बस, ये ही शर्त्तें रखी गयी हैं। परंतु इन शर्त्तोंको एकदम पूर्ण रूपसे, अत्यंत भौतिक चेतना और उसकी क्रियाओंतकमें, सहज और सच्चे रूपमें, कतराये और बहाना बनाये बिना तथा कुछ बचाये बिना पूरा करना होगा।

—श्रीअरविंद

प्रार्थना

ज्योति आ गयी है, पथ खुल गया है। परिश्रमशील भूतकालको कृतज्ञतापूर्ण अभिवादन अर्पित कर हम उस नये पथपर दौड़ चलेंगे जिसे तूने हमारे सामने प्रशस्त रूपमें उद्घाटित कर दिया है।

अधिक विशाल और अधिक सज्ञान सिद्धिके इस नवीन राज्यकी देहलीपर, हे परमेश्वर, हम पूर्ण समर्पण तथा पूजा-भावके साथ तेरे सामने सिर झुका रहे हैं। बिना कुछ बचाये हम अपने-आपको तुझे दे रहे हैं।

* * *

हे मेरे प्रियतम स्वामी ! हे आनंदके अधीश्वर ! ये सब आनंदके लोक परस्पर एक-दूसरेमें प्रविष्ट हो रहे हैं और एक-दूसरेको पूर्ण बना रहे हैं; वे एक ऐसी वृहत् वस्तु बन गये हैं कि उन सबकी एक साथ धारणा बनाना कठिन है। हमें इन विधानोंका ज्ञान प्रदान कर तथा पृथ्वीको जागृत करनेकी शक्ति दे जिसमें कि अंधभावसे अनुसृत इस लक्ष्यको वह समझ सके और इसके विषयमें धारणा बना सके।.....

समस्त वस्तुओंमें तू ही विशुद्ध सुख है, परम तृप्तिदायी आनंद है..... परंतु यह आनंद केवल तभी परिपूर्ण होता है जब यह अत्यंत शुद्ध अभिव्यक्तिसे लेकर अत्यंत गभीर गहराइयों तकमें सर्वांगपूर्ण बन जाता है।

हे भगवान् ! .....इस ज्ञानमें मुझे दृढ़प्रतिष्ठ कर। मुझे चेतनाके उस केंद्रमें स्थापित कर जहांसे मेरे कार्य तेरे विधानकी विशुद्ध अभिव्यक्तिके सिवा और कुछ न हों।

—श्रीमां

९८६९०

रु ३००/-

श्रीमां

प्रश्न :

ऐसे बहुतसे लोग हैं जिनका मत है कि श्रीमां मनुष्य थीं पर अब उन्होंने भगवती माताको अपने अंदर मूर्त्तिमान् किया है और, उनका विश्वास है कि श्रीमांकी प्रार्थनाएं ('प्रार्थना और ध्यान' नामक पुस्तक) इस मतको पुष्ट करती हैं। पर, मेरे मनकी धारणा, मेरे अंतरात्माका अनुभव यह है कि वह स्वयं भगवती माता ही हैं जिन्होंने अंधकार और दुःख-कष्ट और अज्ञान-का जामा पहनना इसलिये स्वीकार किया है कि वह सफलतापूर्वक हम मनुष्योंको ज्ञान, सुख और आनंदकी ओर तथा परम प्रभुकी ओर ले जा सकें। मेरी यह भी धारणा है कि उनकी 'प्रार्थनाएं' हम अभीप्सु जीवोंको यह दिखलानेके लिये लिखी गयी हैं कि भगवान्‌के सामने किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये। क्या मेरी बात ठीक है?

उत्तर :

हां, ठीक है। भगवान् स्वयं मार्गपर चलकर मनुष्योंको राह दिखानेके लिये मनुष्यका रूप धारण करते हैं और बाहरी मानव-प्रकृतिको स्वीकार करते हैं। पर इससे उनका भगवान् होना खत्म नहीं हो जाता। यह एक अभिव्यक्ति होती है; बढ़ती हुई भागवत चेतना अपने-आपको प्रकट करती है। यह मनुष्यका भगवान्‌में बदल जाना नहीं है। श्रीमां अपने आंतर स्वरूपमें बचपनमें भी मानवत्वसे ऊपर थीं। इसलिये 'बहुतसे लोगों' का मत भ्रमात्मक है।

१७. ८. १९३८ —श्रीअरविंद

प्रत्येक मनुष्य जो यौगिक अनुभवके राज्यमें प्रवेश करता है, अपना निजी रास्ता अपनानेके लिये स्वतंत्र है; परंतु यह योग ऐसा नहीं है जिसका अनुसरण कोई भी आदमी कर सके; बल्कि यह पथ तो केवल उन लोगोंके लिये है जिन्होंने दिखाये गये लक्ष्यको प्राप्त करना तथा प्रदर्शित पथका अनुसरण करना स्वीकार किया है और इस योगपथपर चलनेके लिये एक सु-निश्चित पथप्रदर्शनका होना अनिवार्य है। किसी भी आदमी के लिये यह आशा करना व्यर्थ है कि वह इस पथपर केवल अपने ही आंतरिक शक्ति-सामर्थ्य और ज्ञानके बलपर, किसी सच्ची सहायता या प्रभावको स्वीकार किये बिना बहुत दूरतक जा सकता है—अंततक जानेकी तो बात ही क्या? युग-युगसे अनुसृत साधारण योगोंमें भी गुरुकी सहायताके बिना चलना मुश्किल है, और इस योगमें तो, जो कि जैसे-जैसे अग्रसर होता है वैसे-वैसे अछूते देशों तथा अपरिचित जटिल क्षेत्रोंमेंसे गुजरता है, एकदम असंभव है। यहां होनेवाले कार्यका जहांतक प्रश्न है, वह भी किसी भी पथके किसी भी साधकका कार्य नहीं है; फिर वह "निराकार" भगवान्‌का कार्य भी नहीं है जो भगवान्, उसी कारण, कोई सक्रिय शक्ति नहीं हैं बल्कि विश्व-में सभी कार्योंको निष्पक्ष भावसे धारण करते हैं। यह तो उन लोगोंकी शिक्षाका एक क्षेत्र है जो इसी योगके, अन्य किसी योगके नहीं, कठिन और जटिल मार्गमेंसे गुजरना चाहते हैं। यहांपर सभी कार्य विश्वास, अनुशासन और समर्पणकी भावनाके साथ करना होगा, अपने व्यक्तिगत मांगों और शर्त्तोंके साथ नहीं, बल्कि नियंत्रण और पथप्रदर्शनके प्रति सजग और सज्ञान आनुगत्यके साथ करना होगा। अन्य किसी भी भावके साथ किये गये कार्यके फलस्वरूप वातावरणमें आध्यात्मिकताशून्य विश्रृंखलता, अस्तव्यस्तता और उपद्रव ही उत्पन्न होते हैं। उसके अंदर कठिनाइयां, भूल-भ्रांतियां, पदस्खलन आदि भी प्रचुर होते हैं, क्योंकि इस योगमें लोगोंको बड़े धैर्यके साथ ले चलना होता है और उन्हें अपने निजी प्रयास-के लिये क्षेत्र देना पड़ता है, अनुभवके द्वारा, मन और प्राणके स्वाभाविक अज्ञानसे बाहर निकालकर एक विशालतर भावना और एक ज्योतिर्मय ज्ञानमें ले जाना होता है। परंतु सीमाके उस पारके क्षेत्रोंमें बिना मार्गदर्शनके भटकनेका खतरा यह है कि उससे योगका स्वयं आधार ही नष्ट हो सकता है तथा केवल जिन परिस्थितियोंमें यह कार्य किया जा सकता है वे परिस्थितियां ही एकदम नष्ट हो सकती हैं।

—श्रीअरविंद

मूल बंगला भाषामें:

गीतार भूमिका :: श्रीअरविन्द

(१४)

द्वितीय अध्याय :: (नवम्बर १९६२ के अंक से आगे)

समभाव

श्रीकृष्ण प्रथम आत्मार नित्यतार उल्लेख करिया परे अज्ञानेर बंधन शिथिल करिवार उपाय देखाइलेन[1]। मात्रा अर्थात् विषयेर नानारूप स्पर्श, सुख, दुःख इत्यादि द्वन्द्वेर कारण। एइ स्पर्शसकल अनित्य, ताहादेर आरंभओ आछे, अंतओ आछे, अनित्य बलिया आसक्ति परित्याग करिते हय। अनित्य वस्तुते यदि आसक्त हइ[2], ताहार आगमने[3] हृष्ट[4] हइ, ताहार नाशे वा अभावे दुःखित ओ व्यथित हइ, एइ अवस्थाके अज्ञान वले[5]। अज्ञाने अनश्वर आत्मार सनातन भाव ओ अन्वय[6] आनंद आच्छन्न हय, केवल क्षणस्थायी भाव ओ वस्तुते मत्त हइया थाकि[7], ताहार नाशेर दुःखे शोकसागरे निमग्न हइ। एइरूप अभिभूत ना हइया जे विषयेर स्पर्शसकल सह्य करते पारे, अर्थात् जे द्वन्द्व उपलब्धि करियाओ सुख—दुःखे, शीतोष्णे, प्रियाप्रिये, मंगलामंगले, सिद्धि-असिद्धिते हर्ष ओ शोक अनुभव ना करिया समानभावे प्रफुल्लचित्ते हास्यमुखे ग्रहण करिते पारे, से पुरुष रागद्वेष हइते मुक्त हय, अज्ञानेर बंधन काटिया सनातन भाव ओ आनंद उपलब्धि करिते समर्थ हय,—**अमृतत्वाय कल्पते।**

समतार गुण

एई समता गीतार प्रथम शिक्षा। समताइ गीतोक्त साधनेर प्रतिष्ठा[8]। ग्रीक स्तोइक[9] सम्प्रदाय भारत हइते एइ समतार शिक्षा लाभ करिया[10] युरोपे समतावाद प्रचार करियाछेन[11]। ग्रीक दार्शनिक एपिकूरस श्रीकृष्ण-प्रचारित शिक्षार आर एक दिक धरिया[12] शांतभोगेर शिक्षा,

---

[1]दिखाया अर्थात् बतलाया। [2]यदि आसक्त हों। [3]उसके आनेपर। [4]प्रसन्न। [5]कहते हैं। [6]विशुद्ध। [7]मत्त हुए रहते हैं। [8]आधार। [9]अंगरेजीशब्द 'स्टोइक' (Stoic)। [10]पाकर। [11]फैलाया है। [12]एक पक्षको पकड़कर।

Epicureanism वा भोगवाद प्रचार करिलेन। एइ दुइ मत, समतावाद वा भोगवाद प्राचीन युरोपेर श्रेष्ठ नैतिक मत वलिया ज्ञात छिल एवं आधुनिक युरोपेओ नव आकार धारण करिया Puritanism ओ Paganism एर चिर द्वन्द्व सृष्टि करियाछे[13]। किंतु गीतोक्त साधने समतावाद ओ शान्त वा शुद्ध भोग एकइ कथा[14]। समता कारण, शुद्ध भोग कार्य। समताय आसक्ति मरे, रागद्वेष प्रशमित हय, आसक्ति नाशे एवं रागद्वेष प्रशमने शुद्धता जन्माय। शुद्ध पुरुषेर भोग कामना ओ आसक्तिरहित, अतएव शुद्ध। इहातेइ समतार गुण जे समतार सहित आसक्ति ओ रागद्वेष एक आधारे थाकिते पारे ना। समताइ शुद्धिर बीज।

दुःखजय

ग्रीक स्तोइक सम्प्रदाय एइ भूल करिलेन जे तांहारा दुःख-जयेर प्रकृत उपाय बुझिते पारेन नाइ। तांहारा दुःख निग्रह करिया, छापाइया,[15] पदे दलित करिया दुःखजयेर चेष्टा करिलेन। किंतु गीताय अन्यत्र वलियाछे, **प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति।** भूतसकल निज प्रकृतिके अनुसरण करे, निग्रहे कि हइबे? दुःखनिग्रहे मानवेर हृदय शुद्ध, कठोर, प्रेमशून्य हइया जाय। दुःखे अश्रुजल मोचन करिब ना, यन्त्रणाबोध स्वीकार करिब ना, "ए किछु नहे" वलिया नीरवे सह्य करिब, स्त्रीर दुःख, संतानेर दुःख, बंधुर दुःख, जातिर दुःख अविचलित चित्ते देखिब, एइ भाव बलदृप्त[16] असुरेर तपस्या—ताहार महत्त्व आछे, मानवेर उन्नतिसाधने प्रयोजनओ आछे, किंतु इहा दुःखजयेर प्रकृत उपाय नहे, शेष वा चरम शिक्षा नहे। दुःखजयेर प्रकृत उपाय ज्ञान, शान्ति, समता। शान्तभावे सुखदुःख ग्रहण कराइ प्रकृत पथ। प्राणे सुख-दुःखेर संचार वारण करिब ना,[17] बुद्धि अविचलित करिया राखिब। समतार स्थान बुद्धि, चित्त नहे, प्राण नहे। बुद्धि सम हइले चित्त ओ प्राण आपनिइ सम हय, अथच प्रेम इत्यादि प्रकृतिजात प्रवृत्ति शुकाइया जाय[18] ना, मानुष पाथर[19] हय ना, जड़ ओ असाड़[20] हय ना। **प्रकृतिं यान्ति भूतानि**—प्रेम इत्यादि प्रवृत्ति प्रकृतिर चिरन्तन प्रवृत्ति, ताहार हात[21] हइते परित्राण पाओयार एकमात्र उपाय परब्रह्मे लय। प्रकृतिर मध्ये थाकिया प्रकृतिवर्जन असंभव। यदि कोमलता परित्याग करि[22], कठोरता हृदयके अभिभूत करिबे,—यदि बाहिरे दुःखेर स्पन्दन निषेध करि, दुःख भितरे जमिया[23] थाकिबे एवं अलक्षितभावे[24] प्राणके शुकाइया दिबे। एइरूप कृच्छ्र साधने उन्नतिर संभावना नाइ। तपस्याय शक्ति हइबे बटे किंतु एइ जन्मे जाहा चापाइया राखिलाम, परजन्मे ताहा सर्वरोध[25] भांगिया द्विगुण वेगे उछलिया आसिबे[26]।

(क्रमशः)

---

[13]द्वन्द्व उत्पन्न किया है। [14]एक ही बात। [15]छिपाकर। [16]बलका अभिमान करनेवाला। [17]नहीं रोकूंगा। [18]सूख नहीं जाती। [19]पत्थर। [20]निर्जीव। [21]हाथ। [22]करें। [23]जमा हुआ। [24]गुप्त रूपसे। [25]सब बाधाओंको। [26](बाढ़की तरह) उफनता हुआ आयेगा।

भागवत मुहूर्त्त (८)--भाग २--योगप्रसंग :

योगका तंतुजाल

(४)

हमारी साधनाके दो उद्देश्य

वही योग सर्वांगीण या पूर्ण है जो हमें इस विश्वमें हमारे भीतर निहित भगवान्के उद्देश्य-को पूर्ण रूपसे संपन्न करनेके योग्य बनाता है।

वह सारा योग जो आत्माको जगत्की सत्तासे बिलकुल बाहर निकाल ले जाता है, दिव्य तपस्याका एक उच्च किंतु संकीर्ण विशेष रूप होता है।

हमारे भीतर भगवान्का उद्देश्य यही है कि लीलाकी आवश्यक शर्त्तोंके अनुसार हम विश्व-चेतनाके अंदर भगवान्के दिव्य स्वरूपको अभिव्यक्त करें।

जहांतक विश्वका संबंध है, भगवान् तीन रूपोंमें अभिव्यक्त होते हैं, व्यष्टिमें, विश्वमें और विश्वातीत सत्तामें।

व्यष्टिमें भगवान्को संसिद्ध करनेके लिये हमें व्यष्टिका अतिक्रमण करना होगा। सीमित अहंभावको दूर कर विश्व-चेतनाको प्राप्त करना हमारी साधनाका पहला उद्देश्य है।

विश्वमें भगवान्को संसिद्ध करनेके लिये हमें व्यक्तिगत रूपमें विश्वका अतिक्रमण करना होगा। विश्वातीत चेतनामें आरोहण करना हमारी साधनाका दूसरा उद्देश्य है।

हमारे योगका उद्देश्य

हमारे योगका उद्देश्य है आत्म-परिपूर्णता न कि आत्म-विलोपन।

योगीके लिये दो पथ निर्दिष्ट हैं; विश्वसे निवृत्ति और विश्वमें आत्म-परिपूर्णता; पहला संन्यासके द्वारा प्राप्त होता है और दूसरा साधित होता है तपस्याके द्वारा। पहला हमारा स्वागत तब करता है जब हम विश्वमें भगवान्को खो देते हैं, दूसरेकी प्राप्ति तब होती है जब हम विश्वको भगवान्में पूर्ण बनाते हैं। आओ, हम पूर्णत्वका मार्ग ग्रहण करें, संन्यासका नहीं; हमारा लक्ष्य युद्धमें विजय प्राप्त करना हो, न कि सब प्रकारके संघर्षसे दूर भागना।

बुद्ध और शंकरने जगत् को मूलतः मिथ्या और दुःखमय माना था; अतएव जगत्से छुटकारा

पाना ही उनके लिये एकमात्र बुद्धिमानी थी। किंतु यह जगत् व्रह्म है, जगत् ईश्वर है, जगत् सत्य है, जगत् आनंद है; जो कुछ मिथ्या है वह है मानसिक अहंभावके द्वारा हमारा जगत्को भ्रांत रूपमें देखना-समझना, और जगत्में भगवान्के साथ हमारा गलत संबंध ही है दुःख-दैन्य। न तो और कुछ मिथ्या है, न और कोई दुःखका कारण।

भगवान्ने स्वयं अपने अंदर मायाके द्वारा जगत्की सृष्टि की; किंतु मायाका वैदिक अर्थ भ्रम नहीं है, वल्कि उसका अर्थ है बुद्धि, ज्ञान, सामर्थ्य, चेतनामें विशाल विस्तीर्णता, **'प्रज्ञा प्रसृता पुराणी'**। सर्वसमर्थ ज्ञानने जगत्को उत्पन्न किया, वह किसी अनंत स्वप्नद्रष्टाकी सुव्यवस्थित भूल नहीं है; सर्वज्ञानमयी शक्ति उसे अपने निजी आनंदके लिये स्वयं अपने अंदर प्रकट करती या छिपा लेती है, वह मुक्त और पूर्ण व्रह्मपर उसके अपने ही अज्ञानके द्वारा आरोपित कोई बंधन नहीं है।

यदि जगत् व्रह्मके द्वारा स्वयं अपने ऊपर आरोपित दुःस्वप्न होता तो उससे जाग उठना ही हमारे सर्वोच्च प्रयत्नका स्वाभाविक और एकमात्र लक्ष्य होता; अथवा जागतिक जीवन अनिवार्यतः दुःखसे बंधा होता तो इस बंधनसे छुटकारा पानेका साधन ही खोजनेयोग्य एकमात्र रहस्य होता। किंतु जागतिक जीवनमें पूर्ण सत्यको प्राप्त करना संभव है; क्योंकि यहां भगवान् सब वस्तुओंको सत्यकी आंखसे देखते हैं, और फिर जगत्में पूर्ण आनंद पाना संभव है; क्योंकि भगवान् विशुद्ध स्वतंत्रताकी भावनाके साथ सभी वस्तुओंका उपभोग करते हैं। यदि हम अपनी अहंभावात्मक सत्ताको भगवान्की सत्ताके साथ पूर्ण एकत्वमें निमज्जित कर भागवत दृष्टि और भागवत स्वातंत्र्यको ग्रहण करना स्वीकार करें तो हम भी इस सत्य और आनंदका, जिसे वेदने **'अमृतम्'**, अमरता कहा है, उपभोग कर सकते हैं।

जगत् भगवान्की अपनी सत्तामें होनेवाली उन्हींकी एक क्रिया है; हम दिव्य चेतनाके केंद्र और ग्रंथियां हैं जो सब मिलकर भागवत क्रियाकी पद्धतियोंको घटित और धारण करते हैं। यह जगत् स्वयं भगवान्के निजी आत्म-चेतन आनंदके साथ उनकी एक क्रीड़ा है—उन भगवान्की क्रीड़ा है जिनका ही एकमात्र अस्तित्व है, जो अनंत, मुक्त और पूर्ण हैं। हम उस सचेतन आनंदके स्वयं-कृत 'बहु'रूप हैं और भगवान्के क्रीड़ा-सहचर बननेके लिये ही अस्तित्वमें लाये गये हैं।

यह जगत् एक सूत्र, एक छंद, एक प्रतीक-प्रणाली है जो भगवान्को उनकी अपनी चेतनामें स्वयं उनके लिये ही प्रकट करती है—जगत्की कोई भौतिक सत्ता नहीं है, किंतु केवल उनकी चेतना और आत्माभिव्यक्तिमें उसका अस्तित्व है; हम भी भगवान्की तरह अपनी आंतरिक सत्तामें वही सद्वस्तु हैं जो अभिव्यक्त हुई है, किंतु अपनी वाह्य सत्तामें उस सूत्रके शब्द, उस छंदके स्वर, उस प्रणालीके प्रतीक हैं। आओ, हम भगवान्की क्रियाको आगे बढ़ायें, उनकी लीलाको संपन्न करें, उनके सूत्रको क्रियान्वित करें, उनके सामंजस्यको सम्पादित करें, उनकी प्रणालीमें अपने द्वारा उनको अभिव्यक्त करें। यही हमारा आनंद और हमारी आत्म-

परिपूर्णता है; इसी उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये हम, जो विश्वसे अतीत और श्रेष्ठ हैं, विश्व-सत्तामें प्रविष्ट हुए हैं।

पूर्णत्वको साधित करना होगा, सामंजस्यको संसिद्ध करना होगा। अपूर्णता, ससीमता, मृत्यु, शोक, अज्ञान, जड़तत्त्व—ये सव तो इस सूत्रके आरंभिक पदमात्र हैं—ये तबतक समझमें नहीं आ सकते जबतक कि हम विशालतर पदोंको कार्यान्वित न कर लें तथा सूत्रसमूहकी पुनर्व्याख्या न कर लें; ये संगीतज्ञके स्वर मिलानेके समयके प्रारंभिक बेमेल स्वर हैं। अपूर्णतामेंसे हमें पूर्णताका निर्माण करना होगा, ससीमतामेंसे अनंतताको ढूंढ़ निकालना होगा, मृत्युमेंसे अमरत्वको प्राप्त करना होगा, शोकमेंसे दिव्य आनंदको खोज लेना होगा, अज्ञानमेंसे दिव्य आत्म-ज्ञानका उद्धार करना होगा, जड़तत्त्वमेंसे आत्माको प्रकट करना होगा। इसी उद्देश्यको अपने लिये और मनुष्यजातिके लिये सिद्ध करना हमारे योगाभ्यासका लक्ष्य है।

पुरुष और प्रकृति

जिस आत्माको हमें पूर्ण वनाना है वह न तो जीवात्मा है जो नित्य-पूर्ण है, न अहंभाव है जो अपूर्णताका कारण है, वल्कि वह तो है प्रकृतिकी गतिशील धारामें अभिव्यक्त दिव्य आत्मा।

सत्ताका गठन पुरुष और प्रकृतिसे, दो चेतनाओंसे हुआ है जिनमेंसे एक तो देखती है और दूसरी हमारी देखी वस्तुको कार्यान्वित और मूर्त्तिमान् करती है। एकको हम अंतरात्मा या जीव कहते हैं और दूसरीको प्रकृति। ये ही वे दो प्रथम तत्त्व हैं जिनसे हमारा योग आरंभ होना चाहिये। जव हम वाहर जगत्की ओर न देख भीतर अपनी ओर देखने तथा अपने आत्मगत अनुभवका विश्लेषण करने लगते हैं, तव हम देखते हैं कि हमारी सत्ताके दो अंग हैं जो, जहांतक हम देख सकते हैं, एक-दूसरेसे विलकुल अलग किये जा सकते हैं; एक तो है वह चेतना जो स्थिर और निष्क्रिय है तथा धारण करती है, और दूसरी वह है जो कर्मरत और सर्जनशील है तथा धारण की जाती है। निष्क्रिय और मूलभूत चेतना है आत्मा, पुरुष, द्रष्टा या साक्षी; उस चेतनाके ऊपर निर्मित सक्रिय चेतना है प्रकृति, साक्षीकी क्रियात्मिका या सृजनात्मिका शक्ति। किंतु सर्वप्रथम दोनों एक-दूसरेसे पृथक् और भिन्न दिखायी पड़ते हैं, मानो उन दोनोंका एक-दूसरेमें कोई हिस्सा न हो।

पुरुष और प्रकृति, दो तत्त्वोंसे द्वैतवादी सांख्य सिद्धांतकी रचना हुई है—जो कुछ प्रकृति उत्पन्न करना पसंद करती है उसका निश्चल और मौन साक्षी है पुरुष, जो प्रकृतिके कार्योंमें हस्तक्षेप नहीं करता, किंतु जिन नाम-रूप-क्रियाओंको वह पुरुषकी शाश्वत सत्ताके स्वच्छ दर्पण-पर निक्षिप्त करती है उन्हें केवल प्रतिविंवित करता है; और प्रकृति है वह शक्ति जो पुरुषके आनंदके लिये अविश्रांत भावसे सृष्टि करती, कार्य करती, निर्माण करती और वस्तुओंको कार्यान्वित करती है। किंतु जैसे-जैसे हम उन दोनोंके संबंधोंका विश्लेषण करते हैं और अपने आंतरिक जीवनका अनुभव अधिकाधिक एकत्र करते हैं, वैसे-वैसे हमें पता चलता है कि पुरुषका

यह साक्षित्व वस्तुतः एक आदेश होता है। जिस वस्तुके भी विषयमें प्रकृति यह देखती है कि उसे देखनेमें पुरुषको आनंद है उसीको वह पुरुषके आंतरिक अनुभवमें सुरक्षित रखने या स्थापित करनेमें प्रवृत्त होती है; जिस वस्तुके संबंधमें वह यह देखती है कि उसे देखना बंद कर देनेमें ही पुरुषको आनंद है, उसका परित्याग और अंत कर देनेकी उसकी प्रवृत्ति होती है। प्रकृतिमें विद्यमान जिस वस्तुको भी पुरुषकी अनुमति प्राप्त होती है उस वस्तुको वह पुरुषपर बलपूर्वक आरोपित करती है और अपने प्रभुत्व तथा पुरुषकी वशवर्तितासे प्रसन्न होती है; किंतु जब कभी पुरुष आग्रह करता है तब अंतमें वह उसकी आज्ञा माननेके लिये विवश होती है। पहले अपने व्यक्तिगत आंतर अनुभवमें सत्य पाये गये वस्तुओंके इस अंतिम सिद्धांतके बारेमें योगीको अंतमें यह पता चलता है कि यही सिद्धांत बाह्य घटनाओंको भी निर्धारित करता है। अतएव पुरुष और प्रकृति न केवल साक्षी और साक्षीद्वारा दृष्ट कार्यकारिता हैं, बल्कि वे प्रभु और उसकी कार्यकारिणी शक्ति भी हैं। पुरुष ईश्वर है, प्रकृति उसकी शक्ति है। उनकी पारस्परिक क्रीड़ा ही विश्वमें सत्तामात्रका कारण और कार्यकारिणी शक्ति दोनों है।

—श्रीअरविंद

(क्रमशः)

लिखना और पढ़ना मनको तल्लीन कर देते हैं और उसे आकृतियों और प्रभावोंसे भर देते हैं; यदि वे आकृतियां और प्रभाव ठीक प्रकारके न हों तो मनुष्य स्वभावतः ही सत्य-चेतनासे विमुख हो जाता है। यदि किसीके अंदर सत्य-चेतना अच्छी तरह पहले स्थापित हो जाय तो ही वह चाहे जो कोई चीज उस चेतनाको खोये बिना अथवा अन्य कोई हानि उठाये बिना पढ़ या लिख सकता है।

१७. ५. १९३४

*

तुम्हें इस (कामवासना, दुश्चिंता और संघर्ष) को अपनी भौतिक सत्तासे अथवा कम-से-कम जागृत भौतिक सत्तासे बाहर फेंक देना होगा। तब स्वप्नोंका मूल्य बहुत कम हो जायगा और उनके साथ अधिक आसानीसे निपटा जा सकेगा।

१७. ५. १९३४

—श्रीअरविंद

धम्मपदं

(१)

यमकवग्गो

[कुछ समय पहले श्रीमाताजी अपने स्कूलके छात्रोंको फ्रेंच भाषाकी कुछ पुस्तकें पढ़कर सुनाया करती थीं। एक समय उन्होंने 'धम्मपद' का अनुवाद पढ़ा। उन्होंने कहा: "मैं प्रत्येक शुक्रवारको 'धम्मपद' के कुछ श्लोकोंको पढ़ूंगी और फिर उसपर हम लोग ध्यान करेंगे। इससे तुम लोगोंको अपने मनको संयमित करनेकी शिक्षा मिलेगी। यदि मैं आवश्यकता समझूंगी तो व्याख्या भी करूंगी।"

श्रीमांके इन प्रवचनोंको श्रीनलिनीकांत गुप्तने अंगरेजीमें संकलित किया है। ये 'एडवेंट' पत्रिकामें संपादकीय लेखके रूपमें क्रमशः प्रकाशित हो रहे हैं। हम इन्हीं अंगरेजी लेखोंका अनुवाद 'अदिति सह भारतमाता' के पाठकोंके लाभार्थ धारावाहिक छापना आरंभ कर रहे हैं। सायमें हम मूल पाली श्लोकोंको भी दे रहे हैं। इन्हें हमने महापंडित राहुल सांस्कृत्यायनकी पुस्तक 'धम्मपद' से लिया है। हम इन दोनों विद्वान् लेखकोंके कृतज्ञ हैं। –सं.]

मनोपूब्बङ्गया धम्मा मनोसेट्ठा मनोमयाः।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो 'नं दुक्खमन्वेति चक्कं ' व वहतो पदं॥१॥

सभी धर्मों (सब प्रकारकी क्रियाओं) में मन सर्वप्रथम है, मन (उन सबसे) श्रेष्ठ है, (वे सब) मनोमय हैं अर्थात् उन सबमें मन प्रविष्ट है। यदि कोई दुष्ट मनसे बोलता या कार्य करता है तो दुःख उसका वैसे ही पीछा करता है जैसे कि गाड़ीका पहिया बैलोंके पैरोंका पीछा करता है। ॥१॥

स्वभावतः ही यहां प्रश्न भौतिक जीवनका है, विश्वका कोई प्रश्न नहीं है।

वर्तमान संसारमें मनुष्यका साधारण जीवन अभी जैसा है वह मनके द्वारा शासित है; अतएव सबसे अधिक महत्त्वकी बात है अपने मनको संयमित करना। अतः अपने मनको

विकसित और संयमित करनेके लिये हम एक क्रमबद्ध साधनाका अनुसरण करेंगे जिसका वर्णन 'धम्मपद'के इन सूत्रोंमें किया गया है।

चार क्रियाएं हैं जो सामान्यतया क्रमशः एकके बाद एक आती हैं पर जो अंतमें चलकर एक साथ भी की जा सकती हैं। उनमेंसे पहली है अपने विचारोंका अवलोकन करना, दूसरी है सतर्कतापूर्वक उनकी चौकसी रखना, तीसरी है अपने विचारोंको संयमित करना और चौथी है अपने विचारोंपर अधिकार जमाना। देखना, चौकसी रखना, संयमित करना और अधिकृत करना—यह सब हमें एक दुष्ट या पथभ्रष्ट मनसे मुक्त होनेके लिये करना होगा, क्योंकि यह कहा गया है कि जो मनुष्य एक सदोष मनसे बोलता या कार्य करता है उसका पीछा दुःख वैसे ही पास-पास रहकर करता है जैसे पहिया गाड़ी या हल खींचनेवाले बैलोंके खुरोंका पीछा करता है।

यही हमारा पहला ध्यान है।

*

मनो पुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा।
ततो 'नं सुखमन्वेति छाया' व अनपायिनी ॥२॥

सभी धर्मों (सब प्रकारकी क्रियाओं) में मन सर्वप्रथम है, मन (उन सबसे) श्रेष्ठ है, (वे सब) मनोमय हैं अर्थात् उन सबमें मन प्रविष्ट है। यदि कोई स्वच्छ मनसे बोलता या कार्य करता है तो सुख उसका वैसे ही अनुसरण करता है जैसे कभी साथ न छोड़नेवाली छाया मनुष्यका अनुसरण करती है ॥२॥

यह पहले सूत्रका ही परिपूरक अंश है। धम्मपद स्वच्छ मनको दूषित मनके विरोधमें रखता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि मनको शुद्ध करनेकी प्रक्रियाके चार क्रमबद्ध स्तर हैं। शुद्ध या स्वच्छ मन स्वभावतः ही एक ऐसा मन होता है जो किसी बुरे विचारको अपने अंदर नहीं आने देता, और हमने यह देखा है कि इस परिणामको प्राप्त करनेके लिये विचारोंपर प्राप्त जिस पूर्ण प्रभुत्वकी आवश्यकता है वह मेरे बताये हुए चारों स्तरोंके अंतमें प्राप्त होता है। उनमें पहला है : अपने विचारोंको देखना।

ऐसा न मान बैठो कि यह बड़ा आसान है, क्योंकि अपने विचारोंको देखनेके लिये तुम्हें सबसे पहले अपने-आपको उनसे पृथक् करना होगा। साधारण अवस्थामें, साधारण मनुष्य अपनेको अपने विचारोंसे भिन्न नहीं देखता। वह यह भी नहीं जानता कि वह सोचता है। वह अभ्यासवश सोचता है। और, यदि एकाएक उससे यह पूछा जाय, "तुम किस बातको सोचते हो ?", तो वह इस विषयमें कुछ नहीं जानता। कहनेका मतलब, १०० में ९५ बार तो वह यही उत्तर देगा, "मैं नहीं जानता।" इस स्थितिमें चिंतनकी क्रिया और मनुष्यकी चेतनाके बीच एक प्रकारका पूर्ण तादात्म्य होता है।

यदि विचारोंको देखना हो तो पहली क्रिया होगी अपनेको पृथक् करनेकी और उनकी ओर देखनेकी, अपने विचारोंसे अपने-आपको विलग करनेकी जिसमें कि चेतनाकी क्रिया और चिंतन-की क्रिया परस्पर उलझी हुई और अस्पष्ट न हों। अतएव जब हम यह कहते हैं कि हमें अपने विचारोंको देखना चाहिये तब यह विश्वास न कर लो कि यह बड़ा सरल है; यह सबसे पहला पग है। मेरा प्रस्ताव है कि आज शामको अपने ध्यानके समय हम इसीका अभ्यास करें अर्थात् अपने-आपको अपने विचारोंसे पृथक् करके उनकी ओर ताकनेका प्रयत्न करें।

*

अकोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति ॥३॥

"मेरी निंदा की", "मुझे मारा", "मुझे पराजित किया", "मुझे लूट लिया"—जो ऐसे विचारोंको मनमें पालते हैं उनका वैर कभी शांत नहीं होता ॥३॥

'धम्मपद' सबसे पहले यह कहता है कि बुरे विचारोंके कारण दुःख प्राप्त होता है और अच्छे विचारोंके कारण सुख। अब वह बुरे विचारोंके उदाहरण देता है और कहता है कि दुःखसे कैसे बचा जा सकता है। यह है पहला उदाहरण, मैं दुहराती हूं: "मेरी निंदा की, मुझे मारा, मुझे हराया, मुझे लूट लिया;" और फिर वह कहता है: "जो लोग ऐसे विचारोंका पोषण करते हैं उनका वैर कभी शांत नहीं हो सकता।"

हमने अपने मानसिक अभ्यासका आरंभ किया है और इसके लिये मानसिक विकासके क्रम-बद्ध स्तरोंको अपना आधार बनाया है: हमने यह देखा है कि इस साधनामें एकके बाद एक क्रमसे आनेवाली चार क्रियाएं हैं जिनका हमने वर्णन किया है और निश्चय ही तुम्हें वे याद होंगी: देखना, चौकसी करना, संयमित करना और प्रभुत्व स्थापित करना। और अपने पिछले पाठमें—मुझे ऐसी आशा है—हमने यह सीखा है कि अपने विचारोंसे अपनेको कैसे पृथक् करें जिसमें कि एक सतर्क द्रष्टाकी तरह हम उन्हें देख सकें।

आज हम लोग यह सीखेंगे कि इन विचारोंपर चौकसी कैसे रखी जाय। सबसे पहले तुम उनकी ओर ताको और फिर उनकी निगरानी करो। हम एक ज्ञानवान् जजकी तरह उनको ध्यानपूर्वक देखना सीखते हैं जिसमें कि हम अच्छे और बुरे विचारोंके बीच, लाभदायी और हानिकारक विचारोंके बीच, विजयकी ओर ले जानेवाले रचनात्मक विचारों और विजयसे दूर ले जानेवाले पराजयवादी विचारोंके बीच विभेद कर सकें। यही वह विवेक-शक्ति है जिसे हमें अब अवश्य प्राप्त करना चाहिये, यही आज रातके हमारे ध्यानका विषय होगा।

जैसा कि मैं तुमसे कह चुकी हूं, 'धम्मपद' हमें उदाहरण देगा, पर उदाहरण तो उदाहरण ही हैं। हमें स्वयं यह सीखना होगा कि अच्छे विचारोंको हम बुरे विचारोंसे अलग कैसे कर

सकते हैं, और इसके लिये, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, तुम्हें एक ज्ञानवान् जजकी तरह ध्यान-पूर्वक देखना होगा—अर्थात् जितना अधिक संभव हो उतना अधिक पक्षपातशून्य होकर देखना होगा। यह एक अनिवार्य शर्त्त है।

*

अकोच्छि मं अबाध मं अजनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति ॥४॥

'मेरी निंदा की', 'मुझे मारा', मुझे हरा दिया', 'मुझे लूट लिया'—जो लोग ऐसे विचार मनमें नहीं रखते उनका वैर शांत हो जाता है ॥४॥

हमने ऊपर जो पढ़ा है उसीका यह परिपूरक अंश है। यहांपर प्रश्न केवल उन विचारोंका ही नहीं है जो घृणा उत्पन्न करते हैं। क्योंकि, ईर्ष्याके साथ-साथ, घृणा भी उन चीजोंमेंसे एक चीज है जो मानवी विपदाके अत्यंत व्यापक कारण हैं।

परंतु घृणा कैसे न रखी जाय? एक विशाल और एक उदार हृदय ही वास्तवमें इसका सबसे अच्छा साधन है, परंतु इसे प्राप्त करना सबकी पहुंचके भीतर नहीं है। अपने विचारों-को संयमित करना संभवतः कहीं अधिक लोगोंके लिये व्यवहार्य हो सकता है।

विचारोंको संयमित करना हमारी मानसिक साधनाका तीसरा पग है: एक बार जब हमारी चेतनाके ज्ञानी जजने उपयोगी और हानिकारक विचारोंके बीच विभेद कर लिया है तब हमारा आंतरिक पहरुआ सामने आ जायगा और केवल स्वीकृत विचारोंको ही गुजरने देगा और बड़ी कड़ाईके साथ सभी अवांछित विचारोंका प्रवेश निषिद्ध कर देगा।

खूब शानदार अदासे हमारा पहरेदार प्रत्येक बुरे विचारका प्रवेश बंद कर देगा और उसे यथासंभव अधिक से अधिक दूर धकेल देगा।

स्वीकार करने या अस्वीकार करनेकी इस क्रियाको ही हम विचारोंका संयम कहते हैं और आज रातके लिये हमारे ध्यानका यही विषय होगा।

*

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तो ॥५॥

यहां (इस संसारमें) वैरसे वैर कभी शांत नहीं होता, अवैरसे ही शांत होता है, यही सनातन धर्म है ॥५॥

यह 'धम्मपद' का एक अत्यंत प्रसिद्ध श्लोक है, उनमेंसे एक है जो बहुत अधिक उद्धृत किये जाते हैं—मैं बल्कि कहीं अधिक पसंद करती यदि मैं कह सकती कि "जगत्‌में सबसे अधिक अनुसृत" श्लोक हैं, परंतु दुर्भाग्यवश यह बात सच्ची नहीं होगी। क्योंकि लोग इस शिक्षाके विषयमें बातें तो बहुत करते हैं पर इसका पालन नहीं करते।

फिर भी इस समस्याका एक पहलू ऐसा है जिसकी चर्चा कम की जाती है पर जो है अधिक आवश्यक, यदि तुम चाहो कि जगत्‌की चीजोंमें परिवर्तन आवे; वह चीज ऐसी है जिसकी ओर लोग बहुत कम ध्यान देते हैं। मैं तुम लोगोंको आश्चर्यमें डाल दूंगी। वह यह है: यदि प्रेम घृणाका उत्तर दे जिसमें कि संसार परिवर्त्तित हो सके तो क्या यह बात कहीं अधिक स्वाभाविक नहीं होगी कि प्रेम भागवत प्रेमको उत्तर दे?

मनुष्योंका जीवन, कर्म और हृदय आज जैसे हैं उन्हें यदि कोई देखे तो उसे उस सब घृणा, अवज्ञा, अथवा अधिकसे अधिक, उदासीनताको देखकर उचित रूपमें ही आश्चर्य होगा जो इस असीम भागवत प्रेमका उत्तर देती हैं—उस भागवत प्रेमको उत्तर देती हैं जो संसारको भागवत आनंदकी ओर ले जानेके लिये यहां प्रत्येक क्षण कार्य कर रहा है और जिसे मानव हृदयमें इतना कम प्रत्युत्तर मिलता है। परंतु लोग दया दिखाते हैं केवल दुष्टोंके प्रति, अधूरोंके प्रति, अवांछनीयोंके प्रति, सूखे और सड़े फलोंके प्रति—वास्तवमें इससे दुष्टता और असफलताको एक प्रकारका बढ़ावा मिलता है।

यदि कोई समस्याके इस पहलूपर थोड़ा अधिक विचार करे तो शायद उसे घृणाका उत्तर प्रेमसे देनेकी आवश्यकतापर अधिक बल देनेकी जरूरत कम होगी, क्योंकि यदि मानवहृदय उसके अंदर निरंतर उंडेले जानेवाले भागवत प्रेमका प्रत्युत्तर संपूर्ण सच्चाईके साथ, समझनेवाले और मूल्य आंकनेवाले हृदयकी स्वाभाविक कृतज्ञताके साथ देता तो जगत्‌में चीजें बड़ी तेजीसे बदलने लगतीं।

*

परे च न विजानन्ति मयमेत्थ यमामसे।
ये च तत्थ विजानन्ति ततो सम्मन्ति मेधगा॥६॥

अन्य लोग नहीं जानते कि हम यहां (संसार) से जानेवाले हैं। जो लोग इसे जानते हैं उनके मनके विकार शांत हो जाते हैं॥६॥

जब तुम यह समझते हो कि दूसरे ही मुहूर्त्त तुम मर सकते हो, तो तुरत ही तुम्हारे अंदर भौतिक वस्तुओंके प्रति अनासक्तिका भाव उदय हो जाता है; यह बिलकुल युक्तिसंगत बात है कि उसके बाद तुम केवल उसी बातका विचार करते हो जो इस भौतिक जीवनपर निर्भर नहीं करती और जो एकमात्र वही चीज है जो इस शरीरको छोड़ देनेके बाद अभी भी

सकते हैं, और इसके लिये, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, तुम्हें एक ज्ञानवान् जजकी तरह ध्यान-पूर्वक देखना होगा—अर्थात् जितना अधिक संभव हो उतना अधिक पक्षपातशून्य होकर देखना होगा। यह एक अनिवार्य शर्त्त है।

*

अकोच्छि मं अबाध मं अजनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति ॥४॥

'मेरी निंदा की', 'मुझे मारा', मुझे हरा दिया', 'मुझे लूट लिया'—जो लोग ऐसे विचार मनमें नहीं रखते उनका वैर शांत हो जाता है ॥४॥

हमने ऊपर जो पढ़ा है उसीका यह परिपूरक अंश है। यहांपर प्रश्न केवल उन विचारोंका ही नहीं है जो घृणा उत्पन्न करते हैं। क्योंकि, ईर्ष्याके साथ-साथ, घृणा भी उन चीजोंमेंसे एक चीज है जो मानवी विपदाके अत्यंत व्यापक कारण हैं।

परंतु घृणा कैसे न रखी जाय? एक विशाल और एक उदार हृदय ही वास्तवमें इसका सबसे अच्छा साधन है, परंतु इसे प्राप्त करना सबकी पहुंचके भीतर नहीं है। अपने विचारें-को संयमित करना संभवतः कहीं अधिक लोगोंके लिये व्यवहार्य हो सकता है।

विचारोंको संयमित करना हमारी मानसिक साधनाका तीसरा पग है: एक वार जब हमारी चेतनाके ज्ञानी जजने उपयोगी और हानिकारक विचारोंके बीच विभेद कर लिया है तब हमारा आंतरिक पहरुआ सामने आ जायगा और केवल स्वीकृत विचारोंको ही गुजरने देगा और बड़ी कड़ाईके साथ सभी अवांछित विचारोंका प्रवेश निषिद्ध कर देगा।

खूब शानदार अदासे हमारा पहरेदार प्रत्येक बुरे विचारका प्रवेश बंद कर देगा और उसे यथासंभव अधिक से अधिक दूर धकेल देगा।

स्वीकार करने या अस्वीकार करनेकी इस क्रियाको ही हम विचारोंका संयम कहते हैं और आज रातके लिये हमारे ध्यानका यही विषय होगा।

*

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तो ॥५॥

यहां (इस संसारमें) वैरसे वैर कभी शांत नहीं होता, अवैरसे ही शांत होता है, यही सनातन धर्म है ॥५॥

यह 'धम्मपद' का एक अत्यंत प्रसिद्ध श्लोक है, उनमेंसे एक है जो वहुत अधिक उद्धृत किये जाते हैं—मैं वल्कि कहीं अधिक पसंद करती यदि मैं कह सकती कि "जगत्में सवसे अधिक अनुसृत" श्लोक हैं, परंतु दुर्भाग्यवश यह वात सच्ची नहीं होगी। क्योंकि लोग इस शिक्षाके विषयमें वातें तो वहुत करते हैं पर इसका पालन नहीं करते।

फिर भी इस समस्याका एक पहलू ऐसा है जिसकी चर्चा कम की जाती है पर जो है अधिक आवश्यक, यदि तुम चाहो कि जगत्की चीजोंमें परिवर्तन आवे; वह चीज ऐसी है जिसकी ओर लोग वहुत कम ध्यान देते हैं। मैं तुम लोगोंको आश्चर्यमें डाल दूंगी। वह यह है: यदि प्रेम घृणाका उत्तर दे जिसमें कि संसार परिवर्तित हो सके तो क्या यह वात कहीं अधिक स्वाभाविक नहीं होगी कि प्रेम भागवत प्रेमको उत्तर दे?

मनुष्योंका जीवन, कर्म और हृदय आज जैसे हैं उन्हें यदि कोई देखे तो उसे उस सव घृणा, अवज्ञा, अथवा अधिकसे अधिक, उदासीनताको देखकर उचित रूपमें ही आश्चर्य होगा जो इस असीम भागवत प्रेमका उत्तर देती हैं—उस भागवत प्रेमको उत्तर देती हैं जो संसारको भागवत आनंदकी ओर ले जानेके लिये यहां प्रत्येक क्षण कार्य कर रहा है और जिसे मानव हृदयमें इतना कम प्रत्युत्तर मिलता है। परंतु लोग दया दिखाते हैं केवल दुष्टोंके प्रति, अधूरोंके प्रति, अवांछनीयोंके प्रति, सूखे और सड़े फलोंके प्रति—वास्तवमें इससे दुष्टता और असफलताको एक प्रकारका वढ़ावा मिलता है।

यदि कोई समस्याके इस पहलूपर थोड़ा अधिक विचार करे तो शायद उसे घृणाका उत्तर प्रेमसे देनेकी आवश्यकतापर अधिक वल देनेकी जरूरत कम होगी, क्योंकि यदि मानवहृदय उसके अंदर निरंतर उंडेले जानेवाले भागवत प्रेमका प्रत्युत्तर संपूर्ण सच्चाईके साथ, समझनेवाले और मूल्य आंकनेवाले हृदयकी स्वाभाविक कृतज्ञताके साथ देता तो जगत्में चीजें वड़ी तेजीसे वदलने लगतीं।

*

परे च न विजानन्ति मयमेत्थ यमामसे।
ये च तत्थ विजानन्ति ततो सम्मन्ति मेधगा॥६॥

अन्य लोग नहीं जानते कि हम यहां (संसार) से जानेवाले हैं। जो लोग इसे जानते हैं उनके मनके विकार शांत हो जाते हैं॥६॥

जव तुम यह समझते हो कि दूसरे ही मुहूर्त्त तुम मर सकते हो, तो तुरत ही तुम्हारे अंदर भौतिक वस्तुओंके प्रति अनासक्तिका भाव उदय हो जाता है; यह विलकुल युक्तिसंगत वात है कि उसके वाद तुम केवल उसी वातका विचार करते हो जो इस भौतिक जीवनपर निर्भर नहीं करती और जो एकमात्र वही चीज है जो इस शरीरको छोड़ देनेके वाद अभी भी

तुम्हारी है, अर्थात् शाश्वत सत्ता है। बुद्ध "भगवान्" शब्दका व्यवहार नहीं करते, पर मूलतः यह वही वस्तु है।

पहले, प्राचीन दीक्षाओंमें यह सोचना कि मैं दूसरे क्षण ही मर सकता हूं, साधनाका एक अंग था। इस साधनाका अनुसरण लोगोंको कुछ समयतक करना पड़ता था और इसका कारण यही था जिसका अभी मैंने वर्णन किया है तथा साथ ही यह भी था कि मनुष्य मृत्युके समस्त भयको पार कर जाय और इस विषयमें अभ्यस्त हो जाय। जिस युगमें और जिस समयपर् बुद्धने धम्मपदकी शिक्षा दी थी उस युगमें और उस समय पार्थिव अमरत्वकी संभावनाकी वात कभी व्यक्त नहीं की गयी थी, क्योंकि यह संभावना इतने सुदूर भविष्यके गर्भमें निहित थी कि उसके विषयमें कुछ कहनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता था।

आज श्रीअरविंद हमसे कहते हैं कि यह संभावना निकट आ गयी है और, वस, हमें इसकी तैयारी करनेकी आवश्यकता है। परंतु तैयार होनेकी संभावनाको भी ले आनेकी प्रधान शर्त्त यह है कि मृत्युके संपूर्ण भयको पूर्णतः निकाल दिया जाय।

तुम्हें न तो इससे डरना चाहिये और न इसकी कामना ही करनी चाहिये।

इससे ऊपर उठ जाओ, एक अखंड साम्यावस्थामें पहुंच जाओ, न तो इससे डरो न इसकी कामना करो।

(क्रमशः)

—*****—

हम निश्चित रूपसे संसारमें एक ऐसी चीज ले आना चाहते हैं जो यहां नहीं है। परंतु हम यदि संसारकी सभी आदतोंको, सभी अभिरुचियोंको तथा समस्त रचनाओंको वनाये रखें तो मैं नहीं समझती कि किस तरह हम गर्त्तसे बाहर निकल सकेंगे और कोई नयी चीज कर सकेंगे।

मेरे बच्चो! मैं तुम्हें वता चुकी हूं, बार-बार सभी स्वरोंमें और सभी तरीकोंसे दुहरा चुकी हूं कि "यदि तुम वास्तवमें यहां रहनेका लाभ उठाना चाहते हो तो वस्तुओंको एक ऐसी नयी आंखसे देखने तथा एक ऐसी नयी समझसे समझनेका प्रयत्न करो जो किसी उच्चतर, किसी गभीरतर, किसी विशालतर, किसी सत्यतर वस्तुपर आधारित है, किसी ऐसी चीजपर आधारित है जो आज नहीं है पर एक दिन होगी। और चूंकि हम इस भविष्यका निर्माण करना चाहते हैं इसीलिये हमने एक विशिष्ट मनोभावको ग्रहण किया है।"

—श्रीमां

चिंतनधारा और सूत्रावली

कुछ वचनोंका स्पष्टीकरण

(६६)

"पाप वह है जो एक समय अपने स्थानपर था, पर उसके बाद भी बने रहनेके कारण वह अनुचित स्थानपर आ गया है; इसके अलावा पाप और कोई चीज नहीं है।"

उदाहरणार्थ, क्या निष्ठुरता कभी अपने स्थानमें रह चुकी है?

बहुत ठीक, तुम्हारा प्रश्न मेरी दृष्टिके सामने आया था, क्योंकि लोगोंके यहांसे आनेवाले सभी प्रश्नोंको मैं ग्रहण करती हूं।

निष्ठुरताके कारण हत्या करना? निर्दयतावश दूसरोंको कष्ट पहुंचाना? और, फिर भी यह भगवान्‌की एक अभिव्यक्ति है, हम सर्वदा बस उसी चीजपर वापस आ जाते हैं, पर ऐसी अभिव्यक्ति है जो ऊपरसे देखनेमें विकृत हो गयी है। क्या तुम कह सकते हो कि उसके मूलमें क्या है?

निष्ठुरता एक ऐसी चीज है जिससे श्रीअरविंदको सबसे अधिक घृणा थी, परंतु वह सदा यही कहते थे कि यह एक तीव्रताकी विकृति है। हम लगभग यह कह सकते हैं कि यह एक तीव्र प्रेमका विकृत रूप है, एक ऐसी चीज है, जो बीचकी अवस्थासे संतुष्ट नहीं है, जो चरमावस्थाओंको चाहती है, और फिर यह उचित सिद्ध होती है।

मैं सर्वदा ही यह जानती थी कि क्रूर-संभोगकी तरह निष्ठुरता भी उग्र, अत्यंत प्रबल संवेदनाकी आवश्यकता है जिसमें कि कुछ न अनुभव करनेवाले तमस्‌की मोटी तहमें प्रवेश किया जा सके—तमस्‌को एक आत्यंतिक अवस्थाकी जरूरत होती है और तभी वह अनुभव कर पाता है। संभवतः इसी दृष्टिसे देखनेपर इसकी व्याख्या मिल सकती है।

परंतु मूलमें बराबर ही एक ऐसी समस्या बनी रह जाती है जिसका समाधान कभी नहीं हुआ है। वह है: "यह ऐसा क्यों हो गया है? कहांसे यह विकृति आयी है? यह सब इतना उलटा क्यों हो गया है?" पीछेकी ओर सुन्दर-सुन्दर चीजें हैं, बहुत तीव्र, अनंततः अधिक शक्तिशाली चीजें हैं जिन्हें हम मनुष्य बर्दाश्त भी नहीं कर सकते, आश्चर्यजनक चीजें हैं, पर फिर भी यह सब यहां ऊपरमें इतना भयावह क्यों बन गया है? यही चीज तुरत मेरे सामने उपस्थित हो गयी जब मैंने इस सूत्रको पढ़ा।

पापकी भावना एक ऐसी चीज है जिसे मैं नहीं समझती और जिसे मैंने कभी नहीं समझा। आदि-पापकी भावना तो मुझे मनुष्यकी जितनी भी भावनाएं हो सकती हैं उन सबमें सबसे अधिक अस्वाभाविक प्रतीत होती है—पापका अस्तित्व मेरी समझमें कभी नहीं आता ! अतएव मैं श्रीअरविंदके साथ पूर्ण सहमत हूं कि पाप नामकी कोई चीज नहीं है, यह मानी हुई बात है पर.....।

कुछ चीजोंको, निष्ठुरता जैसी चीजोंको हम 'पाप' के नामसे पुकार सकते हैं, पर मैं केवल यही व्याख्या देख पाती हूं कि यह एक अत्यंत प्रबल इंद्रियानुभवकी रुचि या आवश्यकताका विकृत रूप है। मैंने निष्ठुर लोगोंमें यह देखा है कि उस मुहूर्तमें उन्हें एक आनंद मिलता है; वे उसके अंदर एक तीव्र हर्षका अनुभव करते हैं; वही चीज इसके औचित्यको प्रमाणित करती है; बस, यह विकृतिकी एक ऐसी स्थितिमें है जो कि घृणित है।

इस भावनाका जहांतक प्रश्न है कि वस्तुएं अपने स्थानमें नहीं हैं, इसे मैंने उस समय ही समझ लिया था जब मैं एक नन्हीं बच्ची थी। केवल इसकी व्याख्याको मैंने बहुत दिनों बाद उस व्यक्तिसे जाना था जिसने मुझे गुह्यविद्याकी शिक्षा दी थी। उन्होंने अपने विश्वतत्त्व-ज्ञानके अनुसार यह समझाया था कि एकके बाद एक विभिन्न विश्वोंका प्रलय हुआ है और प्रत्येक विश्व परात्पर भगवान्‌का एक रूप था जिसमें भगवान् अपनेको व्यक्त कर रहे थे, प्रत्येक विश्व भगवान्‌के एक भावको लेकर निर्मित हुआ था और वे सभी विश्व एक-एक करके भगवान्‌में वापस चले गये (उन्होंने सभी भावोंको गिनकर बताया था जो क्रमशः अभिव्यक्त हुए थे, और एक युक्ति-संगत ढंगसे बताया था ! बड़ी विलक्षण व्याख्या थी वह—मैंने उसे कहीं रखा है, परंतु अब बिलकुल याद नहीं कि कहां रखा है)। और उन्होंने बताया कि इस बार यह (अमुक ठीक-ठीक मुझे याद नहीं कि क्रमपरंपरामें वह कौनसा अंक था) भाव है पर यह एक ऐसा विश्व होगा जो वापस नहीं लौटेगा, बल्कि यह क्रमविकसनशील है, लगभग अनिश्चित कालतक, विकसित होता रहेगा; और यह विश्व एक प्रकारकी साम्यावस्था है, स्थाणु नहीं बल्कि क्रमविकासमान साम्यावस्था है, अर्थात् इसकी प्रत्येक वस्तु ठीक अपने स्थानमें है; प्रत्येक प्रकंपन, प्रत्येक क्रिया अपने स्थानमें है; और जितना ही अधिक हम नीचेकी ओर आते हैं उतना ही अधिक प्रत्येक आकार, प्रत्येक कार्य, प्रत्येक चीज समस्तके संबंधके अनुसार ठीक-ठीक अपने निजी स्थानमें मिलती है।

इस बातने मुझे बहुत आकृष्ट किया, क्योंकि पीछे चलकर श्रीअरविंदने भी यही बात कही कि कोई भी चीज ऐसी नहीं है जो बुरी हो : केवल वस्तुएं अपने स्थानमें, केवल देशकी दृष्टि-से ही नहीं बल्कि कालकी दृष्टिसे भी, अपने स्थानमें नहीं हैं। विश्वमें उनका स्थान, उदा-हरणार्थ, जगतों, तारों आदिका स्थान है; प्रत्येक चीजका ठीक-ठीक अपना स्थान है। और फिर, जब प्रत्येक चीज, महान्‌से महान् चीजसे लेकर तुच्छसे तुच्छ चीजतक ठीक अपने स्थानमें होगी तब 'समग्र' क्रमशः परात्परको अभिव्यक्त करेगा; उस समय फिर एक बार निर्गत होनेके लिये उसे पीछे हटनेकी आवश्यकता न होगी। और इसी बातको आधार बनाकर श्रीअरविंदने इस तथ्यको प्रस्थापित किया कि इसी सृष्टिमें, इसी विश्वमें एक दिव्य जगत्-

की पूर्णता अभिव्यक्त हो सकती है—जिसे श्रीअरविंद अतिमानस कहते हैं। इस सृष्टिका मूल-धर्म है समता और यही कारण है कि अभिव्यक्तिके अंदर पूर्णत्वको प्राप्त किया जा सकता है।

इस संबंधमें एकदम पहली वस्तुएं कौन-कौनसी हैं जिन्हें अतिमानसिक शक्ति हटाना चाहती है, अथवा हटानेकी चेष्टा कर रही है, जिसमें कि प्रत्येक चीज, व्यष्टि रूपमें और समष्टि रूप-में, अपने स्थानमें आ जाय?

हटाना? क्या वह किसी चीजको हटायेगी? यदि हम श्रीअरविंदके विचारको स्वीकार करें तो वह प्रत्येक चीजको उसके स्थानमें रख देगी, बस इतना ही कह सकते हैं।

केवल एक चीज है जिसे अवश्य बंद हो जाना चाहिये और वह है विकृति, अर्थात् सत्यपर पड़ा हुआ मिथ्यात्वका पर्दा, क्योंकि यहां हम जो कुछ देखते हैं उसके लिये बस यही उत्तर-दायी है। यदि वह दूर हो गया तो सारी चीजें ही पूर्ण रूपसे बदल जायेंगी, पूर्ण रूपसे भिन्न बन जायेंगी; वे ठीक वैसी ही बन जायेंगी जैसी कि हम उस चेतनामेंसे बाहर निकल आनेपर उन्हें अनुभव करते हैं। जब तुम इस चेतनासे बाहर निकल आते हो और सत्यकी दिव्य चेतनामें प्रवेश करते हो तो तुम एक ऐसे बिंदुपर पहुंच जाते हो जहांसे तुम यह देखकर चकित हो जाते हो कि दुःख-कष्ट, विपत्ति, मृत्यु आदि चीजोंकी जैसी कोई भी चीज यहां कैसे रह सकती है। यह इस अर्थमें एक तरहका विस्मय है कि मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि यह कैसे हो सकता है—जब वह लुढ़ककर दूसरी ओर चला जाता है। परंतु यह अनुभव साधा-रणतया, जैसा कि हम जानते हैं, जगत्की असत्यताके अनुभवके साथ जुड़ा होता है, परंतु श्रीअरविंद कहते हैं कि जगत्की असत्यताकी यह अनुभूति अतिमानसिक चेतनामें निवास करनेके लिये आवश्यक नहीं है—यह तो केवल मिथ्यात्वकी असत्यता है न कि जगत्की असत्यता। कहनेका तात्पर्य, जगत्की एक अपनी सत्यता है और वह मिथ्यात्वसे एकदम स्वतंत्र है।

मैं समझती हूं कि अतिमानसका प्रथम प्रभाव, व्यक्तिके लिये प्रथम प्रभाव यही है, क्योंकि यह सबसे पहले व्यक्तिसे ही आरंभ होगा।

यह संभव है कि नयी चेतनाकी यह अवस्था स्थायी हो जाय, पर फिर यह समस्या उठती है: उस समय मनुष्य अपनी विकृतिकी अवस्थामें विद्यमान इस जगत्के साथ संपर्क कैसे बनाये रख सकता है? कारण, तब हम एक चीजके विषयमें सचेतन हो जाते हैं: जब यह अवस्था हमारे अन्दर बहुत प्रबल होती है, अत्यंत प्रबल होती है, इतनी प्रबल होती है कि यह ऐसी किसी चीजका मुकाबला कर सकती है जो इसपर बम बरसानेके लिये बाहरसे आये, तब हम यदि लोगोंसे कोई बात कहते हैं तो लोग उसे बिलकुल नहीं समझते, एकदम नहीं समझते; अतएव यह निश्चित रूपसे सभी उपयोगी संपर्कोंको नष्ट कर देता है।

यदि कोई छोटीसी अतिमानसिक सृष्टि, पृथ्वीपर अतिमानसिक शक्तिके विकीर्ण होने और कार्य करनेका एक केंद्र केवल पृथ्वीको ही ले तो वह सृष्टि या केंद्र कैसा होगा? क्या यह संभव है? ..... हम अच्छी तरह एक ऐसे केंद्रकी कल्पना कर सकते ह जो अतिमानसकी

सृष्टि और अतिमानवोंका केंद्र होगा, अर्थात् उन लोगोंका केंद्र होगा जो पहले मनुष्य थे और जो क्रमविकास और रूपांतर (शब्दके एकदम सच्चे अर्थमें) के द्वारा अतिमानसिक शक्तियोंको अभिव्यक्त करनेमें सफल हुए हैं; परंतु अपने मूल रूपमें वे मनुष्य हैं और चूंकि उनका मूल रूप मानवी है इसलिये वहां निश्चित रूपमें एक संपर्क है; यदि प्रत्येक चीज रूपांतरित भी हो गयी है, यदि इंद्रियां बदलकर शक्तिके केंद्र बन गयी हैं तो भी वहां कुछ-न-कुछ मानवीय चीज बनी ही रहती है, एक प्रकारका रंग चढ़नेकी तरह। बस, ये ही लोग, प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार, प्रत्यक्ष अतिमानसिक सृष्टिका रहस्य ढूंढ़ निकालेंगे और लोगोंको साधारण प्रकृतिकी प्रक्रियामेंसे नहीं गुजरना होगा? और उन्हीं लोगोंके द्वारा वास्तवमें अति-मानसिक पुरुष जन्म ग्रहण करेंगे जो निश्चित रूपसे अतिमानसिक जगत्‌में निवास करेंगे। परंतु फिर यह प्रश्न उठता है कि इन पुरुषों और साधारण जगत्‌के बीच किस प्रकार संपर्क स्थापित होगा? हम भला प्रकृतिके रूपांतरकी कल्पना कैसे कर सकते हैं, उस रूपांतरकी जो पृथ्वीपर अतिमानसिक सृष्टि संभव बनानेमें समर्थ है? मैं नहीं जानती।

स्वभावतः ही, जैसा कि हम समझते हैं, ऐसी चीजके घटित होनेके लिये काफी लंबे समय-की आवश्यकता है; और फिर संभवतः इसमें कई स्तर, अवस्थाएं, वस्तुएं होंगी (जिनके विषयमें अभी हम कुछ नहीं जानते अथवा जिनकी कोई धारणा अभी हमें नहीं है) और वे पृथ्वीकी अवस्थाओंमें परिवर्तन लायेंगी—इसका अर्थ है कई हजार वर्ष आगेकी ओर ताकना।

फिर यह समस्या भी अभी बनी हुई है कि क्या देशसंबंधी इस भावनाका—मेरा मतलब है, पृथ्वीके गोलेपर विद्यमान देशकी भावनाका—उपयोग करना संभव है? क्या यह देशसंबंधी यही धारणा है, अर्थात् पार्थिव गोलेपर विद्यमान देशकी धारणा है? क्या कोई एक ऐसा स्थल प्राप्त करना संभव है जहां हम भावी अतिमानसिक जगत्‌के बीज या अंकुरको उत्पन्न कर सकते हैं? योजना पूरे ब्योरेके साथ आयी थी, पर यह ऐसी योजना थी जो अपने आंतरिक भाव और चेतनामें उस चीजसे बिलकुल मेल नहीं खाती थी जो कि पृथ्वीपर अभी संभव है; फिर भी अपनी अत्यंत स्थूल अभिव्यक्तिमें वह पार्थिव अवस्थाओंपर आधारित थी। इस योजनामें एक आदर्श नगर-की कल्पना थी जो एक आदर्श देशका केंद्र या प्रारंभ बिंदु हो और जो बाहरी जगत्‌के साथ एकदम ऊपरी और अपने प्रभावोंमें एकदम सीमित संपर्क रखे। अतएव हम यह भी कल्पना कर सकते हैं—ऐसा करना संभव प्रतीत होता है—कि एक ऐसी शक्ति भी होगी जो साथ-ही-साथ किसी आक्रमण या अशुभ इच्छाके विरुद्ध तथा किसी चीजके घुस आनेपर और मिलजुल जानेके विरुद्ध संरक्षण प्रदान करनेके लिये पर्याप्त प्रबल होगी (ऐसा संरक्षण प्राप्त करना अत्यंत कठिन नहीं होगा)। परंतु ऐसी कल्पना हम कर सकते हैं यदि वह एकदम आव-श्यक हो। सामाजिक दृष्टिसे, संगठनकी दृष्टिसे, आंतरिक जीवनकी दृष्टिसे ये सब समस्याएं नहीं उठतीं। समस्या तो है वह संबंध जो उन लोगोंके साथ होगा जो अभी अतिमानसभावा-पन्न नहीं हुए हैं, समस्या है ऐसे लोगोंके घुस आनेकी, उनके आकर मिलजुल जानेकी, अर्थात् केंद्रको निम्न प्रकारकी सृष्टि बन जानेसे रोकनेकी—प्रश्न है संक्रमण कालके विषयमें।

जिन लोगोंने इस समस्यापर विचार किया है उन सबने सर्वदा एक ऐसी चीजकी कल्पना

की है जो बाकी मनुष्यजातिके लिये अपरिचित है, उदाहरणार्थ, हिमालयमें विद्यमान एक तंग घाटीकी तरहकी चीज, एक ऐसा स्थान जिसका पता बाकी संसारको न हो। परंतु यह कोई समाधान नहीं है; यह बिलकुल ही कोई समाधान नहीं है।

ना, एकमात्र समाधान है गुह्यशक्ति, परंतु उसका अर्थ है कि कोई भी चीज हो सकनेसे पूर्व कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होने चाहियें जो सिद्धिकी एक महान् पूर्णताको पहुंच चुके हों। परंतु हम यदि इसकी कल्पना कर सकें तो यह तभी किया जा सकता है जब हमें बाह्य जगत्के बीच ऐसा एक स्थान प्राप्त हो सके जो एकदम पृथक् हो (यह मानी हुई बात है कि दूसरोंके साथ उसका कोई संपर्क न हो), एक उदाहरणके रूपमें कहें तो वह स्थान ऐसा हो जहां प्रत्येक चीज ठीक अपने स्थानमें हो। प्रत्येक चीज ठीक अपने स्थानमें हो, प्रत्येक व्यक्ति एकदम अपने स्थानमें हो, प्रत्येक क्रिया और गति ठीक-ठीक अपने स्थानमें हो—और एक उत्तरोत्तर ऊपर उठनेवाली गतिके अंदर ठीक अपने स्थानमें हो और वहांसे उसका पतन न हो (साधारण जीवनमें होनेवाली बातके एकदम विपरीत)। स्वभावतः ही इसका अर्थ है कि वहां पहलेसे एक प्रकारकी पूर्णता हो, फिर उससे भी पूर्व एक प्रकारकी एकता हो, और फिर उससे भी पहले परात्परके विभिन्न रूपोंकी अभिव्यक्ति होनी चाहिये; और आवश्यक रूपसे एक अद्‌भुत सौन्दर्य, एक सर्वांगपूर्ण सामंजस्य तथा प्रकृतिकी शक्तियोंको धारण करनेमें समर्थ एक प्रबल शक्ति हमारे अधिकारमें होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि वह स्थान विनाशकारी शक्तियोंसे घिरा हुआ हो तो भी उनमें कार्य करनेकी शक्ति नहीं होगी, संरक्षण पर्याप्त सशक्त होगा। इन सब चीजोंके लिये आवश्यकता यह है कि ऐसी चीजका संगठन करनेवाले व्यक्तियोंको अत्यधिक पूर्णता प्राप्त हो।

(मौन)

निस्संदेह, कोई नहीं जानता कि आदि मनुष्य कैसे बने थे, प्रथम मानसिक सिद्धि कैसे प्राप्त हुई थी। यह भी कोई नहीं जानता कि वे अलग-अलग छितरे हुए व्यक्ति थे या दल थे, यह सब अलग-अलग रहनेवाले व्यक्तियोंमें घटित हुआ या एक साथ रहनेवालोंके बीच। मैं नहीं जानती। परंतु संभव है कि अतिमानसिक सृष्टिके भावी प्रसंगसे मिलती-जुलती कोई चीज उस समय हुई हो। यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि कोई व्यक्ति हिमालयके एकांत-स्थानमें या घने जंगलके निर्जन स्थानमें अपने चारों ओर अपना छोटासा अतिमानसिक संसार निर्मित करना आरंभ करे। ऐसी कल्पना करना आसान है। परंतु उसे उती वस्तुकी जरूरत होगी, उसे एक ऐसी परिपूर्णता प्राप्त करनी होगी कि उसकी शक्ति अपने-आप कार्य करे और किसी वस्तुको घुसनेसे रोक दे, अपने-आप वह शक्ति सुरक्षित हो, अर्थात् कोई भी विरोधी या विजातीय वस्तु वहां आने या घुसनेसे रोक दी जाय।

ऐसे लोगोंके विषयमें इस तरहकी बहुत-सी कहानियां सुनी जाती हैं जो एक आदर्श निर्जनतामें वास करते थे। इस बातकी कल्पना करना बिलकुल ही असंभव नहीं है। जब

तुम दिव्य शक्तिके संस्पर्शमें होते हो, जव वह शक्ति तुम्हारे अंदर होती है उस क्षण तुम अच्छी तरह देखते हो कि यह सव एक वच्चेका खेल है; कुछ चीजोंको परिवर्तित कर देना भी संभव है; अपने आसपासके प्रकंपनों और रूपोंपर संक्रामक प्रभाव डाला जा सकता है जिससे वे अतिमानसभावापन्न होना आरंभ कर सकती हैं। यह सब संभव है, पर यह सब व्यक्तिगत पैमानेपर ही होगा। परंतु उस बातका उदाहरण लो जो यहां हो रहा है, व्यक्ति इस समस्त अस्तव्यस्तताके एकदम केंद्रमें ही निवास करता है, बस, यहींपर है कठिनाई ! क्या इसी तथ्यके कारण हम इस निर्णयपर नहीं पहुंचते कि अपने अनुभवमें एक प्रकारकी पूर्णताको प्राप्त होना एक असंभव बात है? पर दूसरे प्रसंगमें भी, वनमें रहनेवाले एकाकी व्यक्तिके उदाहरणसे भी यह नहीं सिद्ध होता कि वाकी मनुष्यजाति उसका अनुसरण करनेमें समर्थ होगी; परंतु उसके विपरीत यहां जो कुछ घटित हो रहा है वह वहुत कुछ ऐसा कार्य है जो विकीर्ण हो रहा है, प्रसारित हो रहा है। वस, यही चीज है जो खास क्षणमें होनी चाहिये, जो अवश्यंभावी रूपमें होनी चाहिये; परंतु समस्या वनी ही रहती है: क्या यह चीज उसी समय घटित हो सकती है जव कि दूसरी चीज संसिद्ध होगी या उससे पहले घटेगी— जव कि व्यक्ति, अकेला एक व्यक्ति अतिमानसभावापन्न हो जायगा?

स्पष्ट ही जो सिद्धि किसी व्यक्तिमें होगी उससे वहुत अधिक संसिद्ध, सर्वग्राही, सर्वांग-पूर्ण और संभवतः पूर्णताके शिखरपर आरूढ़ होगी वह सिद्धि जो समाज या दलकी स्थितियोंमें प्राप्त होगी, क्योंकि व्यक्तिगत सिद्धि सर्वदा ही अनिवार्य रूपसे वाह्य, स्थूल स्तरपर होगी, पूर्णतः सीमित होगी, कारण, वह सत्ताका महज एक भाव होगी, अभिव्यक्तिका एक रूप होगी, उस समय प्रकंपनोंका एक अत्यंत छोटासा दल छुआ जायगा।

परंतु कार्यके आसानीसे होनेकी जहांतक बात है उस दृष्टिसे मैं समझती हूं कि इसके मुकावलेकी कोई दूसरी चीज नहीं है।

(मौन)

समस्या वनी ही रहती है। सभी लोगोंने, जैसे बुद्ध और अन्य लोगोंने, सबसे पहले सिद्धि पायी थी और फिर पीछे वे जगत्के संपर्कमें आये। यह वहुत सीधी वात है। परंतु जो कुछ मेरी दृष्टिके सामने है उसके अनुसार क्या यह अनिवार्य शर्त नहीं है कि सिद्धिके सर्वांग-पूर्ण होनेके लिये मनुष्य संसारमें ही वना रहे?

***

(६७)

"मनुष्यमें कोई पाप नहीं है, बल्कि अत्यधिक मात्रामें रोग, अज्ञान और दुरुपयोग-वृत्ति है।'

(६८)

"पाप-भावनाकी आवश्यकता थी जिसमें कि मनुष्य अपनी निजी अपूर्णताओंसे उकता जाय। यह अहंकारके लिये भगवान्‌का संशोधनकारी उपाय था। परंतु मनुष्यका अहंकार स्वयं अपने पापोंके प्रति तो बहुत ही धीमे रूपमें पर दूसरोंके पापोंके प्रति बहुत तीव्र रूपमें जाग्रत् रहते हुए भगवान्‌के इस उपायके सम्मुखीन होता है।"

(६९)

"पाप-पुण्य बाधा उत्पन्न करनेवाला एक खेल है जिसे हम भगवान्‌के साथ तब खेलते हैं जब कि वह हमें पूर्णत्वकी ओर खींच ले जानेका प्रयत्न करते हैं। पुण्यकी भावना हमें अपने पापोंका गुप्त रूपसे पोषण करनेमें सहायता पहुंचाती है।"

ये सूत्र पाप और पुण्यकी हमारी भावनाकी निरर्थकताको हमें बताते हैं। आपने भी ३ फरवरी १९५८[1] के अपने अनुभवके प्रसंगमें कहा था: "मैंने देखा कि जो चीज लोगोंको अतिमानसिक बननेमें सहायता करती है या उन्हें रोकती है वह उससे बिलकुल भिन्न है जिसकी हमारी सामान्य नैतिक धारणा कल्पना करती है।" आपने आगे चलकर यह भी कहा: "जो बात एकदम स्पष्ट थी वह यह थी कि दिव्य और अदिव्यके विषयमें जो हमारी समझ है वह ठीक नहीं है....... उस समय मुझे ऐसा लगा...... कि इस जगत् और अन्य जगत्‌के बीचके संबंधने उस दृष्टिको पूर्णतया बदल दिया है जिससे वस्तुओंका अनुमान किया जाना या उनका मूल्य निश्चित किया जाना चाहिये। इस दृष्टिमें कोई चीज मानसिक नहीं थी और उससे एक ऐसा अद्‌भुत बोध अपने अंदर उत्पन्न होता था कि बहुत-सी चीजें जिन्हें हम अच्छी या बुरी समझते हैं वास्तवमें वैसी नहीं हैं। यह बिलकुल स्पष्ट था कि सब कुछ निर्भर करता है वस्तुओंकी क्षमतापर, अतिमानसिक जगत्‌को रूप देने अथवा उसके साथ संपर्क स्थापित करनेकी उनकी योग्यतापर।"

यह किस तरहकी चीज है, यह अतिमानसिक दृष्टि? अतिमानसिक जगत्‌को रूप देने या उसके साथ संपर्क स्थापित करनेकी यह क्षमता या योग्यता कैसे प्राप्त होती है?

जंगलमेंसे गुजरते हुए हरिनकी कहानी[2] के प्रसंगमें मैंने इस विषयमें थोड़ासा बतलाया था। तुम्हें उस कहानीमें एक संकेत मिल जायगा।

---

[1]अप्रैल १९५८ की 'श्रीअरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र-पत्रिका' (अथवा अगस्त १९५८ की 'अदिति सह भारत माता) देखिये जिसमें अतिमानसिक जहाजका अनुभव तथा अतिमानसिक जगत्‌में उतरनेवाले लोगोंके चुनावका वर्णन है।

[2]'श्रीअरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र-पत्रिका' का अप्रैल १९६१ का अंक देखिये।

फिर मैं अपनेको अतिमानसिक जहाजके इस अनुभवके संपर्कमें ला रही हूं। वस्तुविषयक मेरी दृष्टि उस क्षणके बादसे विलकुल नहीं बदली है। और मैंने उस समय देखा था कि उस अनुभवने परिस्थितिके ऊपर एक सुनिश्चित कार्य किया था। उसने स्पष्टतः, समुचित रूपमें, सुनिश्चित ढंगसे आवश्यक अवस्थाओंको स्थापित कर दिया था।

उसने एकबारगी ही न केवल नैतिकताकी सभी सामान्य धारणाओंको, अपितु यहां भारतमें आध्यात्मिक जीवनके लिये आवश्यक समझी जानेवाली सभी चीजोको दूर वहा दिया। इस दृष्टिकोणसे वह बड़ा ही शिक्षाप्रद था। सबसे पहले इस प्रकारकी तथा-कथित संन्यासियोंकी पवित्रताको लें। इस पवित्रताका अर्थ है बस, सभी प्राणिक क्रियाओंका त्याग; इन क्रियाओंको लेकर उन्हें भगवान्‌की ओर मोड़नेके वदले, अर्थात् उनके अंदर परात्पर परमात्माको विराजमान देखने और उन परम प्रभुको वहां स्वच्छंद रूपसे ठीक क्रिया करनेकी सुविधा देनेके वदले तुम उनसे कहते हो, "नही, नहीं, आपका इससे कोई ताल्लुक नहीं।" उन्हें वहां प्रवेश करनेका कोई अधिकार नहीं है।

शरीरका जहांतक संबंध है, वह तो एक पुराना मामला है, प्रत्येक व्यक्ति ही उसे जानता है; निरंतर और सर्वदा ही संन्यासियोंने उसका त्याग किया है, उसके साथ-साथ प्राणको भी जोड़कर। अब केवल रह जाती हैं वे चीजें जिन्हें धर्म-परंपराने अतिप्राचीन कालसे पवित्र माना या स्वीकार किया है, उदाहरणार्थ, विवाहकी पवित्रता और उसी तरहकी अन्य चीजें जो स्वीकार हो चुकी हैं, पर स्वतंत्र जीवन, ओह! यह तो पूर्ण धार्मिक जीवनके साथ कभी मेल नहीं खाता!

यह सब सदाके लिये पूर्ण रूपसे वह गया था।

परंतु इससे मेरा मतलब यह नहीं है कि जिस चीजकी अब मांग की जा रही है वह अधिक आसान है। शायद यह कहीं अधिक कठिन है।

सर्वप्रथम, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे, जो अवस्था आवश्यक है, जिसकी बात मैंने हरिणकी कहानीमें बतलायी थी, वह है पूर्ण समताकी अवस्था। यह एक निश्चित शर्त्त है। मैं सन् १९५६ से, लगातार कई वर्षोंसे, देखती आ रही हूं कि कोई अतिमानसिक स्पंदन इस पूर्ण समताके विना कहीं प्रविष्ट नहीं होता। यदि कहीं इस समतामें जरा भी कोई कोर-कसर होती है, उसका विरोध होता है—यदि वहां अहंकारकी कोई छोटीसे छोटी क्रिया होती है, अहंको जरा भी प्रश्रय दिया जाता है तो वह प्रकंपन उसके भीतर नहीं पैठता, वहां प्रवेश नहीं करता। यह एक बहुत बड़ी कठिनाई है।

इसके अतिरिक्त सिद्धिके पूर्ण होनेके लिये दो और शर्त्तें हैं और वे भी आसान नहीं हैं। बौद्धिक स्तरपर ये कठिन नहीं हैं (मैं यहां चाहे जिस किसी या प्रत्येक व्यक्तिकी बात नहीं कहती, बल्कि मैं उन लोगोंकी बात कहती हूं जो योग करते हैं और जिन्होंने किसी साधनाका अनुसरण किया है), ये अपेक्षाकृत सहज हैं; मनोवैज्ञानिक स्तरपर भी, यदि समता वस्तुके साथ संबंधित हो तो ये बहुत कठिन नहीं हैं। परंतु जैसे ही तुम भौतिक स्तरपर, अर्थात् शरीरमें तथा शारीरिक स्तरमें पहुंचते हो तो ये फिर आसान नहीं होतीं। ये दो शर्त्तें हैं: पहली,

प्रसारित होनेकी, विस्तारित होनेकी, यों कहें कि लगभग असीम रूपमें प्रसारित-विस्तारित होनेकी शक्ति, जिसमें कि तुम अपने-आपको अतिमानसिक चेतनाकी परिधितक, जो कि सर्वांग-पूर्ण चेतना है, फैला सको। परात्पर भगवान् अपने सर्वांगपूर्ण स्वरूपमें जो कुछ हैं उन्हींकी चेतना अतिमानसिक चेतना है और जब मैं 'भगवान्के सर्वांगपूर्ण स्वरूप' की बात कहती हूं तब उसका अर्थ होता है, 'अभिव्यक्तिके अंदर परात्पर भगवान्का स्वरूप'। स्वभावतः ही उच्चतर दृष्टिकोणसे, तत्त्वकी दृष्टिसे (उस वस्तुके तत्त्वकी दृष्टिसे जो अभिव्यक्तिके अंदर अतिमानसिक बन जाती है) परात्पर भगवान्के साथ--केवल उनकी आत्माभिव्यक्तिके स्वरूपके साथ ही नहीं वरन् अभिव्यक्तिके परे उनके स्थाणु या निर्वाणिक स्वरूपके साथ, असत्के साथ भी--संपूर्ण तादात्म्य प्राप्त करनेकी क्षमता साधकमें अवश्य होनी चाहिये। परंतु इसके साथ-ही-साथ साधकको भूत-भावके अंदर परात्पर भगवान्के साथ एकात्म होनेमें सक्षम होना चाहिये। इस-के लिये दो बातें आवश्यक हैं: सबसे पहले एक प्रकारका विस्तार, कम-से-कम निःसीम, जैसा कि मैं बता चुकी हूं और उसके साथ ही एक प्रकारकी पूर्ण नमनीयता जिसमें कि भूत-भावके अंदर परात्पर प्रभुका अनुसरण किया जा सके; किसी विशेष क्षणमें विश्वके समान विशाल बन जानेकी आवश्यकता हो--ऐसी बात नहीं है, बल्कि मनुष्यको भूतभावके अंदर निःसीम रूपसे विशाल बन जाना होगा। ये ही दो शर्तें हैं; इनका संभाव्य रूपमें वहां रहना आवश्यक है।

जबतक शारीरिक रूपांतरका कोई प्रश्न नहीं उठता तबतक मनोवैज्ञानिक तथा, अधिक व्यापक मात्रामें, आंतरिक दृष्टिकोणका होना पर्याप्त है। और वह अपेक्षाकृत आसान है। परंतु जब प्रश्न यह उठता है कि कर्ममें, अभी इस जगत्में जड़तत्त्व जैसा है जहां कि स्वयं प्रारंभ ही गलत हो गया है उसमें, मूर्त्तिमान् किया जाय तब यह बहुत कठिन हो जाता है। क्योंकि, खोयी हुई दिव्य चेतनाको पुनः प्राप्त करनेके लिये व्यक्तिकरणकी आवश्यकता थी और ठीक उस व्यक्तिकरणकी स्थितिपर पहुंचनेके लिये इस जड़तत्त्वको एक प्रकारकी दृढ़ता (या कठोरता) दी गयी थी जो आकारके बने रहनेके लिये तथा व्यक्तित्वकी इस संभावनाको यथार्थ रूपमें बनाये रखनेके लिये अनिवार्य है। और यही चीज वह मुख्य बाधा है जो अति-मानसको ग्रहण करनेके लिये आवश्यक विस्तार, नमनीयता और मृदुता पानेसे मनुष्यको रोकती है। मैं बराबर ही अपनेको इस समस्याके सामने उपस्थित पाती हूं जो बिलकुल ठोस, पूर्णतः स्थूल समस्या है, जब कि इन कोषाणुओंके साथ हमें निबटना पड़ता है और इन कोषाणुओंको कोषाणु ही बने रहना है, इन्हें भाप बनकर किसी ऐसे मूल-रूपमें नहीं बदल जाना है जो अब भौतिक न हो। और फिर साथ-ही-साथ उनमें यह कोमलता और नमनीयता भी, कठोरताका यह अभाव भी अवश्य होना चाहिये जो निःसीम रूपसे विस्तारित होनेकी क्षमता उन्हें प्रदान करे।

(मौन)

जहाजवाला अनुभव सूक्ष्म-भौतिक स्तरमें प्राप्त हुआ था। और जिन लोगोंके शरीरपर दाग थे और जिन्हें वापस ले लेनेकी आवश्यकता थी, वे सदा वे ही लोग थे जिनमें इन दो

क्रियाओंके लिये आवश्यक नमनीयताका अभाव था। परंतु संभूति (नये रूपमें ढलनेकी क्रिया) का अनुसरण करनेके लिये आगे बढ़नेकी अपेक्षा अधिक आवश्यकता विस्तारित होनेकी थी; यही तुरत बादका कार्य प्रतीत होता था, जो लोग जहाजसे उतर गये थे उनके लिये उतरनेके बाद बस यही पहला कार्य था। और जहाजपर तैयारी करनेका मतलब भी बस यही था कि विस्तारित होनेकी योग्यता प्राप्त हो।

फिर एक बात और भी थी जिसकी चर्चा मैंने उस अनुभवका वर्णन करते समय नहीं की थी। वह है: जहाजमें कोई मशीन नहीं थी। सब कुछ, प्रत्येक चीज इस प्रकार व्यवस्थित थी कि वह इच्छा-शक्तिके द्वारा कार्य करती थी––व्यक्ति और वस्तुएं (यहांतक कि लोगोंकी पोशाक भी उनकी इच्छाका परिणाम थी) सभी वैसे ही थे। इस बातके कारण सभी वस्तुओं और सभी व्यक्तियोंको बहुत नमनीय आकार प्राप्त हो गया था; क्योंकि लोग इस इच्छा-शक्तिके विषयमें सचेतन थे जो कोई मानसिक इच्छा नहीं थी बल्कि आत्माकी इच्छा थी, अथवा हम यह कह सकते हैं कि एक आध्यात्मिक इच्छा थी, या यों भी कह सकते हैं कि अंतरात्माकी इच्छा थी। परंतु यह एक ऐसी चीज है जिसका अनुभव यहां भी उस समय हो सकता है जब कोई पूर्णतः सहज-भावसे कार्य करे, कहनेका मतलब, जब उसका कार्य––वाणी और क्रिया––मनके द्वारा निर्धारित न हो (मैं विचार और बुद्धिकी बात यहां नहीं कह रही हूं), यहांतक कि उस मनके द्वारा भी निर्धारित न हो जो साधारणतया हमें कर्ममें प्रवृत्त करता है। सामान्यतया जब हम कोई कार्य करते हैं तब उस समय हम अपने अंदर उस चीजको करनेकी इच्छा देखते हैं (जब हम सचेतन होते हैं और अपने-आपको वह कार्य करते हुए देखते हैं तब हम इस चीजको देखते हैं; वहां बराबर ही––यह सब बहुत तेजीसे हो सकता है––करनेकी यह इच्छा विद्यमान रहती है), वहां मानसिक हस्तक्षेप रहता है, वही नित्यका हस्तक्षेप, वही क्रम होता है जिसमें चीजें घटित होती हैं। परंतु, इसके विपरीत, अतिमानसिक कार्य निश्चित होता है मनके ऊपर छलांग मारकर; मनके भीतरसे गुजरनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती, निर्णय सीधे आता है। कोई चीज सीधे प्राणिक केंद्रोंके साथ संपर्क स्थापित करती है और कार्यमें लगा देती है, चिंतनके भीतरसे नहीं आती––परंतु पूर्ण चेतनाके साथ कार्य करती है। चेतना प्रचलित क्रममें कार्य नहीं करती, वह सीधे आध्यात्मिक संकल्पके केंद्रसे जड़तत्त्वपर कार्य करती है।

जबतक मनुष्य मनकी इस पूर्ण निश्चलताको बनाये रख पाता है तबतक अंतःप्रेरणा बिलकुल शुद्ध बनी रहती है, वह शुद्ध रूपमें आती है। यदि मनुष्य उसे पकड़ सके और बोलते समय उसे बनाये रख सके तो जो कुछ उसके द्वारा आता है वह भी मिश्रणसे खाली होता है, वह शुद्ध बना रहता है।

यह एक अत्यंत सूक्ष्म क्रिया है, संभवतः यह बहुत प्रचलित चीज नहीं है इसलिये––मामूलीसे मामूली क्रिया, छोटेसे छोटा मानसिक प्रकंपन समूची चीजको बिगाड़ देता है। जितनी देरतक वह बनी रहती है उतनी देरतक वह पूर्ण रूपसे शुद्ध-पवित्र रहती है। और अतिमानसिक जीवनकी वही सतत स्थिति होनी चाहिये। मानसभावापन्न आध्यात्मिक संकल्पको

अब उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये; क्योंकि मनुष्य अच्छी तरह कोई आध्यात्मिक संकल्प रख सकता है, वह आध्यात्मिक संकल्पको निरंतर प्रकट करता हुआ जीवन यापन कर सकता है (यही उन लोगोंके प्रसंगमें घटित होता है जो यह अनुभव करते हैं कि उनका परिचालन उनके अंदर विद्यमान भगवान् ही कर रहे हैं), पर यह चीज एक मानसिक रूपांतरकी अवस्था-मेंसे गुजरती है। और जबतक यह चीज ऐसी है तबतक यह अतिमानसिक जीवन नहीं है। अतिमानसिक जीवन मनके भीतरसे अब नहीं गुजरता। मन तो संप्रेषण-कार्यके लिये एक गतिहीन क्षेत्र बना रहता है। अत्यंत मामूलीसा खटका, खलबली पैदा करनेके लिये काफी होता है।

(मौन)

यह कहा जा सकता है कि पार्थिव चेतनाके द्वरा अतिमानसिक सत्यके अभिव्यक्त होनेके लिये जिस सतत स्थितिका बना रहना आवश्यक है वह है पूर्ण समता; वह समता परात्पर भगवान्-के साथ आध्यात्मिक तादात्म्य प्राप्त होनेपर प्राप्त होती है; उस समय प्रत्येक वस्तु ही पूर्ण समताके अंदर परात्पर सद्वस्तु बन जाती है। और यह सहज-स्वाभाविक होती है ; यह कोई ऐसी समता नहीं होती जो जान-बूझकर इच्छा करके पायी जाय, किसी बौद्धिक प्रयासका फल हो अथवा कोई बोध या समझ हो जो उस अवस्थासे पहले विद्यमान हो; यह ऐसी कोई चीज नहीं है। यह ऐसी सहज-स्वाभाविक और अपने-आप होनेवाली चीज होनी चाहिये कि बाहरसे आनेवाली किसी चीजका प्रत्युत्तर देनेका तरीका अब ऐसा न हो मानो हम बाहरसे आनेवाली किसी चीजका उत्तर दे रहे हों। उस प्रकारकी प्रतिक्रियात्मक क्रिया और प्रत्युत्तर-के बदले वहां एक सतत और, मैं यहांतक कह सकती हूं कि, तादात्म्यजन्य बोध होना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक चीज निश्चित रूपसे अपने विशिष्ट प्रत्युत्तरकी मांग करती है, पर वह प्रत्युत्तर होना चाहिये किसी भी भावावेगपूर्ण प्रतिक्रियासे शून्य, यदि ऐसा कहा जा सके। सच पूछो तो यह वह विभेद है जो उस चीजमें होता है जो बाहरसे आती और तुम्हें धक्का देती है और जिसका उत्तर तुम देते हो तथा यह वह वस्तु है जो चारों ओर फैलती है एवं स्वभावतः ही साधारण क्रियाके लिये आवश्यक प्रकंपनोंको अपने साथ ले आती है। मैं नहीं जानती कि मैं अपनी बात तुम्हें समझा पाती हूं या नहीं.....। यह दो क्रियाओंके बीचका विभेद है— एक तो वह प्रकंपनात्मक क्रिया है जो एक जैसे कर्मक्षेत्रमें चक्कर काटती रहती है और दूसरी है वह क्रिया जो बाहरसे आती और बाहरसे स्पर्श करती है तथा एक प्रत्युत्तर पाती है (यही मानवीय चेतनाकी सामान्य अवस्था है)। दूसरी ओर, जब चेतना परात्परके साथ एकाकार हो जाती है तब क्रियाएं मानो भीतर होती हैं, इस अर्थमें कि कुछ भी बाहरसे नहीं आता, वे केवल वे चीजें होती हैं जो चक्कर काटती रहती हैं और स्वभावतः ही अपने चक्करके दौरान-में एक-समानता और आवश्यकताके वश कुछ विशेष प्रकंपनोंको वहन करती हैं अथवा अपने चक्करके बीच प्रकंपनोंको बदलती रहती हैं।

यह मेरे लिये बहुत परिचित बात है, क्योंकि यह मेरी वर्तमान अवस्था है जो सतत बनी रहती है—मुझे ऐसा कभी भान नहीं होता कि चीजें बाहरसे आ रही हैं और परस्पर टकरा रही हैं, बल्कि मुझे तो ऐसा लगता है कि क्रियाएं भीतर हो रही हैं, वे नाना प्रकारकी होती हैं और कभी-कभी तो परस्पर-विरोधी होती हैं, एक सतत प्रवाह क्रियाके लिये आवश्यक आंतरिक परिवर्तनोंको अपने साथ बहाये ले जाता है।

यह अनिवार्य आधार है।

विस्तारित होनेकी क्रिया प्रायः अपने-आप बादमें आती है, उसके साथ-साथ स्वयं शरीरमें आवश्यक सुधार होते हैं जिनकी व्याख्या करना कठिन है। यह एक ऐसी समस्या है जिसमें मैं आजकल प्रायः पूर्ण रूपसे डूबी हुई हूं।

और फिर संभूतिकी क्रियाके पीछे-पीछे आती है नमनशीलता। नमनशीलताका अर्थ है रवा अर्थात् सुदृढ़ आकार भंग करनेकी क्षमता— जीवनका सारा समय अपने-आपको सुदृढ़ व्यष्टि-रूप प्रदान करनेमें बीतता है, यह ज्ञानपूर्वक और इच्छापूर्वक रवा बांधनेका अर्थात् एक सुदृढ़ आकार ग्रहण करनेका काल होता है जिसे अंतमें भंग कर देना होगा। एक सचेतन और व्यष्टिभावापन्न सत्ता होनेका अर्थ है निरंतर, सतत और सज्ञान रूपसे प्रत्येक चीजका सुदृढ़ आकार ग्रहण करते रहना; और फिर बादमें हमें उसके विपरीत क्रिया करनी चाहिये, निरंतर और पूरी या यहांतक कि उससे भी अधिक इच्छा-शक्तिके साथ क्रिया करते रहना चाहिये। फिर उसके साथ-ही-साथ यह भी देखना चाहिये कि व्यष्टिकरण की क्रियाके द्वारा हमने जो कुछ अपनी चेतनामें प्राप्त किया है उसे भी हम खो न दें। यह कहना ही होगा कि यह बड़ा कठिन है।

चिंतनका जहांतक प्रश्न है उस दृष्टिसे यह प्रारंभिक चीज है, बिलकुल आसान है। फिर हृद्गत बोधकी दृष्टिसे भी यह कठिन नहीं है; हृदयके लिये, अर्थात् भावात्मक सत्ताके लिये अपने-आपको परात्परकी परिसीमातक प्रसारित करना अपेक्षाकृत आसान है। पर शरीर! उसके लिये बहुत कठिन है, शरीरके लिये, कैसे कहा जाय? अपने जमावके केंद्रको खोये बिना, अपने परिपार्श्वके स्तूपमें अपनेको गलाये बिना ऐसा करना बहुत कठिन है। और फिर, यदि कोई प्रकृतिके मध्य पर्वतों, जंगलों और नदियोंके साथ रहता हो, बहुत प्राकृतिक सौन्दर्य, बहुत अधिक खुले स्थानके साथ हो तो यह चीज बल्कि सुखद होगी! परंतु मनुष्य दुःखदायी वस्तुओंका सामना किये बिना शरीरसे बाहर स्थूल रूपमें एक पग भी आगे नहीं बढ़ा सकता। कभी-कभी ऐसा होता है कि तुम्हारा संपर्क एक ऐसे पदार्थसे होता है जो सुखद, सुसमंजस और सजीव होता है, जो उच्चतर ज्योतिसे स्पंदित होता है। परंतु ऐसा बहुत कम होता है। हां, फूल, कभी-कभी फूल ऐसे मिलते हैं, पर कभी-कभी, बराबर नहीं। परंतु यह स्थूल भौतिक जगत्, ओह! ..... तुम सर्वत्र ही धक्के खाते हो—सब प्रकारकी चीजें, जो खुलती नहीं, तुम्हें नोचती, खरोंचती, तुम्हारी खाल उधेड़ती और तुम्हें मार गिराती हैं, ओह, कितना कठिन है यह! ओह, किस तरह मानव-जीवन उद्घाटित नहीं होता! यह कुंडलित होता है, कठोर, ज्योतहीन, ऊष्माशून्य होता है, और आनंदकी तो मैं बात ही नहीं करती।

पर कभी-कभी, जब तुम बहते हुए पानीकी ओर अथवा पेड़ोंपर पड़नेवाली सूर्यकी किरणोंकी ओर ताकते हो, तब हां, वह गाता है—कोषाणु जो गाते हैं और प्रसन्न होते हैं।

परंतु भौतिक रूपांतरकी कठिनाई यदि इतनी बड़ी है तो क्या गुह्य ढंगसे कार्य करना, गुह्य प्रक्रियाके द्वारा कुछ चीजोंको स्थूल बना देना, एक नया शरीर रच लेना अधिक सुविधा-जनक नहीं होगा ?

इस विचारका अर्थ यह है कि सबसे पहले कुछ ऐसे लोग होने चाहियें जिन्होंने यहां भौतिक जगत्में कुछ ऐसी अनुभूतियां प्राप्त कर ली हैं जो उन्हें अतिमानसिक पुरुषको स्थूल रूप प्रदान करनेकी शक्ति दें।

मैंने तुम्हें बताया था कि मैंने प्राणलोककी एक सत्ताको शरीर प्रदान किया, पर मैंने यदि चाहा भी होता तो उस शरीरको स्थूल बनाना मेरे लिये असंभव हुआ होता : कुछ चीजोंका अभाव है, कुछ चीजें नहीं हैं। यदि तुम उसे दृश्य भी बना दो तो शायद तुम उसे स्थायी रूपसे नहीं वैसा रख सकते—एकदम पहले अवसरपर ही वह अपनी स्थूलता खो देगा। इस स्थायित्वको बनाये रखनेकी क्षमता अभीतक किसीने नहीं आयत्त की है।

हमने श्रीअरविंदके साथ इस बातकी पर्यालोचना की थी (पर्यालोचना बस कहनेका एक तरीका है)। हमने उनसे इसकी बात कही और उन्होंने उस चीजको देखा जिसे मैंने देखा था, अर्थात्, एक शक्ति ऐसी है जो हमारे पास नहीं है,—वह शक्ति है यहां पृथ्वीपर उस रूपको स्थायी बनानेकी। जो लोग भौतिक रूप देनेकी क्षमता रखते हैं उन लोगोंके लिये भी यह नहीं बना रहता, वह नहीं रह सकता, नहीं रह सकता, उसमें भौतिक वस्तुओंका गुण नहीं विद्यमान है।

अतएव सृष्टिके बने रहनेका आश्वासन नहीं दिया जा सका, जबतक कि ऐसी कोई चीज न हो जिसमें वह गुण विद्यमान हो।

मुझे सारी गुह्य प्रक्रिया पूरे ब्योरेके साथ ज्ञात थी, पर मैं उस चीजको अधिक स्थूल न बना पा होती, यदि मैंने चेष्टा भी की होती—दृश्य, हां, पर अस्थायी, विकास करनेमें अक्षम होती।

१२. १. ६२

***

(७०)

"बेरहम होकर अपनी जांच करो, तब तुम दूसरोंके प्रति कहीं अधिक दयालु और उपकारी बन सकोगे।"

बहुत अच्छा!

यह प्रत्येक व्यक्तिके लिये बड़ा अच्छा और उपयोगी है, विशेषकर उन लोगोंके लिये जो अपनेको दूसरोंसे अधिक श्रेष्ठ समझते हैं।

परंतु वास्तवमें देखा जाय तो यह एक बहुत गहरी चीजसे मिलता-जुलता है।

यह ठीक-ठीक कहा जाय तो एक अनुभव है जो मुझे कभी-कभी प्राप्त होता है। यह करीब-करीब मानो हमारे मनोभावका उलटा पक्ष है।

अपने हृदयकी गहराईमें मनुष्य सर्वदा ही अपनेको विरोधी शक्तियोंद्वारा आक्रांत शिकार समझते आ रहे हैं; और जो लोग साहसी हैं वे लड़ते हैं, दूसरे लोग रोते-कलपते हैं। परंतु मुझे इस बातका बहुत ही ठोस दर्शन प्राप्त होता रहा है कि सृष्टि में विरोधी शक्तियां कौनसा पार्ट अदा करती हैं, यदि ऐसा कह सकें तो, उनकी अनिवार्य आवश्यकता क्या है जिससे कि प्रगति हो सके और सृष्टि फिरसे अपना मूलरूप प्राप्त कर सके। यह दर्शन इतना स्पष्ट है कि विरोधी शक्तियोंके परिवर्तन या विनाशकी मांग करनेके बदले मनुष्यको स्वयं अपना रूपांतर साधित करनेके लिये कार्य करना चाहिये और बस उसीके लिये उसे प्रार्थना करनी चाहिये तथा एकमात्र वही चीज है जिसे सिद्ध करना चाहिये। यह बात पृथ्वीके दृष्टिकोणसे कही जा रही है, मैं अपनेको व्यक्तिगत दृष्टिबिंदुपर नहीं रख रही हूं। व्यक्तिगत दृष्टिकोणको हम सब जानते हैं; मैं तो पार्थिव दृष्टिकोणसे बोल रही हूं। यह दर्शन मुझे एकदम सहसा प्राप्त हुआ, और यह समस्त भूल-भ्रांतियों और समस्त नासमझियों, समस्त अज्ञान और अंधता, तथा, उससे भी कहीं अधिक बुरी चीज, पार्थिव चेतनाकी समस्त अशुभ इच्छाका दर्शन था। पार्थिव चेतनाने अनुभव किया कि इन विरोधी सत्ताओं और शक्तियोंके बने रहनेका सारा उत्तरदायित्व इन्हीं सब भ्रांतियों और नासमझियों, अज्ञान और अंधता तथा अशुभ इच्छापर है और उसने एक प्रकारके महान् यज्ञकुंडमें इन सबको आहुतिके रूपमें समर्पित कर दिया—यह अभीप्सासे बहुत अधिक एक चीज है—जिसमें कि विरोधी शक्तियां विलीन हो जायं, उनके अस्तित्वके लिये अब कोई कारण न रह जाय तथा वे अब उन सब चीजोंके निर्देशक न रह जायं जिन्हें परिवर्तित करना आवश्यक हो।

ये सब चीजें उन चीजोंके कारण अनिवार्य हो गयी थीं जो दिव्य जीवनकी विरोधिनी थीं। और असाधारण तीव्रताके साथ पार्थिव चेतनाद्वारा की गयी परात्परकी पूजाकी यह क्रिया पापियोंका उद्धार करनेकी जैसी एक क्रिया है जिसमें कि विरोधी शक्तियां विलुप्त हो जायं।

यह बड़ा ही तीव्र अनुभव था। यह इस रूपमें रूपांतरित हुआ था: "मैंने जितने दोष किये हैं उन्हें ले लो, उन सबको ले लो, उन्हें स्वीकार करो, उन्हें धो-पोंछ दो जिसमें ये शक्तियां विलुप्त हो जायं।"

दूसरी ओरसे देखें तो यह सूत्र ठीक इतना ही है, यह अपने सार-तत्त्वमें बस इतना ही है। जबतक मनुष्यकी चेतनामें महान् दिव्य संभूतिके विरुद्ध अनुभव करने, कार्य करने, विचार करने या होनेकी संभावना है तबतक किसी दूसरे व्यक्तिको दोषी ठहराना संभव नहीं है; उन

विरोधी शक्तियोंको दोष देना संभव नहीं जिन्हें सृष्टिके अंदर इसलिये रखा गया है कि वे तुम्हें जिस पथपर जाना है उसे पूरा दिखा दें और बतला दें।

(मौन)

मैंने आनेको जिस स्थितिमें पाया वह मानो एक स्मृति थी—एक स्मृति थी जो शाश्वत कालसे विद्यमान है—वह परम प्रेमकी चेतनाकी स्मृति थी जिसे परम प्रभुने पृथ्वीपर, पृथ्वीमें भेजा है, जिसमें कि इसे वह फिर अपने पास वापस ले जायं। चूंकि यह वास्तवमें भगवान्‌से एकदम पूर्ण रूपसे शून्य स्थितिमें, दिव्य प्रकृतिके एकदम सार-तत्त्वसे शून्य अवस्थामें अवतरण था, इसलिये यह दिव्य स्थितिका त्याग था जिसमें कि पार्थिव अज्ञानांधकारको स्वीकार किया जाय और पृथ्वीको पुनः दिव्य स्थितिमें वापस ले आया जाय। और जबतक यह सर्वोच्च दिव्य प्रेम अपनी सर्वशक्तिमत्ताके साथ यहां पृथ्वीपर सचेतन नहीं हो जाता तबतक यह वापसी कभी भी एकदम चूडांत नहीं हो सकती।

यह अनुभव महान् दिव्य संभूतिके सूक्ष्म-दर्शनके बाद हुआ था[1], और मैंने अपने-आपसे पूछा था, "जब यह जगत् क्रमशः विकसनशील है, जब यह अधिकाधिक दिव्य बन रहा है तब क्या इतने गहरे दुःखसे भरा हुआ यह अनुभव यहां बराबर नहीं बना रहेगा—उस चीजका अनुभव जो दिव्य नहीं है, उस अवस्थाका अनुभव जो अभी आनेवाली अवस्थाके मुकाबले दिव्य नहीं है? क्या वे चीजें बराबर नहीं बनी रहेंगी जिन्हें हम "विरोधी शक्तियां" कहते हैं, अर्थात् वह चीज जो (पृथ्वीको दिव्यताकी ओर ले जानेवाली भागवत) क्रियाका अनुसरण सुसमंजस रूपमें नहीं करती?" तब उत्तर आया, सूक्ष्म दर्शन प्राप्त हुआ: "नहीं, यह ठीक वही क्षण है जब यह संभावना समीप आ गयी है, यह पूर्ण दिव्य प्रेमके उस सार-तत्त्वकी अभिव्यक्तिका मुहूर्त्त है जो इस अचेतनता, इस अज्ञान और इस अशुभ इच्छाको रूपांतरित कर सकता है, जो एक सर्व-समालिंगनकारी पूर्णत्वके लिये भूखे एक सुसमंजस तथा हर्षपूर्ण क्रमोन्नतिके अंदर उसका परिणाम है।"

यह बहुत स्पष्ट है।

और यह उस स्थितिसे मिलता-जुलता है जिसमें मनुष्य जो कुछ है उस सबके साथ पूर्णतः एकाकार हो जाता है, मनुष्य वह सब बन जाता है जो ठोस रूपमें भगवद्विरोधी है और मनुष्य उसे अर्पित कर सकता है, हां, मनुष्य उसे अर्पित कर सकता है और अपने अर्पणके द्वारा उसे रूपांतरित कर सकता है।

मूल रूपमें मनुष्योंमें विद्यमान यह पवित्रताकी, शुभकी इस प्रकारकी इच्छा ही (जो साधारण मानव-मनमें पुण्यात्मा होनेकी आवश्यकताके रूपमें रूपांतरित होती है) वह चीज है जो सच्चे आत्मार्पणमें महान् बाधा उपस्थित करती है। यही मिथ्यात्वके मूलमें तथा विशेष रूपसे

---

[1]इससे पहलेके सूक्तकी व्याख्या इसी अंकमें देखिये।

स्वयं पाखंडकी एकदम जड़में विद्यमान है—यह चीज है कठिनाईके बोझमें स्वयं अपना हिस्सा अपने ऊपर लेना अस्वीकार करना। बस, इसी बातपर वहुत सरल ढंगसे श्रीअरविंदने सीधे चोट की है।

पुण्यात्मा होनेका भाव बनानेकी चेष्टा मत करो। बस, यह देखो कि किस हदतक उस सबके साथ युक्त हो, एक हो गये हो जो भगवद्विरोधी है। इस बोझमें अपना हिस्सा लो, स्वीकार करो कि तुम स्वयं अपवित्र और मिथ्याचारी हो; बस, इसी तरह तुम "छाया"को ग्रहण कर सकते हो और उसे अर्पित कर सकते हो। और जितने अंशमें तुम उसे ग्रहण करनेमें समर्थ होगे और उसे अर्पित कर सकोगे उतने अंशमें वस्तुएं परिवर्त्तित हो जायेंगी।

पवित्र लोगोंकी श्रेणीमें बैठनेकी कोशिश मत करो। जो लोग अंधकारमें हैं उनके साथ रहना स्वीकार करो और संपूर्ण प्रेमके साथ यह सब अर्पित कर दो।

२१ जनवरी, १९६२

—श्रीमां

श्रीमाताजीकी विजय मूलतः प्रत्येक साधककी अपने ऊपर विजय है। ऐसी विजय होनेपर ही कार्यका कोई भी वाह्य रूप सुसमंजस परिपूर्णताको प्राप्त कर सकता है।

१२. ११. १९३७

—श्रीअरविंद

***

प्रत्येक व्यक्ति भगवान्‌के साथ एकदम अकेला है।

—श्रीमां

निरापद साधनाकी शर्त्तें

(एक पत्र)

जिन सब अनुभूतियोंको तुमने लिखा है और मेरे पास भेजा है उन सबको मैंने देखा है तथा तुम्हारा और 'ब' का पत्र भी मुझे मिला है। निस्संदेह यह सत्य है, जैसा कि तुम कहते हो, कि तुम्हारी साधना दूसरे लोगोंकी साधनासे भिन्न रास्तोंपर चली गयी है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस विषयसे संबंधित अपने विचारोंपर जो तुम हठ करते हो वह पूर्ण रूपसे उचित है। मैंने तुम्हारी अनुभूतियोंके विषयमें जो कुछ देखा-समझा है उसे मैं तुम्हें संक्षेपमें बताऊंगा।

सबसे पहले जो बातें तुमने लिख भेजी थीं वे बहुत मजेदार और मूल्यवान् आंतरात्मिक-आध्यात्मिक तथा आंतरात्मिक-मानसिक अनुभूतियां और वाणियां थीं। बादकी अनुभूतियोंका झुकाव अधिक आंतरात्मिक-भावावेगकी ओर है और उनमें एक प्रकारकी एक-पक्षिता तथा मिश्रण है एवं साथ-ही-साथ उनमें द्विविध प्रकारका आंतरात्मिक-प्राणिक और आंतरात्मिक दैहिक विस्तार भी शामिल हो गया है। मेरे कहनेका मतलब यह नहीं है कि उनमें सब कुछ मिथ्या है, बल्कि यह है कि उनमें बहुतसे प्रबल आंशिक सत्य हैं जिन्हें दूसरे सत्योंके द्वारा शुद्ध करनेकी आवश्यकता है पर जो उन सबकी अवहेलना और यहांतक कि उनका बहिष्कार-तक करते हुए प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें बुद्धि तथा प्राणसत्ताकी दी हुई सूचनाएं हैं और ऐसे बाह्य स्रोतोंसे आनेवाली सूचनाएं भी हैं जिन्हें तुम्हें उतनी आसानीसे स्वीकार नहीं करना चाहिये जितनी आसानीसे तुम करते हुए प्रतीत होते हो। साधनाकी प्रारंभिक अवस्थाओंमें ऐसे मिश्रणका होना अनिवार्य है और इससे हतोत्साह होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। परंतु तुम यदि इसे बनाये रखनेका आग्रह करो तो यह तुम्हें सच्चे पथसे दूर हटा ले जा सकता और तुम्हारी साधनाको हानि पहुंचा सकता है।

अभीतक तुम्हें चैत्य पुरुष और चैत्य जगतोंके स्वभाव-स्वरूपके विषयमें पर्याप्त अनुभव नहीं प्राप्त हुआ है। अतएव तुम्हारे लिये यह संभव नहीं कि जो कुछ तुम्हारे पास आता है उस सबका तुम यथार्थ मूल्य आंक सको। जब चैत्य चेतना खुलती है, विशेषकर जब इतने निर्बाध रूपमें तथा इतनी तेजीके साथ खुलती है जैसे कि तुम्हारे अंदर यह खुली है, तब यह सब प्रकारकी चीजों और सब प्रकारके स्तरों, लोकों, शक्तियों एवं सत्ताओंकी सूचनाओं और संदेशोंकी ओर खुलती है। एक सच्चा चैत्य पुरुष है जो सदा अच्छा होता है तथा एक ऐसा चैत्य उद्घाटन है जो मानसिक, प्राणिक एवं अन्य जगतोंकी ओर होता है और ये सब जगत् सब प्रकारकी अच्छी, बुरी और तटस्थ; सच्ची, झूठी और आधी-सच्ची चीजोंसे, सब प्रकारकी

विचारमय सूचनाओंसे तथा सब प्रकारके संदेशोंसे भी भरे होते हैं। आवश्यकता इस बातकी नहीं है कि तुम इन सबके प्रति अनासक्त भावसे आत्म-समर्पण कर दो बल्कि इस बातकी है कि अपना संतुलन बनाये रखने और मिथ्यात्व, अर्ध-सत्य तथा मिश्रणको दूर करनेमें समर्थ होनेके लिये पर्याप्त ज्ञान और अनुभव तथा पर्याप्त 'विवेक-शक्ति—दोनोंको विकसित किया जाय। इस आधारपर विवेक-शक्तिकी आवश्यकताको अधीरतापूर्वक उड़ा देनेसे काम नहीं चल सकता कि यह सब तो महज बुद्धि वाद है। विवेकका बौद्धिक होना आवश्यक नहीं है, यद्यपि वह भी एक ऐसी चीज है जिसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती। परंतु वह चैत्य विवेक हो सकता है अथवा ऐसा विवेक हो सकता है जो उच्चतर अतिबौद्धिक मनसे और उच्चतर सत्ता-से आता है। यदि तुम्हारे पास यह विवेक नहीं है तो तुम्हें उन लोगोंका सतत संरक्षण और पथप्रदर्शनपानेकी आवश्यकता है जिन्हें वह विवेक प्राप्त है और जिन्हें दीर्घकालतक चैत्य अनुभव हो चुका है, और यदि तुम संपूर्ण रूपसे स्वयं अपने ऊपर ही निर्भर करो तथा ऐसे पथप्रदर्शन-का त्याग करो तो यह तुम्हारे लिये विपज्जनक हो सकता है।

इस बीच, साधनाके तीन नियम हैं जो साधनाके आरंभिक अवस्थाके लिये बहुत आवश्यक हैं और जिन्हें तुम्हें अवश्य याद रखना चाहिये :

(१) अनुभूतिकी ओर अपनेको खोलो पर अनुभूतियोंका भोग मत करो।

(२) किसी भी विशेष अनुभवके साथ आसक्त मत होओ। और

(३) सभी विचारों और सूचनाओंको सत्य मत मानो तथा किसी ज्ञान, वाणी या विचार-संदेशको पूर्णतः अंतिम और सुनिश्चित मत मानो।

स्वयं सत्य भी केवल सभी सत्य होता है जब पूर्ण होता है और जैसे-जैसे मनुष्य ऊपर उठता है और उसे उच्चतर स्तरसे देखता है वैसे-वैसे उसका अर्थ बदलता रहता है।[1]

मैं तुम्हें विरोधी शक्तियोंकी सूचनाओंके विषयमें भी सावधान कर देना चाहता हूं। ये शक्तियां इस योगमें सभी साधकोंपर आक्रमण करती हैं। तुम्हें जो एक यूरोपियनका सूक्ष्म-दर्शन प्राप्त हुआ यह इस बातका सूचक है कि इन शक्तियोंकी दृष्टि तुम्हारे ऊपर है, और वे यदि अभी तुम्हारे विरुद्ध कार्य नहीं करतीं तो कम-से-कम कार्य करनेके लिये तैयार हैं। उनकी जो सूक्ष्मतर सूचनाएं होती हैं और सत्यका आकार ग्रहण करती हैं वे अत्यंत खतरनाक होती हैं—उनके अधिक खुले आक्रमण नहीं। मैं यहां उनमेंसे कुछ अत्यधिक सामान्य सूचनाओंका जिक्र करूंगा।

---

[1]इस वाक्यके महत्त्वकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करके लिये इसे मोटे टाइपोंमें दिया गया है।—अनु.

जो कोई भी सूचना तुम्हारे अहंभावको बढ़ानेकी चेष्टा करे उससे सावधान रहो, उदाहरणार्थ, यह सूचना कि तुम दूसरोंसे कहीं अधिक वड़े साधक हो अथवा तुम्हारी साधना विलक्षण है अथवा असाधारण रूपसे उच्च प्रकारकी है। ऐसा लगता है कि इस प्रकारकी कोई सूचना तुम्हें मिल भी चुकी है। तुम्हारे अंदर चैत्य अनुभूतियोंका एक समृद्ध और त्वरित विकास हुआ है, पर ठीक वैसे ही कुछ दूसरे लोगोंमें भी हुआ है जिन्होंने यहां ध्यान किया है और तुम्हारी कोई भी अनुभूति अपने प्रकार या मात्रामें अनोखी नहीं है अथवा हमारे अनुभवके लिये अपरिचित नहीं है। और यदि वह अन्य प्रकारकी हो भी, तो भी अहंकार साधनाका सबसे बड़ा खतरा है और आध्यात्मिक दृष्टिसे इसका कभी समर्थन नहीं किया जा सकता। समस्त महानता भगवान्‌की है; दूसरे किसीका उसपर अधिकार नहीं।

जो कोई चीज तुम्हें किसी अपवित्रता या अपूर्णता, मानसिक उलझन, हार्दिक आसक्ति, प्राणिक कामना और आवेग अथवा शारीरिक रोगको वनाये रखने या उससे चिपके रहनेका सुझाव देती हो उससे तुम सावधान रहो। इन चीजोंको, चतुराईके साथ समर्थन करके और पर्देसे ढककर, वनाये रखना विरोधी शक्तियोंकी एक सामान्य चाल है।

जो कोई विचार इन विरोधी शक्तियोंको उन्हीं शर्त्तोंपर तुम्हे स्वीकार करनेके लिये कहे जिन शर्त्तोंपर दिव्य शक्तियोंको स्वीकार किया जाता है, तो उससे सावधान रहो। मैं समझता हूं कि तुमने यह कहा है कि तुम्हें सव कुछ स्वीकार करना होगा क्योंकि सव कुछ भगवान्‌का ही प्रकाश है। एक विशेष अर्थमें सव कुछ भगवान्‌का प्रकाश है, पर यदि इस विषयको समझनेमें भूल हो जाय, जैसा कि प्रायः ही होता है, तो यह वैदांतिक सत्य मिथ्यात्वके उद्देश्योंको सिद्ध करनेमें प्रयुक्त हो सकता है। वहुतसी ऐसी चीजें हैं जो आंशिक अभिव्यक्तियां हैं और जिनके स्थानपर अधिक पूर्ण और अधिक सच्ची अभिव्यक्तियोंको ला बैठाना होगा। कुछ ऐसी अभिव्यक्तियां हैं जो अज्ञानसे संबंध रखती हैं और जव हम ज्ञानकी ओर जाते हैं तव झड़ जाती हैं। कुछ दूसरी ऐसी हैं जो अंधकारकी अभिव्यक्तियां हैं और उनके साथ युद्ध करना होगा और उन्हें नष्ट कर देना होगा अथवा दूर निकाल फेंकना होगा। यह अभिव्यक्ति वही है जिसका उपयोग उस शक्तिने खुले तौरपर किया है जिसका प्रतीक तुम्हारे सूक्ष्म-दर्शनमें दिखायी देनेवाला यूरोपियन है और उसने वहुतोंके योगको नष्ट कर दिया है। तुमने भी स्वयं बुद्धिका परित्याग करना चाहा था और फिर भी बुद्धि उसी तरह भगवान्‌की एक अभिव्यक्ति है जिस तरह कि अन्य चीजें हैं जिन्हें तुमने स्वीकार किया है।

यदि तुम वास्तवमें मुझे स्वीकार करते और अपने-आपको समर्पित करते हो तो तुम्हें मेरा सत्य स्वीकार करना चाहिये। मेरा सत्य वह सत्य है जो अज्ञान और मिथ्यात्वका वहिष्कार करता तथा ज्ञानकी ओर अग्रसर होता है, अंधकारका वहिष्कार करता और ज्योतिकी ओर अग्रसर होता है, अहंकारका वहिष्कार करता और दिव्यात्माकी ओर अग्रसर होता है, अपूर्णताओंका वहिष्कार करता और पूर्णताकी ओर अग्रसर होता है। मेरा सत्य केवल भक्तिका सत्य या चैत्य विकासका सत्य नहीं है वल्कि ज्ञान, पवित्रता, दिव्य शक्ति और शांतिका भी सत्य है

तथा इन सब चीजोंको इनके मानसिक, भावात्मक और प्राणिक रूपोंसे ऊपर उनके अतिमानसिक सत्य-स्वरूपोंमें उठा ले जानेका भी सत्य है।

मैं ये सब बातें तुम्हारी साधनाका मूल्य घटानेके लिये नहीं कह रहा हूं, बल्कि तुम्हारे मनको उसकी क्रमवर्द्धमान संसिद्धि और परिपूर्णताके पथकी ओर मोड़ देनेके लिये कह रहा हूं।

अभी मेरे लिये तुमको यहां रखना संभव नहीं हैं, सबसे पहले इस कारण कि आवश्यक अवस्थाएं अभी विद्यमान नहीं हैं और दूसरे इस कारण कि यहां आनेसे पहले तुम्हें मेरे पथ-प्रदर्शनको स्वीकार करनेके लिये पूर्णतः तैयार हो जाना चाहिये। यदि, जैसा कि मैं समझता हूं कि तुम्हें वर्तमान परिस्थितियोंमें करना ही होगा, तुम्हें घर जाना पड़े तो वहां ध्यान करना, अपनेको मेरी ओर मोड़ रखना और अपनेको तैयार करनेकी कोशिश करना जिसमें कि पीछे तुम यहां आ सको। अभी तुम्हें उतनी अधिक आवश्यकता चैत्य विकासकी नहीं है जिसे कि तुम बराबर ही प्राप्त करनेमें समर्थ होगे (मैं उसे एकदम बंद कर देनेके लिये नहीं कह रहा हूं), बल्कि आवश्यकता है आंतरिक अचंचलता और स्थिरताकी जो कि तुम्हारे भावी विकास और अनुभवका सच्चा आधार बन सके और उसके लिये सच्चा वातावरण उत्पन्न कर सके—मनमें, शोधित प्राण-सत्तामें और शारीरिक चेतनामें स्थिरता होनी चाहिये। जबतक तुम इस स्थिरता और सत्ताकी सुनिश्चित पवित्रता तथा पूर्ण और चिर-विद्यमान प्राणिक एवं शारीरिक संरक्षणको नहीं प्राप्त कर लेते तबतक कोई चैत्य-प्राणिक अथवा चैत्य-शारीरिक योग तुम्हारे लिये निरापद नहीं होगा।

जनवरी १९२३ —श्रीअरविंद

('मदर इंडिया' से साभार)

ऐसी बहुतेरी औरतें होती हैं जो मनसे, चैत्य सत्तासे, प्राण (हृदय) से प्यार कर सकती हैं, पर वे शरीरके स्पर्शसे संकुचित होती हैं और जब वह संकोच चला भी जाता है तो भी शारीरिक संबंध उनके लिये घिनौना ही बना रहता है। वे, दबावके कारण, स्वीकार कर सकती हैं, पर इससे शारीरिक कार्यके साथ उनका मेल नहीं बैठता; वे उसे सर्वदा ही पशवोचित और हीन समझती हैं। स्त्रियां इसे जानती हैं, पर पुरुषोंको इस बातपर विश्वास करना कठिन प्रतीत होता है, पर यह है पूर्णतः सत्य।

१९. ६. १९३४

दिव्य जीवन

(श्रीअरविन्द)

प्रथम भाग

ब्रह्म और जगत्

अध्याय २५

जड़ तत्वकी ग्रंथि

नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः।
..... के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति क असतो वचसः सन्ति गोपाः॥

मैं ज्योतिर्मय प्रभुके सत्यके समीप न शक्तिके द्वारा पहुंच सकता हूं और न द्वैतके द्वारा। ..... वे कौन हैं जो कि असत्यके आधारकी रक्षा करते हैं? असत्य शब्दके संरक्षक कौन हैं?

—ऋग्वेद ५।१२।२,४

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तरेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥
तम आसीत्तमसा गुह्ळमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
तिरश्चिनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसनत्स्वधा अवस्तात् प्रयातिः परस्तात्॥

उस समय न सत् था न असत् था, न अंतरिक्ष था, न आकाश था और न वह था जो परे है। इस सबको किसने आवृत किया था? वह कहां था? किसकी शरणमें था? वह सघन (गहन) और गंभीर समुद्र क्या था? न मृत्यु थी न अमृत था और न दिन और रातका ज्ञान था। वह एकतम, श्वासके बिना, अपने स्वधर्मसे जीता था; न उससे कुछ भिन्न था न उससे परे था। प्रारंभसे तमसे आवृत तम था, यह सब निश्चेतनाका समुद्र था। जब वैश्व सत् छोटे-छोटे टुकड़ों (परमाणुओं) से छिपा हुआ था, तब अपने तप (ऊर्जा) की महत्तासे वह एकतम उत्पन्न हुआ। पहले उसने भीतर काम (कामना) के रूपमें स्पंदन किया, जो कि मनका प्रथम बीज था। सत्यदर्शी ऋषियोंने हृदयस्थ इच्छाके द्वारा और विचारके द्वारा वह आविर्ज्ञान किया कि असत्में सत्का निर्माण हुआ है; उनकी किरण तिरछी (क्षितिज

की ओर) विस्तृत हुई; किंतु वहां नीचे क्या था और ऊपर क्या था? वहां बीजका आधान करनेवाले थे; वहां महत्ताएं थीं; नीचे स्वधर्म था; ऊपर इच्छा थी।

--ऋग्वेद १० । १२९ । १-५

जिस तथ्यके आधारपर हम विचार कर रहे हैं उससे वही निष्कर्ष निकल सकता है जिसपर कि हम पहुंचे हैं; और यदि वह निष्कर्ष ठीक है तो हमारा व्यावहारिक अनुभव और मनका चिरकालीन अभ्यास जो आत्मा और भौतिक द्रव्यमें तीक्ष्ण विभाग करता है उसमें कोई मूलभूत यथार्थता नहीं रह जाती। यह जगत् विभिन्नताको प्राप्त हुआ ऐक्य (भिन्नाभिन्न), बहु-रूपधारी एकत्व है; यह कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जहां विभिन्न शाश्वत तत्त्वोंमें समझौतेका सतत प्रयत्न होता रहता हो, जिसमें असंधेय विरोधी भावोंमें सदा संग्राम होता रहता हो। जगत्का आधार और आदि एक ऐसा अविच्छेद्य एकत्व है जो कि अनंत विविधताको उत्पन्न करता है। इसका मध्यकालीन स्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें आपाततः विभाग और संग्रामके पीछे एक निरंतर संगति है; इसमें अंतर्गूढ़ एक चैतन्य और इच्छा है जो कि सर्वदा एक है और स्वयं अपने समस्त जटिल कर्मोंका प्रभु है; उसके महान् उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये यह संगति समस्त संभव असंबद्ध तत्त्वोंको संबद्ध करती है। इसलिये हमें यह मानना पड़ता है कि इस जगत्का अंत होना चाहिये उन्मज्जनमान इच्छा और चैतन्यका परिपूर्णत्व और अविजयपूर्ण सामंजस्य। द्रव्य उस चैतन्यका अपना एक रूप है जिसपर कि वह कार्य करती है, और उस द्रव्यका यदि भौतिक द्रव्य (जड़) एक सिरा है तो आत्मा (ब्रह्म) दूसरा सिरा है। ये दोनों एक हैं; जिसका हमें भौतिक द्रव्यके रूपमें इन्द्रियज्ञान होता है उसका अंतरात्मा और यथार्थ स्वरूप ब्रह्म है; जिसका हमें ब्रह्मके रूपमें प्रत्यक्ष होता है उसका भौतिक द्रव्य या जड़ एक रूप और देह है।

निश्चय ही, व्यावहारिक दशामें ब्रह्म और भौतिक द्रव्यमें, चित् और जड़में बहुत बड़ा भेद है और उसी भेदके ऊपर विश्व-सत्ताकी अविच्छिन्न क्रमपरंपरा और निरंतर आरोहण करती हुई श्रेणियां प्रतिष्ठित हैं। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि चेतन सत् जब इन्द्रियका विषय होता है तो वह द्रव्य कहलाता है; चेतन सत्का ऐसा करनेका यह उद्देश्य होता ह कि द्रव्य और इन्द्रियमें जो भी संबंध स्थापित हो उसके आधारपर विश्व-निर्माणका और विश्वकी प्रगतिका कार्य आगे बढ़ सके। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि इन्द्रिय और द्रव्यके बीचमें संबंधका केवल एक ही आधार हो, केवल एक ही अपरिवर्तनीय मूलभूत तत्त्व हो, बल्कि इसके विपरीत इसकी भी एक आरोहणकारी और विकसनशील क्रमपरंपरा है। हम एक ऐसे द्रव्यको जानते हैं जो कि, हमारी शारीरिक इन्द्रियां जिस भौतिक द्रव्यकी कल्पना कर सकती हैं उसकी अपेक्षा बहुत अधिक सूक्ष्म, बहुत अधिक मुलायम और नमनशील है और जिसे शुद्ध मन अपना स्वाभाविक माध्यम बनाकर उसमें क्रिया करता है। हमें एक ऐसे सूक्ष्मतर द्रव्यका ज्ञान होता है जिसमें कि रूप उत्पन्न होते हैं और कर्म निष्पन्न होते हैं, इसे हम मनोमय या मानस-द्रव्य कह सकते हैं। भौतिक द्रव्यके जो सूक्ष्मतम रूप हो सकते हैं और उसकी जो इन्द्रिय-

ग्राह्य शक्ति-तरंगें हो सकती हैं उनसे भिन्न एक शुद्ध क्रियात्मक प्राण-ऊर्जामय द्रव्य भी होता है। ब्रह्म स्वयं भी शुद्ध सत् द्रव्य कहलाता है जब कि वह स्वयं अपने-आपको विषय बनाता है, शारीरिक, प्राणिक और मानसिक इन्द्रियका विषय न होकर शुद्ध आत्मिक प्रत्यक्षात्मक ज्ञानकी ज्योतिका विषय होता है; इस ज्ञान-ज्योतिमें ज्ञाता स्वयं अपना विषय होता है; दूसरे शब्दोंमें, इस ज्ञान-ज्योतिमें कालरहित और देशरहित सदात्मा अपने-आपको शुद्ध आध्यात्मिक कल्पनामय आत्म-विस्तृत रूपमें देखता है और अपने इस रूपको विश्व-सत्ताका आधार और मूल उपादान जानता है। इस आधारसे ऊपर विषयी और विषयके बीचका संपूर्ण सचेतन भेद पूर्ण तादात्म्यमें विलीन हो जाता है, और वहां हम द्रव्य शब्दका प्रयोग नहीं कर सकते।

अतएव वह शुद्ध कल्पनात्मक—आध्यात्मिक कल्पनात्मक न कि मानस-कल्पनात्मक—भेद है जिसका कि अंत व्यावहारिक विभेदमें होता है, जो कि ब्रह्मसे लेकर मनके द्वारा भौतिक द्रव्यतक अवतरण करती हुई श्रेणीकी और फिर भौतिक द्रव्यसे मनके द्वारा ब्रह्मतक आरोहण करती हुई श्रेणीकी सृष्टि करता है। उस शुद्ध आध्यात्मिक कल्पनात्मक भेदमें सच्चा एकत्व कभी भी नष्ट नहीं होता; और जब हमें पदार्थोंका मूलभूत और समग्र ज्ञान पुनः प्राप्त होता है तो हम देखते हैं कि वह एकत्व कभी भी, यहांतक कि भौतिक द्रव्यकी स्थूलतम सघनताओंमें भी सच्चे रूपमें न कम होता है न विकृत होता है। ब्रह्म विश्वका केवल निमित्त कारण, उसे धारण करनेवाला और उसके भीतर निवास करनेवाला (अंतःस्थ) तत्त्व ही नहीं है; वह उसका उपादान और एकमात्र उपादान भी है (**अभिन्न निमित्तोपादन**)। भौतिक द्रव्य भी ब्रह्म है और वह ब्रह्मके सिवाय कुछ और या उससे भिन्न नहीं है। यदि भौतिक द्रव्य ब्रह्मसे विच्छिन्न होता तो यह ऐसा नहीं होता; परंतु जैसा कि हम देख चुके हैं, यह ब्रह्मसत्ताका अंतिम रूप और विषयात्मक रूप है और उसके भीतर और उसके पीछे संपूर्ण ब्रह्म सर्वदा विद्यमान रहता है।

जैसे यह आपाततः जड़ और निश्चेष्ट प्रतीत होनेवाला भौतिक द्रव्य सर्वत्र और सर्वदा प्राणकी बलशाली क्रियात्मक शक्तिसे अनुप्राणित होता है; जैसे यह क्रियात्मक किंतु आपाततः अचेतन प्राण अपने भीतर उस सर्वदा सक्रिय अदृश्य मनको छिपाये रखता है जिसके गुह्य व्यवहारोंकी वह दृश्य शक्ति है; जैसे यह सजीव देहस्थ, अज्ञ, प्रकाशहीन और अंधकारमें टटोलनेवाला मन अपने इस यथार्थ स्वरूप, अतिमनसे धारित और प्रधानतया पथप्रदर्शित होता है जो कि समान रूपमें मानसिक अवस्थाको न प्राप्त हुए भौतिक द्रव्यके भीतर भी विद्यमान है; उसी प्रकार संपूर्ण भौतिक द्रव्य और इसके साथ-साथ प्राण, मन एवं अतिमन ब्रह्म (आत्मा, सच्चिदानंद) के केवल रूप या अवस्थाएं हैं; ब्रह्म इन सबमें केवल निवास ही नहीं करता अपितु वही इन सब पदार्थोंके रूपमें है, (उसने ही इन सब पदार्थोंका रूप धारण किया है), यद्यपि इनमें कोई भी उसका परस्वरूप (परभाव) नहीं है।

यद्यपि ये सब पदार्थ ब्रह्म हैं किंतु फिर भी एक कल्पनागत भेद और व्यावहारिक विभेद हैं; यद्यपि भौतिक द्रव्य ब्रह्मसे यथार्थमें विच्छिन्न नहीं है किंतु फिर भी वह इतनी व्यावहारिक सुनिश्चितताके साथ ऐसा विच्छिन्न, इतना भिन्न, अपने धर्ममें इतना विपरीत प्रतीत होता

है, भौतिक पदार्थोंसे व्यवहार करनेवाला जीवन आध्यात्मिक जीवनका इतना अधिक विरोधी जान पड़ता है कि उसका परित्याग कठिनाईको पार करनेका एकमात्र सीधा मार्ग जान पड़ सकता है---और ऐसा निःसंदेह है; परंतु सीधा मार्ग हो या कैसा भी मार्ग हो, यह कोई समाधान नहीं है।

तथापि इसमें कोई संदेह नहीं है कि भौतिक द्रव्य समस्याका, कठिनाईका मूल है। यही बाधा उत्पन्न करता है; क्योंकि भौतिक द्रव्यके ही कारण प्राण स्थूल एवं परिच्छिन्न है और मृत्यु एवं दुःखसे पीड़ित है; भौतिक द्रव्यके कारण ही मन आवेसे अधिक अंधा है, उसके पंख कटे हुए हैं, उसके पैर एक छोटेसे अड्डेसे बंधे हुए हैं और उसे ऊपरकी जिस विशालता और स्वतंत्रताका बोध है उसके समीप जानेमें रुकावट अनुभव करते हैं। इसलिये अध्यात्मका अनन्य साधक यदि भौतिक द्रव्यकी दलदलसे निर्विण्ण होता है, प्राणकी पशुतामयी स्थूलताके प्रति विद्रोह करता है अथवा मनकी आत्म-सीमित संकीर्णता और अधोमुखी दृष्टिसे अधीर हो उठता है, और वह इस सबसे अपना विच्छेद करनेका और अकर्म एवं निश्चलताके द्वारा आत्माकी अचल मुक्तिकी ओर प्रवृत्त होनेका निश्चय करता है, तो उसके अपने दृष्टिकोणसे यह उचित ही है। परंतु यही एकमात्र दृष्टिकोण नहीं है और यद्यपि अनेक तेजस्वी एवं वरिष्ठ महापुरुषोंने इसे बहुत ऊंचा स्थान दिया और महिमान्वित किया है तो भी इसे समग्र और अंतिम ज्ञान मान लेना आवश्यक नहीं है।

इसकी अपेक्षा उचित यह है कि हर प्रकारके आवेश और विद्रोहको दूर हटाकर हम यह देखें कि विश्वकी इस दिव्य व्यवस्थाका क्या अर्थ है: और आत्माका प्रतिषेध करनेवाली जड़-की जो यह महा-ग्रंथि है इसके संबंधमें हमारा कर्तव्य यह है कि हमें धैर्यके साथ इसके सूत्रों-को ढूंढ़ने और पृथक्-पृथक् करनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि हम यथार्थ समाधानके द्वारा इसे खोल सकें; आवेशमें या उतावलेपनमें इसे काट देना उचित नहीं होगा। हमें सब-से पहले कठिनाईका, विरोधका पूरी तरह, तीक्ष्णताके साथ, यदि आवश्यक हो तो कमी करनेके बजाय अत्युक्तिके साथ निरूपण करना चाहिये और फिर इसमेंसे निकलनेका पथ खोजना चाहिये।

इस प्रकार भौतिक द्रव्यका ब्रह्मके साथ पहला मूलभूत विरोध यह है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप (प्रज्ञानघन) है और भौतिक द्रव्य अज्ञानकी पराकाष्ठा है। यहां चेतनाने अपने कर्मोंके एक रूपमें अपने-आपको खो दिया और भुला दिया है; यह ठीक ऐसा है जैसे कि कोई मनुष्य किसी कर्मको करते समय उसमें अत्यंत लीन होकर न केवल यह भूल जाय कि 'मैं कौन हूं' अपितु यह भी भूल जाय कि "मैं हूं" और क्षण भरके लिये केवल जो कर्म हो रहा है वह कर्म और जो शक्ति उसे कर रही है वह शक्ति ही हो जाय। ब्रह्म स्वयं ज्योति है; वह शक्तिकी समस्त क्रियाओंके पीछे अनंत रूपमें अपने-आपको जानता है और उनका प्रभु है; परंतु भौतिक द्रव्यमें वह ऐसा प्रतीत होता है मानो वह विलुप्त हो गया हो और उसका लेश-मात्र भी अस्तित्व न हो; संभव है वह कहीं हो, किंतु यहां तो उसने केवल ऐसी जड़-मूढ़ और अचेतन भौतिक शक्तिको उपस्थित किया हुआ है जो सनातन रूपमें सृष्टि और विनाश

करती रहती है और यह नहीं जानती कि वह स्वयं क्या है, वह क्या सृष्टि करती है, सृष्टि करती ही क्यों है, अथवा जिसे उसने एक बार सृष्ट किया है उसका विनाश क्यों करती है। वह इसे नहीं जानती, क्योंकि उसके पास मन नहीं है; वह इसकी परवाह नहीं करती, क्योंकि उसके पास हृदय नहीं है। और हम यदि यह कहें कि यह भौतिक विश्वका भी यथार्थ स्वरूप नहीं है, इस मिथ्या जगत्के पीछे एक मन, एक इच्छा और मन या मानस-इच्छा-से महत्तर कोई तत्त्व है, तव भी यह काला सादृश्य तो है ही कि भौतिक विश्वकी रात्रिमें उससे प्रकट होनेवाली चेतनाको वह विश्व सत्य ही भासित होता है; और यदि हम यह कहें कि यह अनुभव सत्य नहीं है अपितु असत्य है, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह अत्यंत शक्तिशाली असत्य है, कारण यह हमारी व्यावहारिक सत्ताकी अवस्थाओंको नियत करता है और हमारी संपूर्ण अभीप्साओं और हमारे प्रयासोंपर घेरा डाले रहता है।

कारण मौलिक विश्वका यह एक अत्यंत विलक्षण राक्षसी कर्म, भीषण और निर्दय चमत्कार है कि इस मनहीन जड़से एक मन या, कम-से-कम असंख्य मन उद्भूत होते हैं; ये मन व्यक्तिगत रूपमें असहाय होकर प्रकाशके लिये दुर्वल प्रयास करते रहते हैं; वे तभी कम असहाय होते हैं जव कि वे आत्मरक्षार्थ विश्वके स्वधर्म-रूप महा-अज्ञानके मध्यमें अपनी व्यक्तिगत दुर्बलताओंको एक साथ मिला देते हैं, मिलकर एक साथ प्रयास करते हैं। इस हृदयहीन निश्चेतनसे और इसकी कठोर अधिकार-सीमाके भीतर ही हृदय उत्पन्न हुए हैं और ये इस लौह-सत्ताकी अंध और संवेदन-हीन क्रूरताके बोझके नीचे अभीप्सा करते हैं, यंत्रणा भोग करते हैं और अपना रक्त बहाते हैं; यह क्रूरता अपने नियमको उनपर लादती है और उन्हें संवेदना होनेके कारण यह क्रूरता नृशंस, भीषण, भयंकर अनुभूत होती है।

परंतु अंतमें, इन प्रतीतियोंके पीछे कौन पदार्थ है जो कि रहस्यमय जैसा जान पड़ता है? हम देख सकते हैं कि वह चेतना है जो कि अपने-आपको खोकर फिर प्राप्त कर रही है, अपनी अतिमहती आत्म-विस्मृतिसे धीरे-धीरे, कष्टके साथ उन्मज्जन कर रही है; यह अपनी आत्म-निद्रासे ऐसे प्राणके रूपमें जागृत हो रही है जो कि प्रारंभमें संवेदन क्षमताको छिपाये रखता है। इसके अनंतर वह अर्ध-संवेदनक्षम, अस्पष्टतया संवेदनक्षम, पूर्णतया संवेदनक्षम हो जाता है और अंतमें संवेदनक्षमसे अधिक होनेके लिये, पुनः दिव्य रूपमें आत्म-चेतन, मुक्त, अनंत और अमर होनेका प्रयास करता है। परंतु उसे यह कार्य उस नियमके आधीन करना होता है जो कि इन सबका विरोधी है, भौतिक द्रव्यकी अवस्थाओंके आधीन, अर्थात् अज्ञानके बंधनके विरोधमें करना होता है। उसे जो कर्म करने होते हैं, जिन उपकरणोंका उपयोग करना होता है उनका निर्धारण करनेवाला और बनानेवाला यह जड़ और विभक्त भौतिक द्रव्य ही है और वे उसपर पद-पदपर अज्ञान और परिच्छिन्नताको लादते हैं।

कारण भौतिक द्रव्यका आत्माके प्रति दूसरा मूलभूत विरोध यह है कि यह यांत्रिक नियमके प्रति बंधनकी पराकाष्ठा है और इस बंधनसे मुक्त होनेका जो भी प्रयत्न किया जाता है उसके विरोधमें यह भीषण जड़ता (तामसिकता) को उपस्थित कर देता है। यह वात नहीं है कि भौतिक द्रव्य स्वरूपतः निश्चेष्ट है; इसके वजाय इसमें एक ऐसी अनंत गति, ऐसी

अचिंत्य शक्ति, ऐसा असीम कर्म है कि इसकी अद्भुत क्रियायें निरंतर हमारी प्रशंसाकी पात्र रही हैं। परंतु एक ओर जहां ब्रह्म स्वतंत्र है, अपना और अपने कर्मोंका प्रभु है, इनके बंधनमें नहीं है, नियमका बनानेवाला है, उसके अधीन नहीं है, वहां दूसरी ओर यह विशाल जड़ द्रव्य एक ऐसे स्थिर और यांत्रिक नियमसे जकड़ा हुआ है जो कि इसके ऊपर लादा हुआ है, जिसे यह न तो समझता है न जिसकी इसने कभी परिकल्पना की है, यह उस नियमको अचेतन भावसे इस प्रकार कार्यान्वित करता है जैसे कि कोई यंत्र कार्य करता है; वह यह नहीं जानता कि किसने उस नियमको उत्पन्न किया है, किस प्रकार और किस उद्देश्यसे किया है।

एक समय आता है जब कि भौतिक द्रव्यमें प्राण उद्बुद्ध होता है और वह अपने-आपको भौतिक रूप (पदार्थ) और भौतिक शक्तिपर आरोपित करनेका प्रयास करता है; तब वह समस्त पदार्थोंका अपनी इच्छाके अनुसार और अपनी आवश्यकताकी पूर्त्तिके लिये उपयोग करनेका प्रयत्न करता है। इसके अनंतर मन उद्बुद्ध होता है और वह यह जाननेका यत्न करता है कि वह स्वयं और समस्त पदार्थ क्या है, इन सबका स्रष्टा कौन है, वह क्यों सृष्टि करता है और किस विधि से करता है; इन सबके अतिरिक्त वह अपने ज्ञानका उपयोग अपने अधिक स्वतंत्र नियम और आत्म-पथप्रदर्शक कर्मको भौतिक पदार्थोंपर आरोपित करनेके लिये करता है।

ऐसी अवस्थामें भौतिक प्रकृति आत्मसमर्पण करती, यहांतक कि अनुमोदन करती और सहायता देती जान पड़ती है, यद्यपि कुछ संघर्ष करनेपर, अनिच्छासे और कुछ सीमातक ही। परंतु उस सीमासे आगे वह एक हठी जड़ता, बाधा, निषेधको उपस्थित करती है। मन और प्राणको यह माननेके लिये विवश करती है कि वे आगे नहीं बढ़ सकते और जिस आंशिक विजयको उन्होंने प्राप्त किया है उसे अंततक वे नहीं बढ़ा ले जा सकते। प्राण अपने-आपको लंबा और दीर्घजीवी करनेका प्रयत्न करता है और सफल होता है, किंतु जब वह पूर्ण विस्तार और अमरताके लिये चेष्टा करता है तो उसे भौतिक द्रव्यकी ओरसे लौह-बाधाका सामना करना पड़ता है और वह अपने-आपको संकीर्णता और मृत्युमें जकड़ा हुआ पाता है।

मन प्राणको इस कार्यमें सहायता देनेका प्रयत्न करता है; इसके साथ-साथ वह संपूर्ण ज्ञानको ग्रहण करने, पूर्ण ज्योतिर्मय होने, सत्यको ग्रहण करने और सत्य होने, प्रेम और हर्षको आरोपित करने और स्वयं प्रेमरूप और हर्षरूप होनेके अपने अंतर्वेगको परिपूर्ण करनेका भी प्रयत्न करता है; किंतु इस कार्यमें सर्वदा भौतिक प्राणिक सहज-प्रवृत्तियोंके विचलन, विपर्यय और स्थूलता बाधा डालते हैं, इसके साथ-साथ भौतिक इन्द्रियां और शारीरिक अंग भी प्रतिषेध और बाधा उपस्थित करते हैं। मिथ्या ज्ञान सदा इसके ज्ञानके पीछे लगा रहता है, अंधकार इसके प्रकाशका सदा अपृथक्करणीय साथी और पृष्ठभूमि है; सत्यका सफलतापूर्वक अन्वेषण कर लिया जाता है, किंतु जब उसे ग्रहण किया जाता है तो वह सत्य नहीं रहता और अन्वेषणको चालू रखना पड़ता है। प्रेम है किंतु वह अपने-आपको संतुष्ट नहीं कर सकता; हर्ष है किंतु वह अपना औचित्य सिद्ध नहीं कर सकता; और इनमेंसे प्रत्येकके पीछे प्रत्येकके अपने विरोधी भाव, क्रोध, घृणा एवं उदासीनता और अतितृप्ति, शोक एवं दुःख शृंखला या छायाके

रूपमें लगे रहते हैं। जिस जड़ता (तामसिकता) के साथ भौतिक द्रव्य मन और प्राणकी मांगोंका प्रत्युत्तर देता है वह अज्ञान और जड़ शक्तिपर जो कि अज्ञानकी ही शक्ति है, विजय-को रोकती है।

और जब हम यह जाननेका प्रयत्न करते हैं कि ऐसा क्यों है तो हम देखते हैं कि इस जड़ता और बाधाकी सफलताका कारण है भौतिक द्रव्यकी तीसरी शक्ति; कारण ब्रह्मके प्रति भौतिक द्रव्यकी ओरसे तीसरा मूलभूत विरोध यह उपस्थित किया जाता है कि यह विभाग और संग्रामकी पराकाष्ठा है। यद्यपि अपने यथार्थ स्वरूपमें यह अविभक्त है किंतु इसके कर्मका संपूर्ण आधार विभाग है जिसे छोड़नेके लिये इसे सदाके लिये मना किया गया जान पड़ता है। कारण इसके संयुक्त होनेकी दो विधियां हैं: इनमें प्रथम है एककोंका एकत्रीकरण और, दूसरी है आत्मसात्करण जिसमें कि एक एककका दूसरेके द्वारा विनाश किया जाता है और संयोगकी ये दोनों विधियां सनातन विभागको स्वीकार करती हैं, कारण पहली विधि भी एकीभूत करनेकी अपेक्षा संघटित करती है और अपने इस मूल स्वरूपसे ही विघटनकी, विलयन-की सतत संभावनाको और परम आवश्यकताको अंगीकार करती है।

ये दोनों विधियां मृत्युका आश्रय ग्रहण करती हैं, एक साधन रूपमें और दूसरी जीवन-के अवबंधके रूपमें। और दोनों यह भी सूचित करती हैं कि विश्व-सत्ताके लिये आवश्यक है विभक्त एककोंका एक-दूसरेके साथ निरंतर संग्राम; प्रत्येक एकक अपने-आपको बनाये रखने-के लिये, अपने संघटनोंको बनाये रखनेके लिये प्रयास करता है, जो इसका प्रतिरोध करता है उसे अपने वशमें करने या उसका विनाश करनेका प्रयास करता है। दूसरोंको आहार रूपमें अपने भीतर लेने और भक्षण कर जानेका प्रयास करता है; किंतु यदि कोई दूसरा एकक उसे अपने आधीन करने, उसका विनाश करने या भक्षण करके आत्मसात् करनेका प्रयास करता है तो वह इनके प्रति विद्रोह करता है और इनसे दूर भागना चाहता है।

जिस समय प्राण-तत्त्व जड़तत्त्व में अपनी क्रियाओंको अभिव्यक्त करता है, तो उसे अपनी समस्त क्रियाओंके लिये केवल यही आधार मिलता है और विवश होकर इसके जूएके नीचे सिर झुकाना पड़ता है। उसे मृत्यु, कामना एवं परिच्छिन्नता-रूप धर्मको और भक्षण करने, अधिकृत करने और प्रभुत्व करनेके उस सतत संग्रामको, जिसके विषयमें हम कह चुके हैं कि यह प्राणका पहला रूप है, स्वीकार करना पड़ता है। और जब भौतिक द्रव्यमें मनस्तत्त्व अभिव्यक्त होता है तो उसे उस उपादानसे और उससे बनी देहसे जिनमें कि उसे कर्म करना पड़ता है उसी परिच्छिन्नता-तत्त्वको स्वीकार करना पड़ता है; वह खोज करता है किंतु उसे जो प्राप्त होता है वह सुरक्षित, सुनिश्चित नहीं होता; उसके लाभोंमें और उसके कार्योंमें वही सतत संघटन और विघटन रहता है, इन कारणोंसे मनुष्य, मनोमय प्राणी, जिस ज्ञानको प्राप्त करता है वह कभी भी अंतिम या संदेह और प्रतिषेधसे रहित नहीं जान पड़ता है; उसका संपूर्ण प्रयास क्रिया एवं प्रतिक्रिया और निर्माण एवं विनाशकी पुनरावृत्तिमें, रचना, स्वल्प रक्षा और दीर्घ विनाशके चक्रोंमें गति करता प्रतीत होता है और कुछ भी सुनिश्चित प्रगति नहीं जान पड़ती।

विशेषकर और अत्यंत विनाशकारी रूपमें भौतिक द्रव्यके अज्ञान, जड़ता और विभाग उसमें उन्मज्जित होनेवाली प्राणिक और मानसिक सत्ताके ऊपर दुःखरूप धर्मको, अतृप्ति-जन्य अशांतिको और विभाग, जड़त्व और अज्ञानकी अवस्थाको स्थापित करते हैं। निःसंदेह, यदि मनोमयी चेतना पूर्णतया अज्ञ हो, यदि वह किसी रिवाजके खोलमें तृप्त होकर ठहर सके, स्वयं अपने अज्ञानसे अज्ञ हो अथवा चेतना और ज्ञानके उस अनंत सागरसे अज्ञ हो जिससे कि वह घिरी हुई रहती है, तो निश्चय ही अज्ञान अतृप्तिरूप दुःखको उत्पन्न नहीं करेगा। परंतु भौतिक द्रव्यमें उन्मज्जित होती हुई चेतना इसके प्रति ही जागृत होती है; पहले वह उस जगत्के अज्ञानके प्रति जागृत होती है जिसमें कि वह रहती है और जिसे कि उसे सुखी होनेके लिये जानना और आधीन करना है। दूसरे वह इस ज्ञानकी अंतिम निष्फलता और परिच्छिन्नताके प्रति, उससे प्राप्त होनेवाली शक्ति और सुखकी स्वल्पता एवं अस्थिरताके प्रति और अनंत चेतना, ज्ञान, सच्चे आत्माके प्रति, केवल जिसमें विजय और अनंत सुख मिल सकता है, जागृत होती है। जड़ताकी वाधासे असंतुष्टि और अशांति न आयें और यदि भौतिक द्रव्यमें उन्मज्जित होनेवाली प्राणिक संवेदन-शक्ति पूर्णतया जड़ (मूढ़) हो; यदि उसे उसकी अर्ध-चेतन सीमित सत्तामें संतुष्ट रखा जा सके; जिस अनंत शक्ति और अमर सत्तामें, उसका अंग होते हुए भी उससे पृथक् रूपमें वह रहती है, उसका यदि उसे ज्ञान न हो; अथवा यदि उस अनंतता और अमरतामें यथार्थतः भाग लेनेके लिये प्रयास करनेकी प्रेरणा करनेवाली उसके भीतर कुछ भी वस्तु न हो। परंतु संपूर्ण प्राण प्रारंभसे यही अनुभव करने और खोजनेके लिये—अपनी अरक्षा एवं आवश्यकताको अनुभव करने और अपने स्थायित्व एवं आत्म-संरक्षणके लिये संग्राम करनेको प्रेरित किया जाता है। वह अंतमें अपनी सत्ताकी परिच्छिन्नताके प्रति जागृत होता है और विशालता एवं स्थायित्वकी ओर, अनंत और नित्य (अमरता) की ओर प्रेरणाका अनुभव करने लगता है।

जब मनुष्यमें प्राण पूर्णतया आत्म-चेतन हो जाता है तो यह अपरिहार्य संग्राम, प्रयास और अभीप्सा अपनी पराकाष्ठाको पहुंच जाते हैं। और संसारके दुःख और वैषम्य अंतमें अधिक उग्रताके साथ अनुभूत होते हैं जिससे कि संतोषके साथ उन्हें सहन करना असंभव हो जाता है। यह हो सकता है कि मनुष्य दीर्घकालतक अपनी परिच्छिन्नताओंमें संतुष्ट रहकर अपनेआपको शांत रखे; वह अपने प्रयासको, जिस भौतिक जगत्में वह निवास करता है उसके ऊपर जितना भी संभव हो उतना प्रभुत्व प्राप्त करनेतक सीमित रख सकता है; वह अपने प्रगतिशील ज्ञानके द्वारा जगत्की निश्चेतन स्थिरताओंपर कुछ मानसिक और शारीरिक विजय प्राप्त कर सकता है; वह भौतिक जगत्की जड़रूपसे क्रिया करनेवाली प्रचंड शक्तियोंपर अपनी स्वल्प, एकाग्र सचेतन इच्छा और शक्तिको विजयी बना सकता है और इन सबमें संतुष्ट होकर रह सकता है।

परंतु जो भी महान्से महान्तम सफलतायें वह यहां प्राप्त करता है उनमें भी उसे परिच्छिन्नता और अनिश्चितता दिखायी देती है और उसे इनसे परे दृष्टि ले जानेके लिये विवश होना पड़ता है। सांत व्यक्तिको जबतक अपनी अपेक्षा किसी महत्तर सांतका अथवा अपनेसे

परे किसी ऐसे अनंतका ज्ञान है कि जिसकी वह अभीप्सा कर सकता है, तबतक वह सदाके लिये संतुष्ट नहीं रह सकता। यह संभव है कि जो वस्तुतः सांत है वह इस प्रकार संतुष्ट हो जाय किंतु जो केवल आपाततः सांत है और अपने-आपको यथार्थतः अनंत संप्रतीत करता है अथवा केवल अपने भीतर अनंतकी उपस्थितिको अथवा उसके अंतर्वेग और उत्तेजनाको अनुभव करता है वह तबतक संतुष्ट नहीं रह सकता जबतक कि ये दोनों सुसमंजस नहीं हो जाते, जबतक कि सांत उस अनंतको अधिकृत न कर ले और अनंत सांतको अधिकृत न कर ले, चाहे यह कितनी भी मात्रामें और किसी भी विधिसे क्यों न हो।

मनुष्य ऐसा ही सांत प्रतीत होनेवाला अनंत है और वह अनंतका अन्वेषण किये बिना नहीं रह सकता। वह पृथ्वीका सबसे पहला ऐसा पुत्र है जो कि अपने भीतर ईश्वरका, अपनी अमरताका अथवा अपनी अमरताकी आवश्यकताका अस्पष्टतया अनुभव करता है; और जबतक मनुष्य इस अस्पष्ट ज्ञानको अनंत ज्योति, हर्ष और शक्तिके स्रोतके रूपमें परिणत नहीं कर लेता तबतक यह अस्पष्ट ज्ञान ही ऐसा कोड़ा है जो उसे आगे चलाता है और हर प्रकारका बलिदान करनेको विवश करता है।

भौतिक द्रव्यके अज्ञान और जड़ता (मूढ़ता) में अपने-आपको खोई हुई दिव्य चेतना और शक्ति, ज्ञान और इच्छाकी यह क्रमिक वृद्धि, यह बढ़ती हुई अभिव्यक्ति एक हर्षसे महत्तर हर्ष-की ओर और अंतमें अनंत आनंदकी ओर प्रगति करनेवाले विकासके समान हो सकती है, यदि इसमें बाधा डालनेवाला कठोर विभाग-तत्त्व, जिससे कि भौतिक द्रव्य प्रारंभ होता है, न हो। व्यक्तिका पृथक् और परिच्छिन्न मन, प्राण और शरीरकी स्वयं अपनी व्यक्तिगत चेतना-में अपने-आपको बंद कर लेना हमारे स्वाभाविक विकासमें बाधा डालता है। यह शरीरमें आकर्षण और विकर्षण, प्रतिरक्षा और आक्रमण, विषमता और पीड़ारूप धर्मको लाता है। कारण प्रत्येक शरीर एक परिच्छिन्न चेतन-शक्ति होनेके कारण अपने विषयमें यह संप्रतीत करता है कि वह अपने समान दूसरी परिच्छिन्न चेतन-शक्तियोंके या वैश्व-शक्तियोंके आक्रमण, आघात और बलशाली संपर्कके प्रति खुला है। और जब कभी वह बाहरसे आक्रमण होनेपर भग्न हुआ संप्रतीत करता है अथवा बाहरसे संसर्ग करनेवाली और उसे ग्रहण करनेवाली चेतना-के साथ सामंजस्य करनेमें असमर्थ होता है तो वह अशांति और पीड़ाका अनुभव करता है, तब वह आकृष्ट या विकृष्ट होता है, अपनी रक्षा करनेको बाध्य होता है या आक्रमण करनेके लिये; जिसे वह सहन नहीं करना चाहता अथवा सहन करनेमें असमर्थ होता है उसे ही सहन करनेके लिये वह निरंतर विवश किया जाता है। विभागधर्म हृदय और इन्द्रिय-मनमें उन्हीं प्रतिक्रियाओंको ऊंचे रूपमें लाता है; वहां इनका रूप होता है हर्ष और शोक, प्रेम और घृणा, दमन और अवसाद; ये सब कामनाके सांचेमें ढाले जाते हैं और कामनाके द्वारा प्रयास और अतिप्रयासमें बदल जाते हैं; फिर अतिप्रयाससे अतिशक्ति और अल्पशक्ति, असामर्थ्य, प्राप्ति और निराशा, अधिकृत करने और विमुख होने, निरंतर संघर्ष, कष्ट और व्याकुलताके उतार-चढ़ावमें पलट जाते हैं। संपूर्ण मन के क्षेत्रमें भी विभाग-धर्मका कार्य देखा जाता है।

ऐसा अतिमानसिक प्राणी, जैसा कि हम देख चुके हैं, मनको उसकी विभक्त सत्ताकी ग्रंथि-से मुक्त करेगा और मनके व्यक्तिगत रूपका सर्वपरिग्राही अतिमनके केवल उपयोगी उपाश्रित कर्मके रूपमें उपयोग करेगा। वह प्राणको भी उसकी विभक्त सत्ताकी ग्रंथिसे मुक्त करेगा और प्राणके व्यक्तिगत रूपका उस एकतमा चित्-शक्तिके केवल एक उपयोगी उपाश्रित कर्मके रूपमें उपयोग करेगा जो चित्-शक्ति अपने सत् और आनंदको विविधभावापन्न ऐक्यमें परिपूर्ण करती है। तब फिर इस बातका कोई हेतु नहीं जान पड़ता कि वह अतिमानसिक प्राणी अपने शरीरको भी वर्तमानकालीन मृत्यु, विभाग और परस्पर भक्षण-रूप धर्मसे क्यों न मुक्त करे; वह व्यक्ति शरीरका एकतम दिव्य चेतन-सत्के केवल एक उपयोगी उपाश्रित द्रव्यके रूपमें क्यों न उपयोग करे और उसे सांतमें अनंतके आनंदकी सेवाका उपकरण क्यों न बनाये? अथवा इसका भी कोई हेतु नहीं है कि वह आत्मा (ब्रह्म) इस देहपर प्रभुत्वमय अधिकार करनेमें स्वतंत्र क्यों न हो, भौतिक द्रव्यके बने इस वस्त्र (देह) का परिवर्तन करते हुए भी अमरताकी चेतना क्यों न रखे, इस जगत्को ऐक्य, प्रेम और सौन्दर्य-रूप धर्मके आधीन करके इसमें अपने स्वरूपानंदका क्यों न अनुभव करे? और यदि पृथ्वीलोकके निवासियोंमें मनुष्य ही वह प्राणी हो जिसके द्वारा मनका अतिमनमें वह रूपांतर सिद्ध किया जा सकता हो, तो क्या यह संभव नहीं है कि वह दिव्य मन और दिव्य प्राणके साथ-साथ दिव्य शरीरका भी विकास कर ले? अथवा यदि मानवीय शक्यताके विषयमें हमारी जो वर्तमान सीमित धारणाएं हैं उनके अनु-सार ये वचन अत्यधिक आश्चर्यजनक प्रतीत होते हों, तो क्या मनुष्य अपने सच्चे आत्मा और उसके प्रकाश, हर्ष और शक्तिका वर्धन करता हुआ ऐसी अवस्थामें नहीं पहुंच सकता जब कि वह मन, प्राण और शरीरका ऐसा दिव्य उपयोग करने लगे कि जिसके द्वारा ब्रह्मका रूपमें अवतरण मानव-रूपसे और दिव्य रूपसे दोनों प्रकारसे उचित सिद्ध हो?

इस अंतिम पार्थिव संभावनाके मार्गमें एक वस्तु बाधक हो सकती है; वह यह है कि भौतिक द्रव्य, और उसके धर्मोंके विषयमें जो हमारा वर्तमान दृष्टिकोण है वही यदि एकमात्र सत्य हो; इन्द्रिय (ज्ञान-शक्ति) और द्रव्यमें, प्रमाता ब्रह्म और प्रमेय ब्रह्मके बीचमें जिस संबंधको हम साधारणतया मानते हैं वही यदि एकमात्र संबंध हो; अथवा यदि दूसरे संबंध संभव हों किंतु वे यहां संभव न हों अपितु उन्हें सत्ताके उच्चतर स्तरोंमें (दूसरे लोकोंमें) प्राप्त किया जा सकता हो। ऐसी अवस्थामें हमें अपनी पूरी दिव्य परिपूर्णताको पृथ्वीसे ऊपरके दिव्य लोकोंमें ही प्राप्त करना होगा, जैसा कि अनेक धर्म-संप्रदाय कहते हैं। तब तो पृथ्वीपर ईश्वरके साम्राज्य अथवा सिद्ध मनुष्योंके साम्राज्यसे संबंध रखनेवाले इन धर्मोंके दूसरे वचनोंको मूढ़-वचन मानकर उनका परित्याग कर देना होगा।

इसका परिणाम यह होगा कि पृथ्वीपर हम केवल आंतरिक तैयारी या विजयको ही प्राप्त कर सकते हैं; हमें अपने मन, प्राण और अंतरात्माको भीतरमें मुक्त करना होगा और फिर अजित और अजेय जड़ तत्त्वका, असंशोधित और अदम्य पृथ्वीका परित्याग करना होगा और इनसे कहीं बाहर जाकर अपने दिव्य उपादानको पाना होगा। परंतु हमारे लिये इस संकीर्ण परिणामको स्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। पूर्ण निश्चयताके साथ यह कहा जा सकता

है कि स्वयं भौतिक द्रव्यकी भी दूसरी अवस्थायें हैं; इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि द्रव्यके दिव्य रूपोंकी आरोहण करती हुई एक श्रेणी-परंपरा है। यह संभावना है कि भौतिक द्रव्य (देह) स्वयं अपने धर्मके बजाय, एक उच्च धर्मको स्वीकार करके अपना रूपांतर कर ले; कारण वह धर्म स्वयं उसकी सत्ताके गुह्य भागमें (**गहने गभीरे**) सर्वदा अंतर्निहित और शक्यताके रूपमें रहता है, इसलिये वह उसका अपना ही धर्म (स्वधर्म) है।

***

अध्याय २६

द्रव्यकी उर्ध्वगामी क्रमपरंपरा

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। ..... अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। ..... अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। ..... अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। ..... अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः।

एक आत्मा भौतिक द्रव्यका सारूप है। ..... इससे भिन्न प्राणमय अंतरात्मा है जो कि पहले आत्माको पूर्ण (व्याप्त) करता है। ..... इससे भिन्न मनोमय अंतरात्मा है। .. इससे भिन्न अंतरात्मा विज्ञानमय (सत्य ज्ञानमय) है। ..... इससे भिन्न आनंदमय अंतरात्मा है।

—तैत्तिरीयोपनिषद् २। २–५॥

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥
यत् सानोः सानुमारुहद्भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति ....॥

वे सीढ़ीके समान इन्द्रपर चढ़े। जब कोई एक चोटीसे दूसरी चोटीपर चढ़ता चला जाता है तो उसे यह अधिक स्पष्ट हो जाता है कि कितना करना शेष है। इन्द्र यह चेतना लाता है कि वह तत् लक्ष्य है।

—ऋग्वेद १। १०।१, २॥

चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥
मर्यो न शुभ्रस्तन्वं मृजानोऽत्यो न सृत्वा सनये धनानाम्।
वृषेव यूथा परि कोशमर्षन् कनिक्रदच्चम्वो३रा विवेश॥

श्येनके समान, गरुड़के समान वह पात्रपर स्थित होता है और उसे ऊपर उठाता है; अपनी गतिधारामें वह किरणोंका आविर्भान करता है, कारण वह अपने शस्त्रोंको धारण किये हुए गति करता है। वह जलोंकी समुद्र-ऊर्मिसे संसक्त होता है; महेश रूपमें वह चतुर्थ धामकी घोषणा करता है। मरणशील मनुष्य जैसे अपने शरीरको शुद्ध करता है, युद्ध-अश्व जैसे धनोंको जीतनेके लिये दौड़ता है, उसी प्रकार वह आवाहन करता हुआ इन समस्त कोशोंमें अपने-आपको उंडेलता है और इन पात्रोंमें प्रविष्ट होता है।

—ऋग्वेद ९ । ९६ । १९,२० ॥

जब हम यह विचार करते हैं कि भौतिक द्रव्यका वह कौनसा धर्म है जो कि हमारे सामने उसकी भौतिकताको सबसे अधिक प्रकट करता है तो हम देखते हैं कि वह है उसकी घनता (ठोसपन), बढ़ती हुई प्रतिरोध करनेकी शक्ति, स्पर्शयोग्यता और इंद्रिय-स्पर्श होनेपर दृढ़ताके साथ प्रत्युत्तर देनेकी सामर्थ्य। जो द्रव्य जितना अधिक ठोस प्रतिरोध प्रकट करता है वह उतना ही अधिक सच्चे रूपमें भौतिक और यथार्थ प्रतीत होता है; और उस ठोस प्रति-रोधके अनुसार उसके इंद्रिय-ग्राह्य रूपका वह स्थायित्व होता है जिसपर कि हमारी चेतना ठहर सकती है। वह जितना अधिक सूक्ष्म होता है, जितना कम ठोस प्रतिरोध प्रकट करता है और इंद्रियोंको जितना कम स्थायी ज्ञात होता है, वह हमें उतना ही कम भौतिक जान पड़ता है। भौतिक द्रव्यके प्रति जो हमारी साधारण चेतनाकी यह भावना है यह उस मूलभूत उद्देश्यकी प्रतीक है जिसके लिये इसकी सृष्टि की गयी है। सच्चिदानंदका सद्रूप मूल द्रव्य भौतिक अवस्थाको इस कारण प्राप्त होता है कि उस रूपमें वह अपनेसे व्यवहार करनेवाली चेतनाके सामने ऐसे स्थायी, दृढ़तापूर्वक पकड़में आनेवाले ठोस रूप उपस्थित कर सके जिनपर मन स्थिर हो सके और जिन्हें वह अपने कार्योंका आधार बना सके; इसके अतिरिक्त, प्राण उन मूर्त्त रूपोंको कम-से-कम इस सापेक्ष निश्चयतासे ग्रहण कर सके कि जिस रूपपर वह क्रिया करता है उसमें स्थायित्व है।

इसलिये प्राचीन वैदिक भाषामें पृथ्वीको, जो कि द्रव्यकी अधिक ठोस अवस्थाओंका आदर्श-रूप है, भौतिक तत्त्वका प्रतीकात्मक नाम माना गया था। इसी कारण स्पर्श या संपर्क हमारे लिये इंद्रिय-ज्ञानका मूलभूत आधार है। स्पर्शके अतिरिक्त रस, घ्राण, श्रवण, दर्शन आदि इन सब इंद्रिय ज्ञानोंके लिये द्रष्टा और दृश्यके बीच अधिकाधिक सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष संस्पर्शकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार सांख्यमें आकाशसे लेकर पृथ्वीतक जो पांच भूतोंका श्रेणी-विभाग किया गया है उसमें हम देखते हैं कि वहां अधिक सूक्ष्म से कम सूक्ष्मकी ओर निरंतर प्रगति होती है; इसके परिणामस्वरूप वहां एक ओर शिखरपर आकाश-तत्त्वके स्पंदन हैं और दूसरी ओर नीचे पार्थिव या ठोस तत्त्वकी स्थूल घनता है। इसलिये शुद्ध द्रव्य अपने शिखरसे जब नीचेकी ओर प्रगति करता है तो उसकी अंतिम अवस्था, हमारे ज्ञानके अनुसार, भौतिक द्रव्य है; यह ऐसी अवस्था है जो कि विश्वके साथ चेतनाके संबंधका आधार है; हम यह कह

सकते हैं कि इस संबंधमें पहला शब्द ब्रह्म नहीं है अपितु रूप है; और यह ऐसा रूप है जहां कि घनता, प्रतिरोध, स्थायी स्थूल पिंडभाव, पारस्परिक अप्रवेश अधिकतम संभावित विकासावस्थामें हैं; यह विभेद, पार्थक्य और विभागकी पराकाष्ठा है। भौतिक विश्वका यही उद्देश्य और स्वभाव है; यह पूर्णताको प्राप्त हुए विभागका निर्दिष्ट स्वरूप है।

और भौतिक द्रव्यसे ब्रह्मतक यदि द्रव्यके स्वरूपकी आरोहण करती हुई क्रमपरंपरा हो, और पदार्थोंका जैसा स्वरूप है उसके अनुसार वह होनी ही चाहिये, तो उसमें वे विशेषताएं जो कि भौतिक द्रव्यकी अधिकतम स्वभावभूत हैं, उत्तरोत्तर कम होती जानी चाहियें और इनकी विरोधी विशेषताएँ जो कि हमें शुद्ध आत्मिक आत्म-विस्तारपर पहुँचा देंगी, उत्तरोत्तर बढ़ती जानी चाहियें। इसका यह तात्पर्य है कि भौतिक द्रव्यसे ऊपरकी ओर क्रमशः आरोहण करते हुए द्रव्योंमें भौतिक द्रव्यकी अपेक्षा रूपका बंधन कम होता जायगा; द्रव्य और शक्ति अधिकाधिक सूक्ष्म और नमनशील होते जायंगे; उनमें पारस्परिक अंतःप्रवेश, अंतर्मिश्रण, आत्मसात् करनेकी शक्ति, आदान-प्रदानकी शक्ति, विविधताकी शक्ति, रूपांतर और एकीकरणकी शक्ति अधिकाधिक बढ़ती जायेंगी।

रूपके स्थायित्वसे दूर हटते हुए हम मूलतत्त्वकी नित्यताकी ओर जाते हैं; भौतिक द्रव्यके दृढ़ पार्थक्य और प्रतिरोधमें जो हमारी स्थिति है उससे दूर हटते-हटते हम ब्रह्मकी अनंतता, एकता और अविभक्तताकी उच्चतम दिव्य स्थितिके समीप पहुंचते हैं। स्थूल द्रव्य और शुद्ध आत्म-द्रव्यमें यह मूलभूत वैधर्म्य होना ही चाहिये। भौतिक द्रव्यमें चित् या चिच्छक्ति अपने-आपको इस प्रकार घनीभूत करती है कि जिससे उसका एक पिंड उसके अपने ही दूसरे पिण्डोंका अधिकाधिक प्रतिरोध करे और उनके विरोधमें खड़ा हो। द्रव्यमें शुद्ध चेतना अपने आत्मभावके अंदर अपने-आपको स्वतंत्रतापूर्वक प्रतिबिंबित करती है और उसके साथ एक मूलभूत अविभाग और सतत एकीकरणात्मक आदान-प्रदानको बनाये रखती है जो स्वयं उसकी ही अपनी शक्तिकी अत्यंत विभेदात्मक क्रीड़ाका भी मूल होता है। इन दो सिरोंके बीचमें अनंत भूमिकाओंकी संभावना है।

ये विचार उस समय बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं जब कि हम सिद्ध मनुष्यके दिव्य प्राण और दिव्य मन तथा अतिस्थूल एवं आपाततः अदिव्य शरीर अथवा जिस भौतिक सत्तामें हम वास्तवमें रहते हैं उसके धर्मके बीचके संबंधपर विचार करते हैं। भौतिक सत्ताका जो धर्म है वह इंद्रिय और द्रव्यके बीचमें एक विशेष निश्चित संबंधका परिणाम है जिससे कि भौतिक विश्व उत्पन्न होता है। परंतु यह संबंध ही एकमात्र संबंध नहीं है और इसलिये वह धर्म भी एकमात्र संभव धर्म नहीं है। प्राण और मन अपने-आपको द्रव्यके साथके दूसरे संबंधमें भी प्रकट कर सकते हैं; वे भिन्न प्रकारके भौतिक नियमोंको, दूसरे और विशालतर अभ्यासोंको व्यक्त कर सकते हैं; वे भिन्न प्रकारके ऐसे शारीरिक द्रव्यको भी व्यक्त कर सकते हैं जिसमें इंद्रिय, प्राण और मन अधिक स्वतंत्र रूपसे क्रिया कर सकते हैं।

हमारी भौतिक सत्ताके धर्म हैं मृत्यु, विभाग और एक ही सचेतन प्राण-शक्तिके भिन्न-भिन्न सदेह पिंडोंमें एक-दूसरेका प्रतिरोध और व्यावर्त्तन। ये धर्म पशु-देहमें व्यक्त होकर अपने

जूएको उच्च तत्वोंपर रखते हैं; तब इनके प्रभावसे इंद्रियोंकी क्रिया परिच्छिन्न हो जाती है; प्राणकी क्रियाओंके क्षेत्र, अवधि और शक्ति एक संकीर्ण परिधिके भीतर नियत हो जाते हैं, मनकी क्रिया अंधकारमयी, स्खलनशील, खण्डात्मक और परिसीमित हो जाती है। परंतु यही वस्तुएं विश्व-प्रकृतिके एकमात्र संभव रूप नहीं हैं। इनसे उत्कृष्ट भूमिकाएँ हैं और इनसे ऊंचे लोक हैं। यदि मनुष्य इस प्रकारकी उन्नति कर ले और हमारा द्रव्य अपनी वर्तमान परिच्छिन्नताओंसे इस प्रकार मुक्त किया जा सके कि इन श्रेष्ठ भूमिकाओं और उच्च लोकोंके धर्मको इस इंद्रियग्राह्य द्रव्य और हमारी सत्ताके उपकरण (देह) पर स्थापित किया जा सके, तो यहां पृथ्वीपर ही दिव्य मन और दिव्य इंद्रियकी भौतिक क्रिया हो सकती है, मानव ढांचेमें दिव्य प्राणकी भौतिक क्रिया हो सकती है और पृथ्वीपर एक ऐसी वस्तुका विकास भी हो सकता है जिसे कि हम दिव्य मानव-देह कह सकते हैं। यह भी संभव है कि किसी दिन मनुष्यकी देह ही रूपांतरित होकर दिव्य बन जाय; पृथ्वी माता भी हमारे भीतर अपने देवत्व-को प्रकट कर दे।

भौतिक विश्वके भीतर भी भौतिक द्रव्यकी एक आरोहण करती हुई क्रम-परंपरा है जो कि हमें अधिक सघनसे कम सघनकी ओर, कम सूक्ष्मसे अधिक सूक्ष्मकी ओर ले जाती है। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि जब हम उस परंपराकी उच्चतम अवस्थापर, भौतिक द्रव्यकी अथवा भौतिक शक्तिकी उस अत्यधिक सूक्ष्मतापर पहुंच जाते हैं जो कि आकाशसे अतीत है, तो उससे परे क्या होता है? वहां शून्य नहीं है; कारण अत्यंत शून्य या यथार्थ शून्य नामकी कोई वस्तु नहीं है; शून्य नामसे जिसे हम पुकारते हैं वह केवल ऐसी वस्तु है जो कि हमारी इंद्रिय, हमारे मन और हमारी अत्यंत सूक्ष्म चेतनाकी ग्राह्यतासे परे है। यह भी सत्य नहीं है कि उससे परे कुछ भी नहीं है अथवा कोई भौतिक आकाशीय द्रव्य ही सनातन आदिभूत तत्त्व है। कारण, हम जानते हैं कि भौतिक द्रव्य और भौतिक शक्ति उस शुद्ध द्रव्य और शुद्ध शक्तिके केवल अंतिम परिणाम हैं जिनमें कि चेतन पुरुष ज्योतिर्मय रूपमें अपने-आपको जानता और अधिकृत करता है; वह चेतन जिस प्रकार भौतिक द्रव्यके भीतर निश्चेतन निद्रामें और जड़ क्रियामें अपने-आपको खोया हुआ (भूला हुआ) रहता है, उस प्रकार उस शुद्ध द्रव्य और शुद्ध शक्तिमें खोया हुआ नहीं रहता। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि इस भौतिक द्रव्य और उस शुद्ध द्रव्यके मध्यमें क्या है? कारण हम एकसे दूसरेपर कूदकर नहीं जाते, हम निश्चेतनसे पूर्ण चेतनपर एकदम नहीं पहुंच जाते। इसलिये जिस प्रकार भूतत्त्व और आत्म-तत्त्वके मध्यमें क्रम-सोपान हैं उसी प्रकार निश्चेतन द्रव्य और पूर्णतया आत्म-चेतन आत्म-विस्ताररूप शुद्ध द्रव्यके मध्यमें भी क्रमसोपान होने चाहियें और हैं भी।

जिन्होंने उन अथाह गहराइयोंकी थाह ली है वे सब एकमतसे इस तथ्यको स्वीकार करते और प्रमाणित करते हैं कि द्रव्यके सूक्ष्म और सूक्ष्मतर रूपोंकी क्रम-परंपराएँ हैं जो कि भौतिक विश्वके विधि-विधानसे परे और बाहर हैं। जो विषय हमारे वर्तमान अनुसंधानके लिये अत्यधिक गुह्य और कठिन हैं उनकी गहराइयोंमें न जाकर जिस विचार-धाराको हमने आधार बनाया है उसे ही अंगीकार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि द्रव्यकी ये भूमिकाएँ अपनी

क्रम-परंपराके एक महत्त्वपूर्ण पक्षमें, भौतिक द्रव्य, प्राण, मन, अतिमन और सच्चिदानंदके अन्य उच्चतर दिव्य त्रित्वकी क्रमपरंपराके अनुसार आरोहण करती हुई देखी जा सकती हैं। दूसरे शब्दोंमें, हम यह देखते हैं कि द्रव्य अपने आरोहण-क्रममें इन तत्त्वोंमेंसे प्रत्येकको आधार बनाता है और इनमेंसे प्रत्येककी विश्वमें होनेवाली विशिष्ट आत्म-अभिव्यक्तिके लिये अपने-आपको प्रत्येकके स्वभावके अनुरूप क्रमपूर्वक वाहन बनाता है।

यहां भूलोकमें सब कुछ भौतिक द्रव्यपर प्रतिष्ठित है। इंद्रिय, प्राण, विचार इन सबका आधार वह होता है जिसे प्राचीन ऋषियोंने पृथ्वी कहा है। इंद्रिय, प्राण और मन इससे ही प्रारंभ होते हैं, इसके धर्मों (नियमों) का पालन करते हैं, अपनी क्रियाओंको इस मूलभूत तत्त्वके अनुकूल बनाते हैं, अपने-आपको इसकी संभावनाओंसे सीमित करते हैं और यदि ये दूसरी संभावनाओंको अभिव्यक्त करते हैं तो उस अभिव्यक्तिमें भी इस मूलतत्त्वकी, उसके उद्देश्यकी और दिव्य विकाससे उसकी जो मांग है उसकी उपेक्षा नहीं करते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इंद्रियां शारीरिक अंगों (इंद्रिय गोलकों) के द्वारा कार्य करती हैं और प्राण शारीरिक नाड़ी-संस्थान एवं दूसरे प्राणिक अंगोंके द्वारा कर्म करता है; मनको भी अपने संपूर्ण कार्य उस शारीरिक आधारपर ही करने पड़ते हैं और एक भौतिक उपकरणका उपयोग करना पड़ता है, यहांतक कि उसकी शुद्ध क्रियाओंको भी इस प्रकार प्राप्त हुए तथ्योंको क्षेत्र और उपादान बनाना पड़ता है। मन, इंद्रिय और प्राणका जो शुद्ध स्वरूप है उसमें कोई भी ऐसी आवश्यकता नहीं कि ये इस प्रकार परिच्छिन्न हों; कारण शारीरिक इंद्रियां इंद्रिय-प्रत्यक्षोंकी सृष्टि करनेवाली नहीं हैं अपितु स्वयं वैश्व-इंद्रियकी सृष्टि, उसके उपकरण और यहां उसके आवश्यक वाहन हैं। नाड़ी-संस्थान और प्राणिक अंग प्राणकी क्रिया और प्रतिक्रियाके स्रष्टा नहीं हैं अपितु वे स्वयं ही वैश्व प्राणकी सृष्टि, उसके उपकरण और यहां उसके आवश्यक वाहन हैं। मस्तिष्क विचारका स्रष्टा नहीं है अपितु वह स्वयं ही विश्व-मनकी सृष्टि, उसका उपकरण है और यही उसका आवश्यक वाहन है। अतः मन, इंद्रिय और प्राणके परिच्छिन्न होनेकी जो आवश्यकता है वह निरपेक्ष नहीं है अपितु एक विशेष उद्देश्यको लक्ष्यमें रखते हुए है; यह भौतिक विश्वमें निहित भगवान्‌की एक विश्वसंबंधी इच्छाका परिणाम है; भगवान्‌की यह इच्छा यहां इंद्रियों और उनके विषयोंमें भौतिक संबंध स्थापित करना चाहती है; वह चित्‌शक्तिके भौतिक नियम और विधानको यहां स्थापित करती है और इसके द्वारा चेतन-सत्‌के भौतिक पिंडित रूपोंको उत्पन्न करती है जिससे कि ये, जिस जगत्‌में हम रहते हैं उसमें, प्रारंभिक, प्रधान और नियामक तथ्य रहें। यह सत्‌का कोई मूलभूत धर्म नहीं है अपितु रचनाकी दृष्टिसे एक नियम, व्यवस्था है; इसकी आवश्यकता इस कारण है कि ब्रह्म अपने-आपको भौतिक विश्वके रूपमें विकसित करना चाहता है।

द्रव्यकी दूसरी भूमिकामें प्रारंभिक, प्रधान और नियामक तथ्य द्रव्यके रूप और शक्ति नहीं हैं, अपितु प्राण और सचेतन कामना हैं। इसलिये इस भौतिक स्तरसे ऊपर जो लोक है वह ऐसा होना चाहिये जो कि सचेतन वैश्व-प्राणशक्तिके ऊपर प्रतिष्ठित हो, ऐसी शक्तिपर प्रतिष्ठित हो जो कि प्राणमयी स्पृहा, कामना और उनकी अभिव्यक्तिकी शक्ति है; वह लोक उस

निश्चेतन या अवचेतन इच्छापर प्रतिष्ठित नहीं होगा जो कि भौतिक शक्ति और ऊर्जाका रूप धारण करती है। उस लोकके समस्त रूप, शरीर, शक्तियां, प्राण-क्रियाएँ, इंद्रिय-क्रियाएँ विचार-क्रियाएँ, वृद्धियां, परिसमाप्तियां, आत्मपरिपूर्णताएँ आदि सचेतन प्राणके इस प्रारंभिक तथ्यके आधीन और इससे नियत होने चाहियें; भौतिक द्रव्य और मन इस प्राणशक्तिके आधीन होने चाहियें, उससे ही प्रारंभ होने चाहियें, उसपर ही प्रतिष्ठित होने चाहियें, उसके धर्मों (नियमों), शक्तियों, सामर्थ्यों, परिच्छिन्नताओंसे परिच्छिन्न या परिवर्धित होने चाहियें। और यदि मन वहां इनकी अपेक्षा उच्चतर संभावनाओंको अभिव्यक्त करना चाहे तो भी उसे कामना-शक्तिवाले मूल-भूत प्राणतत्त्वके नियमको, उसके उद्देश्य और दिव्य अभिव्यक्तिसे उसकी मांगको सामने रखकर ही वैसा करना पड़ेगा।

प्राणसे उच्चतर भूमिकाओंके विषयमें भी यही बात है। तीसरी क्रम-परंपरामें मनस्तत्त्व प्रधान और नियामक होना चाहिये। उस लोकका द्रव्य इतना पर्याप्त सूक्ष्म और नमनशील होना चाहिये कि मन जैसे आकार उसे देना चाहे वह सीधे वैसे ही आकार धारण कर सके, मनकी क्रियाओंके अनुसार गति करे, मन अपने-आपको अभिव्यक्त और परिपूर्ण करनेके लिये उससे जैसी मांग करे उसके आधीन अपने-आपको कर दे। इंद्रिय और द्रव्यके संबंधोंमें भी तदनुरूप सूक्ष्मता और कोमलता होनी चाहिये; उन संबंधोंके नियामक भौतिक पदार्थके साथके स्थूल-दैहिक अंगोंके सन्निकर्ष नहीं होंगे, अपितु जिस सूक्ष्मतर द्रव्यपर मन क्रिया करता है उसके साथके मनके साक्षात् संबंध होंगे। ऐसे लोकका प्राण ऐसे अर्थमें मनका सेवक होगा कि हमारी दुर्बल मानसिक क्रियाएँ और हमारी परिच्छिन्न, स्थूल और विद्रोही प्राण-शक्तियां उसकी समुचित कल्पना नहीं कर सकतीं।

वहां मन मूलतत्त्व होनेके कारण प्रभुत्व करता है, उसका उद्देश्य प्रमुखता रखता है, उसकी मांग दिव्य अभिव्यक्तिके विधानमें दूसरोंसे प्रधान रहती है। इससे ऊंची भूमिकापर अतिमन या उससे स्पृष्ट कोई मध्यवर्ती तत्त्व अथवा अतिमनसे भी ऊंचे शुद्ध आनंद, शुद्ध चित् या शुद्ध सत् मनके बजाय प्रधान तत्त्व होते हैं; और हम विश्व-सत्ताके उन स्तरोंमें प्रवेश करते हैं जिन्हें प्राचीन वैदिक ऋषियोंने ज्योतिर्मय लोक (दिव्य धाम) कहा है और उन्हें अमृतत्त्वकी प्रतिष्ठा माना जाता था। इन्हें ही पिछले भारतीय धर्मों (पुराणों) में ब्रह्मलोक या गोलोक कहा गया है। ये सदात्माकी वह उच्चतम आत्माभिव्यक्ति हैं जिसमें कि जीवात्मा अपनी पूर्ण सिद्ध मुक्त अवस्थाको प्राप्त होकर सनातन ईश्वरके आनंत्य और आनंदको प्राप्त करता है।

भूलोकसे ऊपरके लोकोंका जो यह निरंतर आरोहण करता हुआ अनुभव और दर्शन है उस-की तहमें यह सिद्धांत है कि संपूर्ण विश्व अनेक तत्त्वोंके मेलसे बना हुआ एक सामंजस्य है, और हमारे साधारण मानव मन और प्राणको जिस सीमित क्षेत्रकी चेतना होती है वहीं उसका अंत नहीं हो जाता। सत्, चेतना, शक्ति, द्रव्य अनेक डंडोंवाली सीढ़ीके समान उतार और चढ़ाव रखते हैं। इस सीढ़ीके प्रत्येक आरोहण करते हुए डंडेपर सत्का अपना बृहत्तर आत्मविस्तार होता है; चेतनाको अपने क्षेत्र, विशालता और हर्षका अधिक व्यापक बोध रहता है; शक्तिमें अधिक तीव्रता, अधिक वेगवती और आनंदमयी सामर्थ्य होती है; द्रव्य अपने प्राथमिक स्वरूप-

को अधिक सूक्ष्म, नमनशील और हलका करता है। कारण जो जितना अधिक सूक्ष्म होता है वह उतना ही अधिक शक्तिशाली होता है—और यह कहा जा सकता है कि वह उतने ही अधिक सच्चे रूपमें ठोस होता है। वह स्थूल द्रव्यकी अपेक्षा कम बद्ध होता है, उसकी सत्तामें अधिक स्थायित्व होता है, उसके परिणाममें अधिक शक्यता, नमनशीलता और विशालता होती है। सत्तारूपी पर्वतकी प्रत्येक अधित्यकापर आरोहण करते समय जो विशालतर अनुभव हमें होता है उसमें हमारी चेतना उच्चतर स्तरकी हो जाती है और हम एक समृद्धतर लोकके वासी बन जाते हैं।

परंतु प्रश्न यह है कि यह आरोहण करती हुई क्रमपरंपरा किस प्रकार हमारी भौतिक सत्ताकी संभावनाओंको प्रभावित करती है? यदि चेतनाका प्रत्येक स्तर, सत्ताका प्रत्येक लोक, द्रव्यकी प्रत्येक भूमिका, वैश्व शक्तिकी प्रत्येक श्रेणी अपनेसे पूर्ववर्ती और अनुवर्तीसे सर्वथा विच्छिन्न हो तो वह क्रमपरंपरा हमारे लोककी संभावनाओंको लेशमात्र भी प्रभावित नहीं करेगी।

परंतु सत्य इससे विपरीत है; ब्रह्मकी अभिव्यक्तिरूप यह विश्व एक मिली-जुली बुनावट है और एक तत्त्वकी बुनावटमें दूसरे सभी तत्त्व-सूत्र आध्यात्मिक 'समग्र'के अंगके रूपमें प्रविष्ट होते हैं। हमारा भूलोक दूसरे सभी तत्त्वोंका परिणाम है; कारण, दूसरे सभी तत्त्व भौतिक विश्वकी रचना करनेके लिये इसके भीतर अवतीर्ण हुए हैं और जिसे हम भौतिक द्रव्य कहते हैं उसका प्रत्येक परमाणु दूसरे समस्त तत्त्वोंको अपने भीतर अव्यक्त रूपमें धारण करता है। परमाणुके अस्तित्वके प्रत्येक क्षणमें और उसकी क्रियाकी प्रत्येक गतिमें दूसरे समस्त तत्त्वोंका कर्म गुप्त रूपमें अंतर्भूत रहता है। और जैसे भौतिक द्रव्य इस अवतरणमें सबसे अंतिम पदार्थ है उसी प्रकार वह आरोहणमें सबसे पहला पदार्थ है और जैसे इन समस्त स्तरों, लोकों, श्रेणियों, भूमिकाओंकी शक्तियां भौतिक सत्तामें अंतर्भूत होती हैं, उसी प्रकार वे उससे विकसित होनेकी सामर्थ्य भी रखती हैं।

इसीलिये भौतिक सत्ताका आदि और अंत गैसों, रासायनिक योगों, भौतिक शक्तियों एवं गतियोंमें और नीहारिकाओं, सूर्यों, पृथ्वियोंमें नहीं हो जाता; वह प्राण और मनको विकसित करती है और अंतमें वह अतिमनको और अध्यात्मसत्ता (सच्चिदानंद) की उच्चतर भूमिकाओंको भी विकसित करेगी। अतिभौतिक स्तरोंसे जब भौतिक स्तरपर निरंतर दबाव पड़ता है तो इससे इसके भीतर छिपे तत्त्वोंका विकास होता है; यह दबाव भौतिक द्रव्यको विवश करता है कि वह अपने भीतरसे उन अतिभौतिक स्तरोंके तत्त्वों और शक्तियोंको उन्मुक्त करे; इस दबावके बिना वे तत्त्व और शक्तियां संभवतः भौतिक तत्त्वके कठोर बंधनमें सुषुप्त ही पड़े रहते हैं। परंतु फिर भी ऐसा होना असंभव है, कारण उनकी वहां विद्यमानता यह सूचित करती है कि वे उन्मुक्त होनेके लिये ही वहां हैं; तथापि नीचेसे विकासकी इस आवश्यकताको सजातीय ऊपरी दबावसे बहुत अधिक सहायता मिलती है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि जिस समय प्राण, मन, अतिमन और आत्माका स्वल्प रूप निर्माण हो जाय और भौतिक द्रव्यकी शक्ति अनिच्छासे इन उच्च शक्तियोंको स्वीकार करे तो वहीं यह विकास समाप्त हो जाय। कारण जैसे-जैसे ये विकसित, जागृत, अधिक सक्रिय

और अपनी शक्यताओंके प्रति अधिक स्पृहालु होते जाते हैं वैसे-वैसे उनपर ऊंचे स्तरोंका दवाव भी अपने अनुरोध, शक्ति और परिणामोत्पादकतामें वढ़ता जाता है, यह दवाव उन लोकोंकी सत्ता, उनके घनिष्ठ संवंध और परस्पर-आश्रयतामें अंतर्भूत रहता है। यह भी नहीं है कि ये तत्त्व नीचेसे एक प्रतिविंवित और परिमित रूपमें ही अपने-आपको अभिव्यक्त करें; इन्हें ऊपरसे नैसर्गिक शक्ति और अपनी पूर्णतया संभव प्रस्फुटित अवस्थामें भौतिक सत्तामें अवतीर्ण होना चाहिये। भूलोकके जीवको भौतिक द्रव्यमें उनकी अधिकाधिक विशाल क्रियाके प्रति अपने आपको खोलना चाहिये; इस कार्यके लिये आवश्यक है केवल उपयुक्त पात्र, माध्यम, उपकरण। यह सव कुछ मनुष्यके शरीर, प्राण और चेतनामें प्रदान किया गया है।

यदि मानव शरीर, प्राण और चेतना स्थूल शरीरकी संभावनाओंतक ही सीमित रहनेवाले हों, और ये संभावनाएं उतनी ही हों जितनी कि हमारी शारीरिक इंद्रियां और हमारा शारीरिक मन स्वीकार करते हैं तो अवश्य ही यह इस विकासका वहुत ही संकुचित रूप होगा; इसका यह अर्थ होगा कि मनुष्यने अभीतक जो कुछ प्राप्त किया है वह उससे कुछ भी मूलतः महत्तर वस्तु नहीं प्राप्त कर सकेगा। परंतु प्राचीन गुह्य विद्याने आविर्ज्ञात किया है कि हमारा यह शरीर हमारी शारीरिक सत्ताका भी पूर्ण रूप नहीं है; यह स्थूल घनता हमारे द्रव्यका पूरा स्वरूप नहीं है।

प्राचीनतम वेदांतने कहा है कि हमारे आत्माकी पांच भूमिकाएं होती हैं—अन्नमय (भौतिक), प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय; आत्माकी इन भूमिकाओंमेंसे प्रत्येकके अनुरूप हमारे द्रव्यकी भूमिका होती है जिसे प्राचीन आलंकारिक भाषामें कोष कहा गया है। इसके पीछे आनेवाले मनोविज्ञानने यह आविर्ज्ञात किया है कि हमारे द्रव्यके ये पांच कोष हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरोंके उपादान हैं। हमारा अंतरात्मा (पुरुष) इन तीनोंमें वस्तुतः और एक साथ निवास करता है यद्यपि यहां और अव हम स्थूल रूपमें केवल भौतिक शरीरकी ही चेतना रखते हैं।

परंतु जिस प्रकार हमें स्थूल शरीरकी चेतना है उसी प्रकार दूसरे शरीरोंकी चेतना रखना भी संभव है; ऐसा करना वस्तुतः उनके वीचसे पर्देको हटाना है और इसके परिणामस्वरूप हमारे अन्नमय (भौतिक), मनोमय और विज्ञानमय पुरुषों (व्यक्तित्वों) के मध्यसे पर्देको हटाना है; इस मध्यवर्ती पर्देके निराकरणके परिणामस्वरूप ही वे चैत्य और गुह्य घटनाएं होती हैं जिनकी अव अधिकाधिक परीक्षा होने लगी है, यद्यपि वह परीक्षा अभी बहुत कम और अत्यधिक वेढंगे रूपमें ही होती है चाहे उन्हें जितना भी वढ़ा-चढ़ाकर क्यों न कहा जाय। भारतके प्राचीन हठयोगियों और तांत्रिकोंने उच्च मानव प्राण और शरीरसे संबंध रखनेवाले इस विषयको वहुत पहले विज्ञानका रूप दे दिया था। उन्होंने यह आविर्ज्ञात किया था कि स्थूल देहके भीतर प्राणके छः चक्र (नाड़ीकेंद्र) हैं और ये चक्र सूक्ष्म देहमें प्राण और मनकी शक्तिके छः चक्रोंके अनुरूप हैं; उन्होंने ऐसे सूक्ष्म-दैहिक अभ्यासोंको भी खोजा था जिनके द्वारा ये चक्र जो कि इस समय बंद हैं, खोले जा सकते हैं, हमारी सूक्ष्म सत्ताके अनुरूप उच्च आत्मिक (चैत्य) जीवनमें मनुष्य प्रवेश कर सकता है और विज्ञानमयी तथा आनंदमयी सत्ता (पुरुष)

के अनुभवमें जो शरीर और प्राणसे बाधायें उपस्थित होती हैं उनका विनाश भी किया जा सकता है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि हठयोगियोंने अपने अभ्यासोंका एक मुख्य परिणाम जो कि अनेक रूपोंमें प्रमाणसिद्ध हो चुका है, देहस्थ प्राणको अपने वशमें करना बतलाया है; प्राणके वशमें हो जानेसे वे कुछ ऐसे साधारण चिर-अभ्यास अथवा तथाकथित नियमोंसे मुक्त हो जाते हैं जिन्हें कि शरीर-विज्ञानवाले शारीरिक जीवनके लिये अविच्छेद्य मानते हैं।

प्राचीन मनो-दैहिक विज्ञानके इन समस्त रूपोंके मूलमें हमारी सत्ताका एक महान् तथ्य और नियम विद्यमान हैं; वह यह है कि इस भौतिक विकासमें हमारी सत्ताके रूप, चेतना और शक्तिकी चाहे जैसी भी स्वल्पकालीन स्थिति क्यों न हो, उसके पीछे एक ऐसी महत्तर, सत्य-तर सत्ता रहनी चाहिये और है भी कि जिसका यह केवल बाह्य परिणाम और भौतिक रूपमें संवेद्य पक्ष है। हमारे द्रव्यका अंत भौतिक शरीरतक नहीं हो जाता; यह शरीर तो केवल हमारे लिये पार्थिव पादपीठ, पार्थिव आधार, भौतिक प्रारंभबिंदु है।

हम जानते ही हैं कि हमारे जागृत मनकी तहमें चेतनाकी वृहत्तर भूमिकायें हैं, जो कि उसके लिये अवचेतन और अतिचेतन हैं और जिनका हमें कभी-कभी असाधारण अवस्थामें अनु-भव होता है; उसी प्रकार हमारी स्थूल शारीरिक सत्ताकी तहमें द्रव्यकी दूसरी और सूक्ष्मतर भूमिकायें हैं जिनके नियम सूक्ष्मतर हैं, जिनकी शक्तियां महत्तर हैं और जो स्थूल शरीरका आधार हैं। जब हम द्रव्यकी इन सूक्ष्मतर भूमिकाओंसे संबंध रखनेवाली चेतनाकी भूमिकाओंमें प्रवेश कर लेते हैं तो द्रव्यकी सूक्ष्म भूमिकाओंके उस नियम और शक्तिकी क्रिया हमारे स्थूल शारीरिक द्रव्यपर भी करायी जा सकती है; तब हमारे वर्तमान दैहिक जीवन, अंतर्वेगों और चिर-अभ्यासोंकी स्थूलता और परिच्छिन्नताके स्थानपर उन भूमिकाओंकी शुद्धतर, उच्चतर, तीव्र-तर अवस्थाओंको लाया जा सकता है। ऐसी अवस्थामें एक ऐसे श्रेष्ठतर शरीरका विकास केवल स्वप्न और असंभव कल्पना नहीं रह जाता जो कि पाशव जन्म, जीवन और मरणकी साधारण अवस्थाओंसे परिच्छिन्न न हो, कठिन भरण-पोषण, अव्यवस्था एवं रोगके बंधनमें न हो और दरिद्र एवं अतृप्त प्राणिक तृष्णाओंके आधीन न हो; तब तो ऐसे शरीरका विकास एक ऐसी संभावना हो जाता है कि जिसका आधार ऐसा युक्तियुक्त दार्शनिक सत्य होता है जो कि उस सबके अनुकूल है जो कि हमने अभीतक अपनी सत्ताके व्यक्त और प्रच्छन्न सत्यके विषयमें जाना, अनुभव किया या विचारा है।

यह होना युक्तियुक्त भी है; कारण हमारी सत्ताके तत्त्वोंकी जो निरविच्छिन्न क्रमपरंपरा है और उनका जो घनिष्ठ पारस्परिक संबंध है वह इस बातको पूर्ण स्पष्टताके साथ प्रमाणित करता है कि जब दूसरे समस्त तत्त्व दिव्य मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं तब उनमेंसे एक उनसे विच्छिन्न हुआ हीन दशामें नहीं पड़ा रह सकता। मनुष्यके भौतिक भूमिकासे हमारी अति-मानस भूमिकामें आरोहण करनेसे यह संभावना खुल जाती है कि अतिमानस-सत्ताके उपयुक्त जो विज्ञानमय या कारण शरीर है उसके अनुरूप द्रव्यकी भूमिकाओंमें भी आरोहण हो; और अतिमनके द्वारा निम्न तत्त्वोंपर विजय और प्राण और मनकी दिव्य प्राण और दिव्य मनमें मुक्तिके साथ-साथ यह भी संभव हो जाना चाहिये कि अतिमानस द्रव्यके तत्त्व और शक्तिकी

हमारी शारीरिक द्रव्यकी परिच्छिन्नतापर विजय हो। इसका अर्थ केवल ऐसा विकास नहीं है जिसमें चेतना निर्बाध हो, मन और इन्द्रियां शारीरिक अहंकारकी दीवारोंमें बन्द न हों अथवा शारीरिक इन्द्रियोंसे प्राप्त ज्ञानरूप दरिद्र आधारमें सीमित न हों; इसका अर्थ है ऐसा विकास जिसमें प्राणशक्ति अपनी मृत्युकारी परिच्छिन्नताओंसे अधिकाधिक मुक्त हो, शारीरिक जीवन भगवान्के निवासका उपयुक्त मंदिर (निवास-स्थान) हो; इनकी इस अवस्थाका यह अर्थ नहीं है कि ये हमारी वर्तमान देहमें आसक्त बने रहें या इसमें बंधे रहें अपितु यह कि ये भौतिक देहके धर्मसे अतीत हों—मृत्युपर विजय हो, पार्थिव अमरता हो।

कारण अमृतके प्रभु अपने दिव्य आनंदसे सत्ताके आदिभूत आनंदसे उस आनंदरूपी मधुको, सोमरसको मनोमय जीवंत द्रव्यके इन घड़ोंमें उंडेलते आ रहे हैं; सनातन और सुन्दर वह द्रव्य-के इन कोषोंमें प्रवेश कर रहे हैं जिसमें कि वह सत्ता और प्रकृतिका पूर्ण रूपांतर साधित करें।

(क्रमशः)

विभिन्न प्रकारके प्रेम—

'असामान्य' ऐसा शब्द है जिसे तुम किसी ऐसी चीजपर चिपका सकते हो जो एकदम तुच्छ, सस्ती और सामान्य न हो। ऐसी स्थितिमें प्रतिभा असामान्य है, वैसे ही है आध्यात्मिकता, वैसे ही है उच्च आदर्शोंके अनुसार जीवन यापन करनेका प्रयास। स्त्रियोंमें शरीरसे सतीत्वकी रक्षा करनेकी प्रवृत्ति असामान्य चीज नहीं है, यह बहुत प्रचलित है और एक बहुत उच्च नारी-आदर्शको समाविष्ट करती है।

मन चिंतन और परिदर्शनका क्षेत्र है, हृदय प्रेमका और प्राण कामनाका क्षेत्र है—परंतु इससे मानसिक प्रेमका अस्तित्व कैसे खंडित होता है? मनपर हृद्‌गत या प्राणगत भावोंका आक्रमण हो सकता है, अथवा हृदय भी मनके द्वारा अधिकृत तथा मानसिक शक्तियोंद्वारा परि-चालित हो सकता है।

एक प्राणगत प्रेम होता है, एक भौतिक प्रेम होता है। यह संभव है कि प्राण बिना प्रेमके विभिन्न प्राणिक कारणोंसे —प्रभुत्व या आधिपत्यकी सहजवृत्तिको संतुष्ट करनेके लिये, स्त्रीकी

प्राणिक शक्तियोंको अपने अंदर खींच लेनेके लिये, जिसमें कि अपने निजी प्राणको भोजन मिले अथवा प्राणिक शक्तियोंका आदान-प्रदान हो, अपने मिथ्याभिमानको, शिकारीके शिकार करनेकी सहजवृत्तिको संतुष्ट करनेके लिये आदि-आदि—एक स्त्रीकी कामना करे।' इसे बहुधा प्रेम कहा जाता है, पर यह महज प्राणिक वासना है, एक प्रकारकी भोगेच्छा है। परंतु हृदयके भाव यदि जागृत हो जायं तो फिर यह प्राणिक प्रेम बन जाता है; एक ऐसा सम्मिश्र व्यापार बन जाता है जिसमें इनमेंसे कोई एक या सभी प्राणिक उद्देश्य सम्मिलित होते हैं और यह प्रबल होता है, पर फिर भी रहता है प्राणिक प्रेम ही।

यह बात पुरुषके दृष्टिकोणसे कही गयी है, पर स्त्रियोंके भी अपने प्राणगत उद्देश्य होते हैं।

फिर एक भौतिक प्रेम भी हो सकता है, सौंदर्यके प्रति आकर्षण, शारीरिक भोगेच्छा या अन्य ऐसी ही कोई चीज जो हृदयगत भावोंको जागृत करे। यदि वैसा न हो तो फिर वहां संपूर्ण शारीरिक आवश्यकता ही होती है और वह है नितांत कामवासना, उससे अधिक कुछ नहीं। पर भौतिक प्रेमका होना संभव है।

उसी तरह एक मानसिक प्रेम भी हो सकता है। दूसरेके अंदर अपने आदर्शको पानेकी चेष्टा करनेपर यह प्रेम उत्पन्न होता है या समादर और विस्मयके किसी प्रबल मानसिक आवेग-से या अपने स्वभावकी एक ठोस मूर्त्ति, एक परिपूरक और पूर्णत्वसाधक व्यक्तिकी, एक सह-धर्मिणीकी, एक पथप्रदर्शक और सहायककी, एक नेता और स्वामीकी मनकी खोजसे अथवा सैकड़ों अन्य मानसिक हेतुओंसे यह आता है। स्वयं अपने-आपमें यह प्रेमकी आख्या पाने योग्य नहीं होता, यद्यपि बहुत बार यह इतना तीव्र होता है कि इसे प्रेमसे भिन्न समझना कठिन हो जाता है और इस हदतक पहुंच जाता है कि इसके कारण मनुष्य जीवन न्योछावर कर देता है, संपूर्ण आत्मदान कर देता है इत्यादि। परंतु यह जब हृद्‌गत भावोंको जगा देता है तब यह बहुत शक्तिशाली प्रेम उत्पन्न कर सकता है जो अपने मूल और प्रधान स्वभावमें फिर भी होता है मानसिक ही। परंतु साधारणतया मन और प्राण दोनों एक साथ मिल जाते हैं, और दोनोंका यह संयोग शारीरिक कार्य तथा तत्संबंधी अन्य कार्योंके प्रति अनिच्छा या सुस्पष्ट घृणाके साथ-साथ बना रह सकता है। निस्संदेह, यदि पुरुष दबाव डाले तो संभव है कि स्त्री राजी हो जाय, पर यह होता है अनिच्छापूर्वक ही, उसके हृदयकी भावनाओं और गभीरतर सहज-वृत्तिके विरुद्ध ही।

सच पूछो तो अज्ञानपूर्ण मनोविज्ञान ही प्रत्येक चीजको यौन उद्देश्य एवं काम-प्रवृत्तिके अधीन ला पटकता है।

२१. ६. १९३४

—श्रीअरविंद

योग

शिष्य—क्या निष्काम कर्म करना ही योग है ? कोई आसन, कोई प्राणायाम आवश्यक नहीं ?

श्रीअरविंद—यह इतना सीधा-सादा नहीं है जितना कि यह दीखता है। यदि आत्मदानमें सच्चाई हो तो सहायता ऊपरसे आती है। फिर तुम्हें अपने प्रयासमें सतत लगे रहना भी होगा।

शिष्य—इसके लिये शायद विद्वत्ताकी आवश्यकता हो, पर मैं समझता हूं कि उसकी मुझमें कमी है।

श्रीअरविंद—विद्वत्ताका होना अनिवार्य नहीं है। योग तो केवल शक्ति ही करती है। तुम इसे नहीं जानते, क्योंकि उच्चतर क्रियाको समझनेकी शक्ति तुममें नहीं है। तुम्हें केवल उस मनोभावको बनाये रखना होगा जिसे बताया गया है और अपने आत्मदानमें सच्चा होना होगा।

INSURANCE IS A SOCIAL SERVICE

With best Compliments & Greeting
from

RUBY GENERAL INSURANCE COMPANY LIMITED

Business Transacted

FIRE MARINE ACCIDENT AVIATION
MACHINERY & ERECTION ETC. ETC.

Authorised & Subscribed Capital		...	Rs. 1,00,00,000
Paid up Capital	...	...	Rs. 32,00,000
Assets Exceed	...	...	Rs. 2,85,00,000
Nett Premiums in 1961	...	...	Rs. 1,82,00,000

BRANCHES & AGENCIES IN ALL IMPORTANT TOWNS IN INDIA

FOREIGN BRANCHES & AGENCIES:

Aden, Amsterdam, Beirut, Chittagong, Colombo, Jamaica, Khulna, Karachi, Kuala Lumpur, Kampala, Nairobi, Penang, Rangoon, Singapore & San Fernando.

Head Office:

"INDIA EXCHANGE"
India Exchange Place, Calcutta-1

ऐतिहासिक कुतुबमीनार और चूना

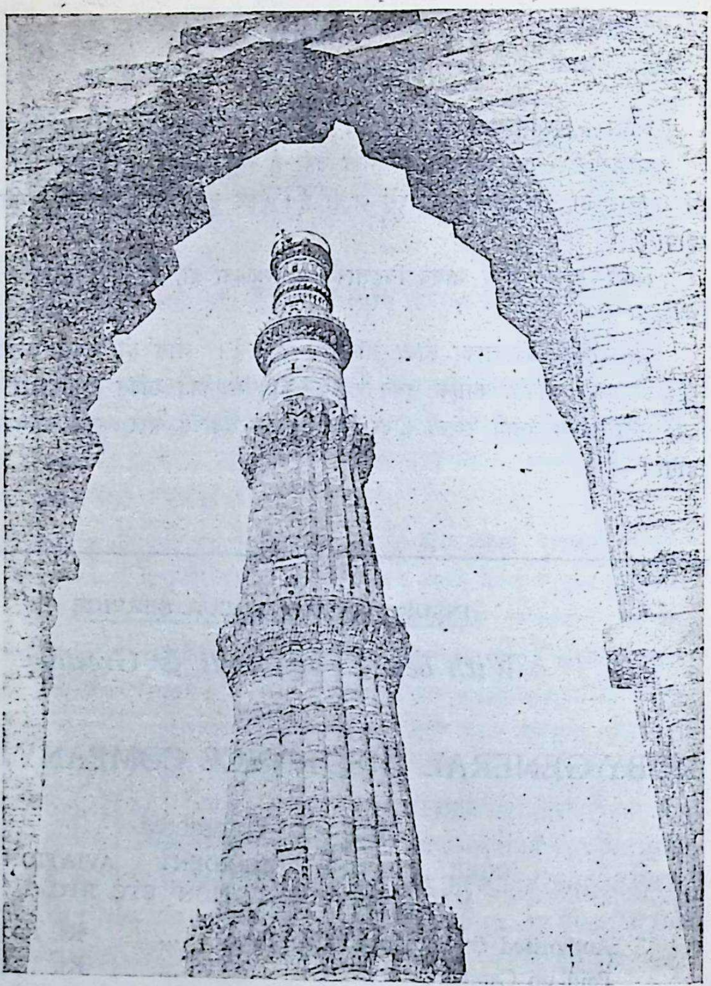

कुछ लोग कहते हैं कि कुतुब मीनारको पृथ्वीराज चौहानने बनवाना आरंभ किया था जिससे कि उनकी प्रिय पुत्री रोज उसके ऊपर चढ़कर पुण्य-सलिला यमुनाके दर्शन कर सके।

दूसरोंका कहना है कि पृथ्वीराजके चाचा विग्रहराजने इसे बनवाना शुरू किया था जिससे कि वह उसपरसे अपनी शत्रु-सेना-की गतिविधिका निरीक्षण कर सकें।

प्रचलित मत यह है कि कुतुबुद्दीनने एक विजय-स्तंभके रूपमें इसे बनवाना प्रारंभ किया और पीछे अल्तमशने इस २३४ फुट ऊंची कुतुबमीनारको पूरा करवाया।

किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि जगत्की यह सबसे ऊंची प्राचीन मीनार इस कारण सात सौ वर्षोंसे भी अधिक समयतक प्रकृतिके थपेड़ोंको सह चुकी है और आज भी सुदृढ़ बनी हुई है कि इसके निर्माणमें चूनेके मसालेका प्रयोग किया गया था।

गत ३५ वर्षों से चूने के निर्माता और विक्रेता

एस. एन. सण्डरसन एंड कंपनी

१ देशबंधु गुप्ता रोड, पोस्ट बक्स नं० ८५

नई दिल्ली

शाखाएं :—दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, वाराणसी, इलाहाबाद, देहरादून, मेरठ, आगरा, कलकत्ता, रानीगंज, पटना, झरिया, मैहर, सतना, कटनी, जुकेही, बंबई और पांडीचेरी।

यदि तुम्हारा आत्मदान पूर्ण हो और तुम पूर्णतः सच्चे हो तो तुम्हारा आध्यात्मिक लक्ष्यतक पहुंचना सुनिश्चित है।

—श्रीमां

फोन : 33.1998 तार : GENERIMP

केशरीचंद सुमेरमल

जनरल मर्चेंट व कमिशन एजेन्ट

८ नारायणप्रसाद बाबू लेन, कलकत्ता–७.

कोई संरक्षण, कोई कृपा-शक्ति उन लोगोंको रक्षा नहीं कर सकती जो अनिवार्य शुद्धिकी आवश्यकताको अस्वीकार कर देते हैं।

—श्रीमां

फोन : 331567 तार : CHARAKCHEM

चरक केमिकल वर्क्स प्राइवेट लिमिटेड

आयुर्वेदीय औषध एवं तैलोंके निर्माता

१६१/१ महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता–७.

The spiritual destiny always stands–it may be delayed or seem to be lost for a time, but it is never abolished.

—SRI AUROBINDO

With the Compliments of :

DINDAYAL RAM ROOP

15/1 Sovaram Bysack Street,
CALCUTTA-7
Phone : 33 - 1682

भगवान्‌की इच्छा अभिव्यक्त होनेकी है, निष्क्रियता और अखंड निश्चल-नीरवतामें एकदम पीछे हटकर उसीमें बने रहनेकी नहीं है; यदि भागवत चेतनाका अर्थ वास्तवमें अनभिव्यक्त आनंदकी निष्क्रियता होता तो फिर कभी कोई सृष्टि हुई ही नहीं होती।

--श्रीमां

ओनेस्टी राइस मिल्स

जामुरिया (वेस्ट बेंगाल)

अदिति

सह

भारत माता

श्रीअरविंदकी विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टिसे प्रेरित
त्रैमासिक पत्रिका

बयासीवीं कला

श्रीमाताजीके आगमन-दिवस २४ अप्रैल १९६३ के उपलक्ष्यमें

अदिति कार्यालय, श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी-२

विषय-सूची

'अदिति सह भारत माता', २४ अप्रैल १९६३

विषय		पृष्ठ
१. २४ अप्रैल १९६३		४
२. श्रीमांके मूर्त्तिमान् होनेका उद्देश्य	(श्रीअरविंद)	५
३. प्रार्थना	(श्रीमां)	६
४. गीतार भूमिका	(श्रीअरविंद)	७
५. हमारी अभीप्सा	(श्रीअरविंद)	११
६. भागवत मुहूर्त्त (८)—योग का तंतुजाल	(श्रीअरविंद)	१३
७. चिंतनधारा और सूत्रावली (स्पष्टीकरण)	(श्रीमां)	२२
८. धम्मपदं—यमकवग्गो	(श्रीमां)	३३
९. दिव्य जीवन	(श्रीअरविंद)	३७
(१) सत्ता के सात सूत्र		४१
(२) अतिमन, मन और अधिमन माया		४९
१०. सांध्य वार्त्तालाप	(श्री पुराणी)	६७

प्रबन्ध-संपादक, श्रीकेशवदेव पोद्दार ('सहकार' बी रोड, चर्चगेट, बम्बई-१) तथा श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला (४/१ क्लाईड रो, कलकत्ता—२२); प्रकाशक, श्री सुरेन्द्रनाथ जोहर (एस० एन० संडरसन एण्ड क०, कनाट सरकस, नई दिल्ली)।

The Director of Publication: Chandradip, Shri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry-2

249/3/63/750

True spirituality is not to renounce life, but to make life perfect with a Divine Perfection.

This is what India must show to the world now.

26.1.63.

सच्ची आध्यात्मिकता जीवनका त्याग करनेमें नहीं है, बल्कि भागवत परिपूर्णता-के द्वारा जीवनको पूर्ण बनानेमें है।

बस, यही वह चीज है जिसे अब जगत्के सामने भारतको कर दिखाना चाहिये।

२६.१.६३

२४ अप्रैल १९६३

जीव अपनी सभी कामनाओं और दुःख-कष्टोंके समय भगवती मांके पास जाता है, और भगवती मां चाहती हैं कि ऐसा ही हो, जिसमें कि वह अपने हृदयका सारा प्रेम उंडेल सकें। वह उनकी ओर इस कारण भी मुड़ता है कि उनका यह प्रेम स्वयंभू होता है और यह हमारे उस धाम को दिखाता है जिसकी ओर हम संसारके अपने चक्करोंसे निकलकर मुड़ते हैं तथा श्रीमांके उस वक्षस्थलको दिखाता है जिसमें हमें विश्रांति प्राप्त होती है।

--श्रीअरविंद

श्रीमांके मूर्तिमान् होनेका उद्देश्य

प्रश्न :

क्या मेरा यह सोचना ठीक है कि श्रीमाताजी एक व्यक्तिके रूपमें समस्त भागवत शक्तियोंको मूर्त्तिमान् करती और अधिकाधिक भागवत कृपाको भौतिक स्तरपर उतार लाती हैं? और उनका मूर्त्तिमान् होना संपूर्ण भौतिक स्तरके लिये परिवर्त्तित और रूपांतरित होनेका एक सुयोग है?

उत्तर :

हां, उनका मूर्त्तिमान् होना पृथ्वीकी चेतनाके लिये अपने अंदर अतिमानसको ग्रहण करने तथा उसे संभव बनानेके लिये पहले जो रूपांतर जरूरी है उसे प्राप्त करनेका एक सुयोग है। पीछे चलकर अतिमानसके द्वारा और भी रूपांतर साधित होगा, परंतु समूची पार्थिव चेतना अतिमानसभावापन्न नहीं हो जायगी—सबसे पहले एक नयी जाति उत्पन्न होगी जो अतिमानसको प्रकट करेगी, जैसे कि मनुष्य मनको अभिव्यक्त करता है।

*

केवल एक ही दिव्य शक्ति है जो विश्वमें भी कार्य करती है और व्यक्तियोंमें भी और फिर जो व्यक्ति और विश्वके परे भी है। श्रीमां इन सबकी प्रतिनिधि हैं, पर वह यहां शरीरमें रहकर कुछ ऐसी चीज उतारनेके लिये कार्य कर रही हैं जो अभीतक इस स्थूल जगत्में इस तरह अभिव्यक्त नहीं हुई है कि यहांके जीवनको रूपांतरित कर सके—अतः तुम्हें उनको इस उद्देश्यसे यहां कार्य करनेवाली भागवती शक्ति समझना चाहिये। वह अपने शरीरमें वही हैं, पर अपनी संपूर्ण चेतनामें वह भगवान्के सभी स्वरूपोंके साथ अपना तादात्म्य बनाये हुई हैं।

*

विश्वको और विश्वके विधानको बनाये रखना विश्व-शक्तिका कार्य है। महत्तर रूपांतर आता है विश्वातीत परात्परसे और उसी परात्पर कृपा-शक्तिको कर्ममें ले आनेके लिये यहां श्रीमांका मूर्त्त स्वरूप विद्यमान है।

*

.....अपने विश्वकार्यमें श्रीमां वस्तुओंके नियमके अनुसार कार्य करती हैं—उनकी मूर्त्त भौतिक क्रिया निरंतर कृपा-प्राप्तिका सुयोग प्रदान करती है—वास्तवमें यही उनके शरीर ग्रहण करनेका उद्देश्य है।

—श्रीअरविंद

प्रार्थना

बिना रुके, प्रत्येक क्षण, मेरी पुकार तेरी ओर उठ रही है और मैं तुझसे कह रही हूं: हे भगवान्! हे भगवान्!! अपने राज्यको तू अपने अधिकारमें ले ले, अपनी सनातन उपस्थितिसे इसे उद्भासित कर दे, जिस दारुण भूलके अंदर यह अपनेको तुझसे पृथक् समझता हुआ निवास कर रहा है उसका अंत कर दे, क्योंकि इसका जो सत्य स्वरूप और इसका जो सारतत्त्व है वह तो स्वयं 'तू' ही है।

भंग कर दे, अंतिम बाधाओंको चूर कर दे, अंतिम समस्त अशुद्धियोंको भस्म कर डाल, यदि आवश्यकता हो तो इस आधारपर वज्राघात कर, पर यह रूपांतरित अवश्य हो जाय।

*
**

......"हे प्रभु! तूने अपने यंत्रको हाथमें ले लिया है और कर्ममें उसका व्यवहार करनेकी इच्छा की है। यंत्र अपनी अपूर्णता और अपनी अशुद्धिको जानता है और तेरी कृपाकी याचना करता है ताकि वह इसे पूर्ण और शुद्ध बना दे, जिससे कि, दिन-प्रतिदिन, यह यंत्र, क्रमशः अपनी सभी अभिरुचियों तथा सभी सीमाओंके दूर हो जानेपर, तुझे अधिकाधिक पूर्णताके साथ अभिव्यक्त कर सके।"

*
**

.....हे नाथ! ऐसा वर दे कि विश्वका प्रत्येक अणु-परमाणु अपनी सत्ताके मूल तत्त्वके विषयमें सचेतन हो जाय और नष्ट हुए बिना रूपांतरित हो जाय; तुझे ढकनेवाली अहंजन्य अंधताका पर्दा हट जाय तथा तू सर्वांगपूर्ण अभिव्यक्तिके अंदर जाज्वल्यमान हो उठे।

—श्रीमां

मूल बंगला भाषामें:

गीतार भूमिका :: श्रीअरविन्द

(१५)

परिशिष्ट

गीताय विश्वरूप दर्शन

"'वन्देमातरम्" शीर्षक प्रबन्धे आमादेर श्रद्धेय वंधु विपिनचन्द्र पाल कथाप्रसंगे[1] अर्जुनेर विश्वरूपदर्शनेर उल्लेख करिया लिखियाछेन जे गीतार एकादश अध्याये जे विश्वरूपदर्शनेर वर्णना लिखित हइयाछे, ताहा संपूर्ण असत्य, कविर कल्पनामात्र। आमरा एइ कथार प्रतिवाद करिते बाध्य। विश्वरूपदर्शन गीतार अति प्रयोजनीय अङ्ग, अर्जुनेर मने जे द्विधा ओ संदेह उत्पन्न हइयाछिल, ताहा श्रीकृष्ण तर्क ओ ज्ञानगर्भ[2] उक्ति द्वारा निरसन[3] करियाछिलेन, किंतु तर्क ओ उपदेश द्वारा जे ज्ञानलाभ हय ताहा अदृढ़प्रतिष्ठित[4], जे ज्ञानेर उपलब्धि इइयाछे, सेइ ज्ञानेर दृढ़ प्रतिष्ठा हय। सेइजन्य अर्जुन अंतर्यामीर अलक्षित[5] प्रेरणाय विश्वरूपदर्शनेर आकांक्षा जानाइलेन[6]। विश्वरूपदर्शने अर्जुनेर संदेह चिरकालेर जन्य तिरोहित हइल, बुद्धि पूत[7] ओ विशुद्ध हइया गीतार परम रहस्य ग्रहणेर योग्य हइल। विश्वरूपदर्शनेर पूर्वे गीताय जे ज्ञान कथित हइयाछिल[8], से साधकेर उपयोगी ज्ञानेर बहिरंग,[9] सेइ रूपदर्शनेर परे जे ज्ञान कथित हय, से ज्ञान गूढ़ सत्य, परम रहस्य, सनातन शिक्षा। एइ विश्वरूपदर्शनेर वर्णनाके यदि कविर उपमा बलि, गीतार गांभीर्य, सत्यता ओ गभीरता नष्ट हय, योगलब्ध गभीरतम शिक्षा कयेकटि[10] दार्शनिक मतेओ कविर कल्पनार समावेशे[11]परिणत हय। विश्वरूपदर्शन कल्पना नय, उपमा नय, सत्य; अतिप्राकृत सत्य नहे,—केनोना विश्वप्रकृतिर अंतर्गत विश्वरूप अतिप्राकृत हइते पारे ना। विश्वरूप कारण-जगतेर सत्य; कारणजगतेर रूप दिव्यचक्षुते प्रकाश हय। दिव्यचक्षु-प्राप्त अर्जुन कारणजगतेर विश्वरूप देखिलेन।

---

[1]प्रसंगवशात्। [2]ज्ञानसे पूर्ण। [3]समाधान। [4]दुर्वल आधारवाला। [5]गुप्त। [6]इच्छा की। [7]पवित्र। [8]कहा गया है। [9]बाहरी बातें। [10]कुछ। [11]समूहमें।

साकार ओ निराकार

जांहारा निर्गुण निराकार ब्रह्मेर उपासक, तांहारा गुण ओ आकारेर कथा रूपक ओ उपमा बलिया उड़ाइया देन[12]; जांहारा सगुण निराकार ब्रह्मेर उपासक, तांहारा शास्त्रेर अन्यरूप व्याख्या करिया निर्गुणत्व अस्वीकार करेन एवं आकारेर कथा रूपक ओ उपमा बलिया उड़ाइया देन; सगुण साकार ब्रह्मेर उपासक एइ दुइ जनेरइ उपर खड्गहस्त[13]। आमरा एइ तिन मत-केइ संकीर्ण ओ असम्पूर्ण ज्ञानसंभूत[14] बलि। केनो ना जांहारा साकार ओ निराकार द्विविध ब्रह्मके उपलब्धि करियाछेन, तांहारा किरूपे[15] एकके सत्य, अपरके असत्य कल्पना बलिया ज्ञानेर अंतिम प्रमाण नष्ट करिबेन एवं असीम ब्रह्मके सीमार अधीन करिबेन। यदि ब्रह्मेर निर्गुणत्व ओ निराकारत्व अस्वीकार करि, आमरा भगवान्के खेलो करि[16], इए कथा सत्य; किंतु यदि ब्रह्मेर सगुणत्व ओ साकारत्व अस्वीकार करि, आमरा भगवान्के खेलो करि, एइ कथाओ सत्य। भगवान रूपेर कर्त्ता, स्रष्टा, अधीश्वर, तिनि कोनो[17] रूपे आवद्ध नहेन; तिनि जेमन साकारत्व द्वारा आवद्ध नहेन, सेइरूप निराकारत्व द्वाराओ आवद्ध नहेन। भगवान सर्वशक्तिमान, स्थूल-प्रकृतिर नियम वा देशकालेर नियमरूप जाले ताहाके धरिवार[18] भाण करिया[91] आमरा यदि बलि, तुमि जखन अनंत, आमि तोमाके सान्त हइते दिव ना, चेष्टा करो देखि, तुमि पारबे ना, तुमि आमार अकाटच तर्क ओ युक्तिते आवद्ध, जेमन प्रास्पेरोर इद्रजाले फार्डिनान्द, ए कि हास्य-कर[20] कथा, ए कि घोर अहंकार ओ अज्ञान। भगवान बंधनरहित, निराकार ओ साकार, साधकके साकार हइया दर्शन देन,—सेइ आकारे पूर्ण भगवान रहियाछेन, अथच सेइ समयेइ संपूर्ण ब्रह्माण्ड व्याप्त करिया रहियाछिलेन। केने ना, भगवान देशकालातीत, अतर्कगम्य, देश ओ काल तांहार खेलार सामग्री, देश ओ कालरूप जाल फेलिया[21] सर्वभूतके धरिया क्रीड़ा करितेछेन, आमरा किंतु ताहांके सेइ जाले धरिते पारिवो ना। जतबार तर्क ओ दार्शनिक युक्ति प्रयोग करिया सेइ असाध्यसाधन करिते जाइ, ततबार रंगमय[22] सेइ जाल के सराइया[23] आमादेर अग्रे, पिछने, पार्श्वे, दूरे, चारिदिके, मृदु मृदु हासिया विश्वरूप ओ विश्वातीत रूप प्रसार करिया[21] वुद्धिके परास्त करेन। जे बले, आमि तांहाके जानिते पारिलाम, से किछूइ जाने ना; जे बले, आमि जानि अथच जानि ना, सेइ प्रकृत ज्ञानी।

विश्वरूप

जिनि शक्तिर उपासक, कर्मयोगी, यंत्रीर यंत्र हइया भगवत् निर्दिष्ट कार्य करिते आदिष्ट तांहार चक्षे विश्वरूपदर्शन अति प्रयोजनीय। विश्वरूपदर्शनेर पूवओ तिनि आदेशलाभ करिते

---

[12]उड़ा देते हैं। [13]अत्यंत क्रुद्ध। [14]ज्ञानसे उत्पन्न। [15]कैसे। [16]अपमान करते हैं। [17]किसी। [18]पकड़नेका। [19]झूठी धारणा बनाकर। [20]हास्यास्पद। [21]जाल फेंककर। [22]लीलामय भगवान्। [23]हटाकर। [21]फैलाकर।

पारेन, किंतु सेइ दर्शनलाभ ना हओया पर्यन्त आदेश ठिक मंजूर हय ना, रजू[25] हइयाछे, पाश[26] हय नाइ। सेइ पर्यंत तांहार कर्मशिक्षार ओ तैयारी हइवार समय। विश्वरूपदर्शने कर्मेर आरंभ। विश्वरूपदर्शन अनेक प्रकार हइते पारे—जेमन साधना, जेमन साधकेर स्वभाव। कालीर विश्वरूपदर्शने साधक जगत्मय अपरूप[27] नारी-रूप देखेन, एक अथच अगणन[28] देह युक्त, सर्वत्र सेइ निबिड़-तिमिर-प्रसारक घनकृष्ण कुन्तलराशि आकाश छाइया रहियाछे[29], सर्वत्र सेइ रक्ताक्त खड्गेर आभा नयन झलसिया[30] नृत्य करितेछे, जगतमय सेइ भीषण अट्टहासिर स्रोत विश्वब्रह्माण्ड चूर्ण विचूर्ण करितेछे। एइ सकल कथा कविर कल्पना नहे, अतिप्राकृत उपलब्धिके असम्पूर्ण मानवभाषाय वर्णना करिवार विफल चेष्टा नहे। इहा कालीर आत्मप्रकाश, इहा आमादेर मायेर प्रकृत रूप, जाहा दिव्यचक्षुते देखा हइयाछे, ताहार अनतिरंजित सरल सत्य वर्णना। अर्जुन कालीर विश्वरूप देखेन नाइ, देखियाछिलेन कालरूपी श्रीकृष्णेर संहारक विश्वरूप। एकइ कथा। दिव्यचक्षुते देखिलेन, वाह्यज्ञानहीन समाधिते नहे—जाहा देखिलेन व्यासदेव ताहार अविकल अनतिरंजित वर्णना करिलेन। स्वप्न नहे, कल्पना नहे, सत्य, जाग्रत सत्य

कारण जगतेर रूप

भगवान-अधिष्ठित तीन अवस्थार कथा शास्त्रे पाओया जाय,—प्राज्ञ-अधिष्ठित सुषुप्ति, तैजस वा हिरण्यगर्भ-अधिष्ठित स्वप्न, विराट्-अधिष्ठित जाग्रत्। प्रत्येक अवस्था एक-एक जगत्। सुषुप्तिते कारणजगत्, स्वप्ने सूक्ष्मजगत्, जाग्रते स्थूल जगत्। कारणे जाहा निर्णीत ओ आमादेर देश-कालेर अतीत, सूक्ष्मे ताहा प्रतिभासित, स्थूले आंशिकभावे स्थूलजगतेर नियम अनुसारे अभिनीत हय। श्रीकृष्ण अर्जुनके बलिलेन, आमि धार्त्तराष्ट्रगणके पूवइ वध करियाछि, अथच स्थूल जगते धार्त्तराष्ट्रगण तखन युद्धक्षेत्रे अर्जुनेर सम्मुखे दण्डायमान[31], जीवित, युद्धे व्यापृत[32]। भगवानेर एइ कथा असत्य नहे, उपमाओ नहे। कारणजगते तिनि तांहादिगके वध करियाछिलेन, न चेत्[33] एइलोके तांहादेर वध असंभव। आमादेर प्रकृत जीवन कारणे, स्थूले ताहार छाया मात्र पड़े। किंतु कारणजगतेर नियम, देश, काल, रूप, नाम स्वतंत्र[34]। विश्वरूप कारणेर रूप, स्थूले दिव्यचक्षुते प्रकाशित हय।

दिव्य चक्षु

दिव्यचक्षु कि? कल्पनार चक्षु नहे, कविर उपमा नहे। योगलब्ध दृष्टि तिनप्रकार आछे—सूक्ष्मदृष्टि, विज्ञानचक्षु ओ दिव्यचक्षु। सूक्ष्मदृष्टिते आमरा स्वप्ने वा जाग्रदवस्थाय मानसिक

---

[25]पेश हुआ है। [26]मंजूर। [27]अपूर्व। [28]अनगिनत। [29]छा रही है, फैली है। [30]झुलसाकर। [31]उपस्थित। [32]संलग्न। [33]नहीं तो। [34]अलग, भिन्न।

मूर्त्ति देखि; विज्ञानचक्षुते आमरा समाधिस्थ हइया सूक्ष्मजगत् ओ कारणजगतेर अन्तर्गत नाम-रूपेर प्रतिमूर्त्ति ओ सांकेतिक रूप चिदाकाशे देखि; दिव्यचक्षुते कारणजगतेर नामरूप उपलब्ध करि,—समाधितेओ उपलब्ध करि, स्थूलचक्षुर सम्मुखेओ देखिते पाइ। जाहा स्थूलेन्द्रियेर अगोचर ताहा यदि इंद्रियगोचर हय, इहाके दिव्यचक्षुर प्रभाव बुझिते हय[35]। अर्जुन दिव्यचक्षुर प्रभावे जाग्रदवस्थाय भगवानेर कारणान्तर्गत विश्वरूप देखिया संदेहमुक्त हइलेन। सेइ विश्व-रूपदर्शन स्थूलजगतेर इंद्रियगोचर सत्य ना हउक[36], स्थूल सत्य अपेक्षा सत्य, कल्पना, असत्य वा उपमा नहे।

(समाप्त)

व्यक्तिगत जीव केवल वाह्य रूपको ही देखता है और इसलिये उसके लिये परात्पर भगवान्के उद्देश्यों और पद्धतियोंका पता पा लेना संभव नहीं। परात्पर प्रभुको समझनेके लिये उसे उनके साथ एकात्म हो जाना चाहिये।

***

भागवत संकल्पके साथ व्यक्तिगत संकल्पके युक्त होनेके चार स्तर हैं—अभीप्सा, आत्मदान, ग्रहणशीलता और सहयोग।

***

इस भौतिक जगत्में अंधकारकी भी एक अपनी उपयोगिता है; यह कभी-कभी रक्षक पर्देका काम करता है।

—श्रीमां

---

[35]समझना चाहिये। [36]न हो।

हमारी अभीप्सा

हम यथार्थ रूपमें मुक्त होना चाहते हैं। हम जीना और महान् होना चाहते हैं। व्यक्तिके नाते, हम शुद्ध-पवित्र और सच्चे मनुष्य होना चाहते हैं; हम आत्मज्ञानी, देवतुल्य चरित्रवाले और सत्यको जीवनमें उतारनेवाले व्यक्ति होना चाहते हैं। राष्ट्रके नाते, हम संसार-में स्वतंत्र राष्ट्रोंकी सभामें अपना ठीक-ठीक स्थान पाना चाहते हैं; आदरणीय, दूसरोंकी सहा-यता करनेवाले और सुखी बनना चाहते हैं; सत्यके अपने मिशनको पूरा करना और घवड़ायी हुई मनुष्यजातिमें आत्माका संदेश फैलाना चाहते हैं।

हम अपन देशको फिरसे स्वास्थ्य, धन और यशसे, उन्नति और सुख-शांति और प्राचुर्यसे, ज्ञान और कला और सौंदर्यसे भर देना चाहते हैं।

हम अपने तीस करोड़[1] वहन-भाइयोंतक फिरसे आत्माका ज्ञान पहुंचाना, उनके हृदयोंमें सोये हुए देवत्वको जगाना, उन्हें महान्, समृद्ध और शक्तिशाली होनेमें सहायता देना, उनके लिये शिक्षा, ज्ञान और संस्कृतिका दरवाजा खोलना, उन्हें विज्ञानके सत्यों और उनके व्यवहारों-को सिखाना, उन्हें कलाका सौंदर्य और महत्त्व दिखाना तथा जीवनमें संगठनके उपयोग और आत्माके मिलनके मूल्यका अनुभव कराना चाहते हैं।

अपने समूचे समाजको हम एकता, प्रेम और भ्रातृत्वके नये आधारपर फिरसे संगठित करना और अंतमें उसे उन भगवान्का आदर्श वाहन बनाना चाहते हैं जिनका दूसरा नाम है ज्योति, जीवन, शांति और अमरत्व जिसमें कि यह (समाज) पृथ्वीपर भी वैसा ही हो जैसा कि वह स्वर्गमें है।

इसके लिये जिस चीजकी आवश्यकता है वह है आध्यात्मिक नवजन्म अर्थात् आंतरिक परि-वर्तन, आत्माका शुद्धीकरण, द्वन्द्व और कामनासे मुक्ति, हमारे मानवीय अहंभावका उसी तरह उसके पूर्ण व्यक्तित्वके सनातन सत्यमें रूपांतर जिस तरह हमारे मनका अतिमनमें रूपांतर।

हमारे जीवनके प्रत्येक अंगको इस महान् परिवर्तनमें भाग लेना चाहिये, हमारी सत्ताके सभी भागोंको, शरीर, प्राण, मन, हृदय और बुद्धिको उनकी सच्ची और समुचित संसिद्धि प्राप्त

[1] उन दिनों भारतकी आवादी तीस करोड़ ही थी।

होनी चाहिये तथा उन्हें शक्ति और परिपूर्णताके उच्चतम शिखरपर उठा ले जाना चाहिये। आंतरिक व्यक्तित्व और यंत्र-रूप प्रकृति दोनोंका ही पूर्ण रूपांतर साधित होना चाहिये।

इसके लिये फिर आवश्यक है सामाजिक नवजन्म। एक सर्वव्यापी परिवर्तन होना चाहिये, एक नयी सामाजिक व्यवस्था उत्पन्न होनी चाहिये, धनी और मजूर, ब्राह्मण और शूद्रके बीचकी सभी प्राचीन, अन्यायपूर्ण दीवालें और विभेद दूर हो जाने चाहियें, सबको समान पद-प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये, सबकी आत्मोन्नति और आत्माभिव्यक्तिके लिये एक समान सुविधा, सुयोग और सुअवसर प्राप्त होना चाहिये। अब दासत्व और प्रभुत्वके लिये, सनातन सेवक और सनातन सेव्यके लिये कोई स्थान नहीं होना चाहिये,—सबके अंदर एक ही भगवान् निवास करता है जो प्रत्येकके भीतरसे अपनी अलग-अलग पर मर्यादायुक्त अभिव्यक्ति करना चाहता है। संस्कृति-को सार्वजनीन बनाना, विभिन्न हितोंका सहयोग, श्रमकी एक समान प्रतिष्ठा और विभाजन—ये तीन उपाय हैं जिनसे एक नयी समाजव्यवस्था लायी जा सकती है। इसका मुख्य मंत्र होगा प्रत्येक व्यक्ति और संपूर्ण समाजकी सतत उन्नति, इसकी अभीप्साकी धुरी और केंद्र होगा सत्य और इसकी चालक शक्ति तथा इसे धारण करनेवाला जीवनानंद होगा सामंजस्य और प्रेम। इसके चार अमर पथप्रदर्शक तत्त्व होंगे ज्ञान, शक्ति, स्वतंत्रता और एकता।

इसके साथ ही साथ आवश्यक है राष्ट्रीय और जातीय पुनर्जन्म।

हम अपने राष्ट्रको बनायेंगे स्वतंत्र, महान्, मनुष्यजातिकी स्वतंत्रता और महानताका स्तंभ, नवीन युग और नवीन राष्ट्रोंका नवजात संदेशवाहक—उसे ऐसा बनाना होगा कि वह राष्ट्रके रूपमें इस आदर्शको जीवनमें उतारे जिसमें कि यह आदर्श मनुष्यजातिके जीवनमें उतरने और अभिव्यक्त होनेमें समर्थ हो।

हमें भारतको फिरसे ऐसा घड़ना होगा जिसमें वह मनुष्यजातिके सामने सत्य, स्वातंत्र्य और सिद्धिका अग्रदूत बन सके—भविष्यकी एक जाति बन सके जो विभिन्न जातियोंके नवीन भविष्य-को उद्घोषित करे।

हम मनुष्य और जातियोंकी भगवत्तामें सदा-सर्वदा विश्वास करते रहे हैं।

हम सत्यके विधानमें विश्वास रखते आ रहे हैं और उसे ही सृष्टिकारिणी भागवत चेतना-का विधान मानते आ रहे हैं। अब उसीकी भावना और शक्तिके द्वारा हम अपने क्रमविकास-का फिरसे संशोधन और संगठन करेंगे।

हम नये सिरेसे अपनी राजनीतिका निर्माण करेंगे जो कि राष्ट्रका संघर्षकारी धर्म है; हम नये रूपमें नीति और सदाचारका निर्माण करेंगे जो कि मानवसमाजका प्रयासलब्ध धर्म है; हम सभ्यताका नवनिर्माण कर उसे सत्यकी शक्ति और अभिव्यक्ति वना देंगे जो कि सबके लिये और सबके धर्मोंका धर्म है।

हमारे सामने भगवान्‌ने जो महान् समीकरण हल करनेके लिये रखा है उसके चार पद हैं–मनुष्य, मनुष्यजाति, दिव्य जीवन और दिव्य सत्य। हम सब लोगोंको इसे हल करना ही होगा। और एकमात्र सत्य-ज्ञानके द्वारा ही, कर्ममें मुक्त हुए अतिमानसके द्वारा ही यथार्थ और पूर्ण, संतोषकारी और सर्वांगपूर्ण समाधान प्राप्त और संसिद्ध किया जा सकता है।

—श्रीअरविंद

भागवत मुहूर्त्त (८)—भाग २—योगप्रसंग :

योगका तंतुजाल

(५)

योगका लक्ष्य है भगवान्; उसकी पद्धति है तपस्या। भगवान् 'सर्व' हैं और जो कुछ सर्वसे अधिक और परे है वह भी हैं; विश्व-सत्तामें ऐसी कोई चीज नहीं जो भगवान् न हो, पर भगवान् उस सत्ताके अंदरकी कोई चीज नहीं हैं, सिवा इसके कि वह संकेतके रूपमें हों, अपनी निजी चेतनाके लिये एक प्रतीकके रूपमें हों। मानवता भी भगवान्‌का एक प्रतीक या छाया है, उन्हींकी प्रतिमूर्त्तिके रूपमें हमारी रचना हुई है; और इसका मतलब यह नहीं है कि हम उनके वाह्य रूपकी प्रतिमूर्त्ति हैं, वल्कि यह है कि हम उनकी सत्ता और व्यक्तित्वकी, उनके दिव्यत्वके सारतत्त्वकी, उसके विशिष्ट गुण, द्रिव्य स्वरूप तथा दिव्य ज्ञानकी प्रतिमूर्त्ति हैं।

प्रत्येक वस्तुके, जिसका गोचर रूपमें अथवा, जैसा कि हम कहेंगे, प्रतीकात्मक रूपमें अस्तित्व है, दो भाग होते हैं, एक तो स्वयं वह वस्तु और दूसरा प्रतीक, आत्मा और प्रकृति, जो वस्तु है (res) और जो चीज वनी है (factum), अक्षर सत्ता और क्षर भूतभाव, जो कुछ उसमें अति-प्राकृत है और जो कुछ प्राकृत है।

विश्व-सत्ताके अंदरकी प्रत्येक वस्तुमें कुछ ऐसा है जो अपने-आपको अतिक्रम करना चाहता है; जड़तत्त्व प्राण बननेके लिये अग्रसर होता है, प्राण मन बननेके लिये आगे बढ़ता है, मन भावनात्मक सत्य बननेके लिये आगे जाता है और भावनात्मक सत्य दिव्य और अनंत आत्मा बन जानेके लिये ऊपर उठता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक प्रतीक, भगवान्‌की आंशिक अभिव्यक्ति होनेकी वजहसे, अपने निजी संपूर्ण सत्यस्वरूपतक प्रसारित होने तथा वही बन जाने-का प्रयास करता है; वह अपने आपातदृश्य स्वरूपको अतिक्रम करके अपना सच्चा आत्मा बन जानेकी अभीप्सा करता है। निर्मित वस्तु सद्वस्तुकी ओर, क्षर भूतभाव अक्षर सत्ताकी ओर, प्राकृत अतिप्राकृतकी ओर, प्रतीक स्वयं सत्य-वस्तुकी ओर, प्रकृति भगवान्‌की ओर आकर्षित होती है।

ऊर्ध्वमुखी गति विश्वगत जीवनकी परिपूर्णताका साधन है; निम्नमुखी गति ही है विनाश, नरक, चिरमृत्यु। प्रत्येक वस्तु ही ऊपरकी ओर उठती है; एक बार जब उसे अपनी यथार्थ सत्ताका सुनिश्चित ज्ञान हो जाता है तब वह अति प्राकृत की खोज करती है। प्रत्येक प्रकार-की प्रकृति ही किसी अतिप्राकृत वस्तुकी ओर जानेका एक पग है, और वह अतिप्राकृत वस्तु स्वयं उसके लिये प्राकृत ही है पर जो कुछ उससे नीचे है उसके लिये अतिप्राकृत है। प्राण जड़तत्त्वके लिये अतिप्राकृत है, मन प्राणके लिये अतिप्राकृत है, विचारात्मक सत्ता मनके लिये अतिप्राकृत है और अनंत सत्ता विचारात्मक सत्ताके लिये अतिप्राकृत है। ठीक उसी तरह मनुष्य पशुके लिये अतिप्राकृत है और भगवान् मनुष्यके लिये अतिप्राकृत हैं। मनुष्य भी जैसे ही अपनी स्वाभाविक सत्ताको सुरक्षित कर लेता है वैसे ही वह भगवान्‌की ओर जानेके लिये अपनी ऊर्ध्व गतिपर बल अवश्य प्रदान करता है। ऊर्ध्वमुखी गति स्वर्गकी ओर जाती है और निम्नमुखी गति नरककी ओर।

पशु-अंतरात्मा जब अपने पशुत्वका अतिक्रमण कर लेता है और मनुष्य बन जाता है तब वह अपनी परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है। मनुष्य भी जब अपने मनुष्यत्वके परे चला जाता है और भगवान् बन जाता है तब वह अपनी परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है।

प्रकृतिकी अधीनता स्वीकार कर लेनेपर हम प्रकृति और भगवान् दोनोंसे बहुत दूर नीचे गिर जाते हैं। प्रकृतिका अतिक्रमण कर जानेपर हम एक साथ ही प्रकृतिकी संपूर्ण संभावनाओं-को चरितार्थ करते और भगवान्‌की ओर ऊपर उठ जाते हैं। मानव सर्वप्रथम दिव्यत्वको छूता है और फिर दिव्य बन जाता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो आत्मा बन जानेके लिये प्रकृतिको मार डालनेका प्रयास करते हैं; परंतु मनुष्यमें निहित भगवान्‌का उद्देश्य यह नहीं है। हमें प्रकृतिको अतिक्रम करना होगा, उसे मारना नहीं होगा।

मनुष्यकी ऐसी प्रत्येक क्रिया जो प्रकृतिको अस्वीकार करना चाहती है, वह चाहे कितनी ही धर्मभावपूर्ण, उच्च, कठोर-संयमपूर्ण क्यों न हो, कितनी ही देदीप्यमान पवित्रता या सूक्ष्मतासे

युक्त क्यों न हो, उसके लिये असफल होना, दुःखदायी निराशा, भ्रमभंजन या विकृतिका शिकार होना ही दैव-निर्दिष्ट है। वह अपने स्वभावमें क्षणस्थायी होती है, क्योंकि वह हमारे लिये भगवान्‌द्वारा निर्दिष्ट परिस्थितिका खंडन करती है। भगवान्‌ने जगत्‌में अपनी आत्म-संसिद्धिकी अनुकूल परिस्थितिके रूपमें प्रकृतिको स्थापित किया है।

मनुष्यकी ऐसी प्रत्येक क्रिया जो हमें प्रकृतिसे संतुष्ट रहने, पृथ्वीपर ही निवास करने और ऊपरकी ओर ताकना बंद कर देनेकी आज्ञा देती है, वह चाहे कितनी भी युक्तिसंगत, दूरदर्शी, व्यावहारिक, प्रभावोत्पादक और सुखदायी क्यों न हो, उसके लिये थक जाना, निर्जीव हो जाना और समाप्त हो जाना अनिवार्य है। वह अपने स्वभावमें क्षणस्थायी है, क्योंकि हमारे अंदर भगवान्‌का जो उद्देश्य है उसका वह खंडन करती है। भगवान् प्रकृतिके अंदर गुप्त रूपसे निवास करते हैं और अपने अदम्य आकर्षणके द्वारा हमें अपनी ओर जानेके लिये बाध्य करते हैं।

जड़वादी क्रियाएं उतनी ही अस्वाभाविक और विकृत हैं जितने कि संन्यासवादी और निषेधात्मक धर्म और दर्शन। प्रकृतिके पास हमें वापस ले आनेका बहाना बनाकर वे हमें उससे एकदम दूर ले जाती हैं; क्योंकि वे भूल जाती हैं कि प्रकृति केवल गोचर रूपमें ही प्रकृति है, यथार्थ रूपमें तो वह भगवान् है। उसके अंदर जो दिव्य तत्त्व है, अत्यंत वास्तव रूपमें वह वही है; बाकी जो कुछ है वह केवल उसके द्वारा साधित निगूढ़ दिव्यत्वके विकास-की अवस्था, प्रक्रिया और क्रमपरंपरा है।

प्रकृतिमें डूब, फंस और बंध न जाना, उससे घृणा न करना और उसे नष्ट न करना-- यह पहली चीज है जिसे हमें अवश्य सीखना होगा यदि हम पूर्णयोगी बनना एवं अपने दिव्य पूर्णत्वकी ओर अग्रसर होना चाहें।

जगत्‌में सहज-स्वाभाविक बने रहकर ही आंतरिक रूपसे प्रकृतिको अतिक्रम करना जिसमें कि आंतर और बाह्य दोनों रूपोंमें हम मुक्त और प्रभु-रूपसे उसे अधिकृत और व्यवहृत कर सकें, स्वराट्-सम्राट् बन सकें--बस, यही है हमारी परिपूर्णता।

प्रतीक रहते हुए ही उसके द्वारा उस सत्तातक पहुंच जाना जो स्वयं अपने-आपको प्रतीकके रूपमें व्यक्त करती है, प्रतीकको संसिद्ध करना--बस, यही है हमारी परिपूर्णता।

मनुष्यताकी एक प्रतिमूर्त्ति रहते हुए, मनुष्योंके बीच एक मनुष्य, सजीव शरीरोंके बीच एक सजीव शरीर, प्राण और जड़तत्त्वमें निवास करनेपर भी मनोमय प्राणियोंके बीच एक मनोमय प्राणी बने रहते हुए, हम ऊपरमें जो कुछ दिखायी देते हैं वह सब होते और बने रहते हुए ही इस समस्त आपातदृश्य मानवत्वको अतिक्रम कर जाना तथा शरीरमें वही बन जाना जो कुछ हम वास्तवमें हैं, ईश्वर, परात्पर और अनंत परमात्मा, विशुद्ध आनंद, विशुद्ध शक्ति, विशुद्ध ज्योति बन जाना--बस, यही है हमारी परिपूर्णता।

हमारा संपूर्ण प्रत्यक्ष जीवन एक भूतभाव है, पर समस्त भूतभावका लक्ष्य और परिपूर्णता है सत्-भाव—और भगवान् ही हैं एकमात्र सत्-भाव; जगत्की प्रकृतिमें, हमारी मानवताके प्रतीकमें ही दिव्य बन जाना—बस, यही है हमारी परिपूर्णता।

अनुसृत योग अपने लक्ष्यमें या तो पूर्ण हो सकता है या आंशिक, या तो चुनाव करनेवाला हो सकता है या सर्वग्राही। पूर्ण और सर्वग्राही योग विभिन्न भावों द्वारा सीमित होनेसे बचता और संपूर्ण दिव्यत्वकी ओर ले जाता है।

अपनी प्रकृतिको अतिक्रम करने और दिव्य बननेके लिये हमें सबसे पहले भगवान्‌को पाना होगा; क्योंकि हम अपने सत्य-स्वरूपका निम्नतर अपूर्ण रूप हैं और वह उसके उच्चतर पूर्ण रूप हैं। ससीमको असीम बननेके लिये असीमताको जानना, प्यार करना और छूना होगा; प्रतीक-सत्ताको अपना निजी सद्-रूप बन जानेके लिये उस सद्-रूपको जानना, प्यार करना और प्रत्यक्ष करना होगा। अवश्यमेव यही धर्मका परमावश्यक औचित्य है; किसी मठ-मंदिर, मत-मतांतर या धर्मशास्त्रका नहीं,—क्योंकि ये सब चीजें तो धर्मांधता हैं, धर्म नहीं—बल्कि उस व्यक्तिगत और घनिष्ठ धार्मिक प्रकृति और भावका जो मनुष्यको परात्परसंबंधी उसकी अपनी ही भावनाकी पूजा करने, अभीप्सा करने या उसके लिये तड़पनेके लिये प्रेरित करता है; क्योंकि हृदयमें ऐसी पूजा-भावना, संकल्पमें ऐसी अभीप्सा या भावावेगमें ऐसी भूख हुए विना अपने-आपको अतिक्रम कर अपनी परा-प्रकृतिमें आरोहण करनेके मानव-प्रकृतिके इस महाकठिन और चरम प्रयासके लिये हमें प्रेरणा या सामर्थ्य नहीं प्राप्त होगी। इसीलिये मनुष्यको ऊर्ध्वमुखी प्रयास करनेवाली उनकी शक्तियोंका आह्वान करनेकी प्रेरणा देनेके लिये देवदूतोंने अपनी वाणी सुनायी और विभिन्न अवतार पृथ्वीपर प्रकट हुए। बुद्धिवाद और भौतिक विज्ञानका लक्ष्य है मनुष्यको उसकी मानवतासे ही संतुष्ट कर देना और इस तरह उसके क्रमविकासको व्यर्थ करके प्रकृतिका विरोध करना; धर्मका—पर दुःखके साथ कहना पड़ता है कि मत-मतांतरों और संप्रदायोंका नहीं—लक्ष्य है मनुष्यको उसके क्रमविकासमें आगे बढ़ाकर प्रकृतिके इस महान् उद्देश्यकी पूर्त्तिमें सहायता करना।

मनुष्यके संपूर्ण प्रयासका सच्चा उद्देश्य है भगवान्‌को प्राप्त करना और उसके जो अन्य दूसरे प्रयास हैं, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, बौद्धिक आदि जितने प्रयास हैं, वे सब उसी महाप्रयासके लिये एक आवश्यक अवस्था तथा मानव-जातिकी एक तैयारी हैं। परंतु प्राप्तिकी स्थितिमें भेद हैं, उसके क्षेत्र और प्रभावोत्पादकतामें भी भेद हैं। भगवद्-उपलब्धिकी इन अवस्थाओंमें हम इस प्रकार उपयोगी विभेद कर सकते हैं—भगवान्‌का स्पर्श, उनके अंदर निवास और भगवान् बन जाना। पहला है प्रारंभिक और मौलिक, जबतक हम अपनी साधारण प्रकृतिके पर्देको पार कर भगवान्‌को नहीं छूते अथवा भगवान् नीचे झुककर हमें अपना स्पर्श नहीं देते, जबतक हम पहले उनका संपर्क चाहे अपने हृदयमें, अपने मनमें, अपने कर्ममें या अपनी सत्तामें नहीं प्राप्त कर लेते, तबतक हम उनके अंदर नहीं जा सकते, उनमें निवास नहीं कर सकते। यदि हम अपनी आत्मामें शक्तिशाली हों तो वह स्पर्श निश्चय ही शीघ्र और क्षिप्र गतिसे आ

सकता है, हम तुरत जग सकते तथा भगवान्में निवास करनेकी, मानवात्माके परमात्मामें, व्यक्ति-के विश्वमें निवास करनेकी स्थितिमें, लंबे कदमोंसे जा सकते हैं। परंतु स्पर्शका वहां होना आवश्यक है। इस प्रारंभिक स्थितिको ले आना, मनुष्यका भगवान्के साथ किसी प्रकारका संपर्क स्थापित करा देना ही मनुष्योंके विभिन्न धर्मोंका सामान्य तथा. . . .एकमात्र कार्य है। इसके उद्देश्यकी दृष्टिसे इस बातका बहुत अधिक महत्त्व नहीं है कि यह संपर्क कैसे स्थापित होता है; चाहे जितने भी भद्दे और प्रारंभिक रूपमें क्यों न हो, चाहे जितनी भी बौद्धिक भूल-भ्रांतियों और भावनात्मक त्रुटियों या नैतिक पतनोंमेंसे गुजरकर क्यों न हो, स्पर्श अवश्य स्थापित होना चाहिये; धार्मिक भावना अनिवार्य रूपसे और सबसे अधिक इसी बातकी मांग करती है। प्रकृति, जैसा कि सदाका उसका तरीका है, अपनी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और तात्कालिक पद-क्षेपोंको तेजीसे आगे बढ़ाती है और चाहे कितनी ही विशिष्ट हानियोंके बदले केवल एक ही महान् और व्यापक लाभ प्राप्त करनेके लिये इच्छुक रहती है। साथ ही, मनुष्यके मानवीय गुणोंका व्यवस्थापन अत्यंत विभिन्न रूपोंमें हुआ है; प्रत्येक व्यक्तिका सर्वप्रधान कर्मस्रोत तथा उसका विशिष्ट स्वभाव इतनी अधिक मात्रा और इतने सूक्ष्म रूपमें दूसरोंसे पृथक् होता है कि प्रकृतिके इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये यह कभी नहीं कहा जा सकता कि संप्रदाय, साधनाएं या विभिन्न धर्म बहुत अधिक हैं। स्वामी विवेकानंदने कितने अच्छे रूपमें यह देखा था कि धर्मकी चरम परिणति उस अवस्थामें होगी जिसमें प्रत्येक मनुष्यका अपना निजी धर्म होगा और वह उसकी अपनी निजी आध्यात्मिक आवश्यकता और प्रकृतिके द्वारा निर्धारित होगा; क्योंकि सामूहिक पंथों, संप्रदायों और धर्मशास्त्रोंकी अस्थायी आवश्यकता और किन्हीं ऐसे अस्थायी लाभोंके होते हुए भी जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता, वे (मनुष्यके) ऊर्ध्वमुखी प्रयासको एक कटा-छंटा रूप देनेमें सहायता करते हैं और उसे उसकी नमनीयता, स्वतंत्रता और संपूर्ण व्यक्तिगत सच्चाईसे वंचित कर देते हैं। पुरोहित और कट्टरतापूर्ण सिद्धांत शायद ही कभी भगवान् और जीवको उस एकांत एवं सहज-स्वच्छंदतामें एक-दूसरेके निकट जानेकी स्वतंत्रता देंगे जो मिलन-को उसकी सर्वोच्च तीव्रता और आनंद प्रदान करते हैं। वे सर्वदा ही विवाहको नियंत्रित करने, उसपर अपना प्रभुत्व बनाये रखने तथा सूत्रों, ऋचाओं और वैधानिक पंजीकरणके द्वारा उसे वैध घोषित करनेके लिये जबर्दस्ती बीचमें घुस आते हैं।

फिर, प्राकृत मनुष्यकी बुद्धि संकीर्ण होती है, उसका प्रयत्न शीघ्र ही शिथिल पड़ जाता है और अपूर्णतासे ही आसानीसे संतुष्ट हो जाता है। यदि वह किसी कारण यह सोचने लग जाय कि भगवान्के साथ संपर्क करनेका मेरा तरीका ही एकमात्र तरीका है तो उच्चतर विकास करनेकी उसकी अपनी स्वतंत्रता अवरुद्ध हो जाती है अथवा उससे एकदम छीन ली जाती है और वह अपने बौद्धिक और धार्मिक अहंकारके वश दूसरोंकी स्वतंत्रताके विरुद्ध युद्ध छेड़ देता है। अधिकांश धर्म सहज ही यह मानने लग जाते हैं कि यदि भगवान्के साथ एक बार संपर्क स्थापित हो गया, —भले ही वह संपर्क कितना ही सीमित और किसी भी प्रकारका क्यों न हो—, तो जो कुछ करणीय है वह किया जा चुका, जो कुछ भगवान् हमसे चाहते हैं वह सब पूरा हो गया। सामान्य प्रचलित धर्मोंका स्वाभाविक झुकाव द्वैतवाद तथा मनुष्य और भग-

वान्के बीच तीव्र भेद बनाये रखनेकी ओर होता है और इस प्रकार वे प्रतीकात्मक सत्ताको उस सद्वस्तुसे पृथक् कर देते हैं जो स्वयं उस प्रतीकके अंदर अभिव्यक्त होती है। वे धर्म जहां एक हाथसे मनुष्यको उसकी उच्चतर परा-प्रकृतिकी ओर उठा ले जाते हैं, वहां दूसरे हाथसे उसे उसकी सामान्य प्रकृतिमें ही रोक रखते हैं। निम्नतर सत्ता उच्चतर स्तरकी आभासे सराबोर और उसकी शक्ति और उल्लाससे प्रभावित हो जाती है, पर वह स्वयं उसमें ऊपर उठकर निवास नहीं करती। अपनी निम्नतम अवस्थामें द्वैतवादी आत्मा अपनी अपूर्णताओंकी छाप बनाये रखता है और अपनी उच्चतम स्थितिमें, अपने विरल आत्मातिक्रमणके क्षणोंको छोड़कर, वह भय और आदरके भावके साथ अपनेको दिव्य प्रेमीसे पृथक् किये रहता है; वह उसके पैरों-की पूजा तो करता है पर उसकी गोदीमें शरण नहीं ले सकता।

अतएव प्रकृतिने मनुष्यकी ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्तिका और भी आगेतक अनुसरण करके एक ऐसे अधिक शक्तिशाली मानवात्माओंके वर्गका निर्माण किया है जो इस प्रारंभिक प्रयत्नसे परे चले जाने और स्वयं भगवान्की सत्तामें प्रवेश कर वहां परमानंदमें निवास करनेमें समर्थ होते हैं। अनंतकी चेतनामें प्रवेश करने, उसे अपने चारों ओर और अपने भीतर अनुभव करने, उसके स्पर्शसे सदा पुलकित होते रहने, अपनी प्रकृति, आनंद और आंतरिक अभिज्ञतामें उसके साथ अपने तादात्म्यका ज्ञान होनेपर भी वे उस तादात्म्यके अंदर अपनी विशिष्ट सत्ताकी सतत भिन्नताको बनाये रखते हैं। वे उस दिव्य समुद्रमें पूरी तरह डुबकी नहीं लगाते अथवा, यदि वे उसके अंदर धीरे-धीरे घुसते भी हैं तो वे गहराई नापनेकी रस्सीको पकड़े रखते हैं जिसमें कि ऊपरी सतहके साथ उनका संपर्क बना रहे। स्वभावतः ऐसे मनुष्य विशिष्टाद्वैतवादी होते हैं, ऐसी आत्माएं होते हैं जो संपूर्ण एकत्वकी ओर आकर्षित नहीं हैं। परंतु जबतक मनुष्य फिर बाहर निकलनेकी कोई परवा न कर पूर्णतः भगवान्में डूब नहीं जाता, जबतक मनुष्य अपनी सत्ताका एक भी कण, यहांतक कि व्यक्तिगत अहंभावकी पृथक्ताका अंतिम कण भी बचाये बिना अपने-आपको संपूर्ण रूपसे भगवान्के लिये न्योछावर नहीं कर देता तबतक मनुष्यके अंदर भगवान्का उद्देश्य सर्वथा संसिद्ध नहीं हो सकता। अतएव प्रकृतिने या भगवान्की इच्छा-शक्तिने—क्योंकि प्रकृति क्रियाशील भगवान्की इच्छा-शक्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है—यह व्यवस्था की है कि कुछ व्यक्ति भगवान्में निवास कर, दिव्यात्मामें निवास करनेवाले मानवात्मा बनकर, तुरंत ही, कुछ विलंब अथवा बहुत देर से भगवान्में एकदम विलय हो जानेके लिये अदम्य रूपसे आहूत होंगे। ऐसे लोग अंतर्मुखी हो जाते हैं और अहंकारके अंतिम चिह्नतकको भगवान्में निक्षिप्त कर देते हैं। एक महान् गुरुका कहना है कि उनमेंसे कुछ लोग तो 'जीवकोटि' के होते हैं अर्थात् मानवजीव होते हैं जो प्रतीकात्मक स्वभावकी ओर इतनी अधिक प्रमुखतासे झुके होते हैं कि यदि वे एक क्षणके लिये भी अपने प्रतीकात्मक स्वभावको सद्वस्तुके अंदर खो दें तो फिर वे अपने-आपको ही खो बैठते हैं; एक बार (भागवत सत्तामें) निमज्जित हो जानेपर फिर वे वापस नहीं आ सकते; वे मानों भगवान्में लीन होकर मनुष्यजातिके लिये विलुप्त हो जाते हैं। दूसरे 'ईश्वरकोटि' के होते हैं अर्थात् ऐसे मनुष्य होते हैं जिनकी सत्ताका केंद्र पहलेसे ही ऊर्ध्व चेतनामें स्थानांतरित हो चुका है अथवा आरंभसे ही सचेतन सत्ताकी उच्चतर भूमिकाओंमें उन्नीत

होकर प्रकृतिकी अपेक्षा भगवान्में प्रतिष्ठित हो चुका है। ऐसे लोग पहलेसे ही भगवान्से प्रकृतिकी ओर झुके हुए होते हैं; अतएव वे अपने-आपको भगवान्में खो देनेपर भी अपने-आपको बनाये रख सकते और नर-नारायणमें निवास कर सकते हैं। वे अपनी सत्ताके केंद्रसे विलग नहीं होते वल्कि यों कहा जा सकता है कि वे उसके भीतरसे होकर आगे जाते हैं; पहुंच जानेके बाद वे फिर मनुष्यताकी ओर झुकनेमें समर्थ होते हैं। जो लोग इस तरह अपने भागवत सत्यमेंसे बाहर निकल सकते हैं वे ही मनुष्यजातिके अंतिम सहायक होते हैं और जिस अतिप्राकृत मनुष्योंकी जातिकी ओर ऊपर उठनेका प्रयास हमारी मानवता कर रही है उसको तैयार करनेके लिये भगवान् तथा प्रकृतिद्वारा चुने जाते हैं।

इस तरह, मानवकी भगवदुपलब्धिकी ये तीन दिव्य अवस्थाएं या स्थितियां हैं जिनकी कल्पना अलग-अलग की गयी है। मनुष्य अपनी बुद्धिमें उदार तो है ही नहीं, वरन् अपनी शक्ति और विवेकमें सीमित है और इस कारण वह सामान्यतया इस पृथक् धारणासे चिपक जाता है और इन अवस्थाओंमेंसे किसी एकके द्वारा अपनेको सीमित कर लेता है। यौगिक पद्धति भी मनुष्योंके विभिन्न स्वभावोंके विषयमें सावधान होनेके कारण उनकी ससीमताओंके साथ अपना मेल बैठा लेती है, चयनात्मक बन जाती है और इनमेंसे किसी एक अवस्थापर केंद्रित होती है। अथवा यहांतक कि वह आंशिक बन जाती है और चुनाव भी करती है; क्योंकि भगवान्-के साथके अपने संपर्कमें वह पूर्ण भगवत्ताके बदले भागवत गुणके एक अंशके साथ, करुणामय भग-वान्, न्यायशील भगवान्, दिव्य प्रभु, दिव्य सखाके साथ, अथवा निर्व्यक्तिक दिव्य सत्ताके किसी भावके साथ, अनंत आनंद, अनंत शक्ति या अनंत शांति और पवित्रताके साथ अपनेको जोड़ लेती है। भगवान्में निवास करनेमें वे ही सीमाएं रह सकती हैं, भगवन्मय हो जानेमें भी वे बनी रह सकती हैं। इस चुनावकी प्रक्रियामें या इस आंशिकतामें कोई दोष नहीं है। ये आव-श्यक हैं; मानवीय सीमाएं इस उपायकी मांग करती हैं; मनुष्यके पूर्णत्वकी संभावना इन सुविधाओंसे लाभ उठाती है। प्रकृति अपना कार्य जानती है और वह एक ऐसे विशाल, नम-नीय और पूर्ण ज्ञानके साथ उसकी ओर अग्रसर होती है जो हमारी अधीर तार्किक संकीर्णता तथा कठोर एकपक्षीय विचार-संगतियोंपर हंसता है। वह जानती है कि उसे एक अनंततः जटिल और परिवर्तनशील पदार्थके साथ व्यवहार करना है और उसे भी अपनी पद्धतियोंमें अनंतः जटिल और परिवर्तनशील होना होगा। हम केवल सुनिश्चित कार्यपद्धति और अंतिम सिद्धिका ही विचार करते हैं; उसे अपने मार्गपर सहस्रमुखी संघर्षों तथा अगणित संभावनाओंका लेखा-जोखा लेना पड़ता है।

फिर भी, अंतिम लक्ष्य और पूर्ण तथा व्यापक योग वह है जो चुनाव करनेकी अपेक्षा सब-का आलिंगन करता है. हमारे लिये यह अभिप्रेत है कि हम मानवताके प्रतीकके भीतर वही बनें जो भगवान् स्वयं अपने-आपमें तथा विश्व-रूपमें हैं। भगवान् मुक्त, इन सीमाओंसे स्वतंत्र हैं तथा सबको अपने अंदर समाविष्ट करते हैं, वह सर्वदा ही अपनी सत्तामें एक हैं, फिर भी अपने प्रतीकोंके साथ एक तथा उनसे पृथक् दोनों ही हैं तथा उस भेदात्मक एकत्वमें उन प्रतीकोंसे सर्वथा दूर स्थित होनेमें समर्थ होते हैं। इसी तरह, अपनी अंतिम दिव्य सिद्धिमें, जब कि हम

अपने दिव्य आत्माके साथ एक हो चुकेंगे, हम भी एक साथ सब वस्तुओं और जीवोंके आत्माके रूपमें और फिर साथ ही प्रतीकात्मक सत्तामें उनसे पृथक् स्थित रहनेमें समर्थ हो सकेंगे और हमें होना चाहिये, जिसमें कि अपने हर्षोन्मादमें परस्पर मिलते हुए पर साथ ही पृथक् रहते हुए प्रेमी और प्रेमास्पदकी तरह हम एक आनंदमय भेदयुक्त घनिष्टताका उपभोग कर सकें; और हम भगवान्से अलग रहनेमें भी समर्थ हो सकते हैं और हमें होना चाहिये, एक प्रकारकी ऐसी पूर्ण पृथक्ताके साथ दूर रहनेमें समर्थ होना चाहिये जिसमें, विशुद्ध द्वैतवादियोंसे भिन्न, उनका हाथ तो पकड़े रहें पर फिर भी उनसे अलग स्थित हों ताकि हम भगवान्के साथके उस अनंत मानवीय संबंधका आनंद भोग सकें जो द्वैतवादी धर्मोंका अद्‌भुत तत्त्व, सौंदर्य और आह्लाद है। इसे साधित करना ही पूर्णयोग है और जो साधक इस स्थितिको प्राप्त कर सकता है वही अपनी स्थितिमें पूर्णयोगी है।

क्या जीवकी इस त्रिविध अवस्थाका होना संभव है? तार्किक दृष्टिसे तो यह असंभव ही प्रतीत होगा; तार्किक दृष्टिसे सभी त्रिमूर्त्तियां कपोल-कल्पनाएं हैं और कोई भी वस्तु एक समय-में एक ही होनी चाहिये और वह एकत्व, भेदात्मक एकत्व और यथार्थ द्वैत जैसी तीन विभिन्न स्थितियोंको संयुक्त नहीं कर सकती। परंतु इन सब विषयोंमें एक छोटासा अनुभव बहुत लंबे-चौड़े तर्कसे कहीं आगे बढ़ जाता है, और तुम देखोगे कि अनुभव यह दृढ़तापूर्वक प्रस्थापित करता है कि यदि एक बार तुम भगवान्की पूर्णता प्राप्त कर लो तो इस त्रिविध भागवत अवस्थाको प्राप्त करना पूर्णत: संभव और सरल है। हमें आत्माके संबंधमें वही तर्क नहीं प्र-युक्त करना चाहिये जो जड़तत्त्वकी विशेषताओंपर आधारित है। मिट्टीके एक ढेलेके लिये यह सच है कि वह एक ही समयमें किसी पेड़की डालपर लटकता हुआ या रखा हुआ ढेला, पृथ्वीसे बाहर निकला हुआ ढेला या धरती माताकी मिट्टीमें मिलाजुला एक निराकार पिंड नहीं हो सकता। किंतु ऐसा होनेका कारण यह है कि मिट्टीका ढेला पृथ्वीके आकारसे विभक्त है। आत्मा भौतिक आकारकी इन सीमाओंके द्वारा भगवान्से विभक्त नहीं हुआ है। जो कुछ जड़-तत्त्वके विषयमें सत्य है वह आत्माके विषयमें सत्य नहीं है, और न आकारके मानदंड निरा-कारपर लागू होते हैं। क्योंकि जड़तत्त्व आकारमें आबद्ध सचेतन सत्ता है, आत्मा आकारका उपयोग करनेवाली सचेतन सत्ता है पर आकारमें वह आबद्ध नहीं है। और, आत्माको यह सुविधा प्राप्त है कि वह अपनी विशुद्ध सत्तामें अविभाज्य होनेपर भी अपने सचेतन अनुभवमें अपने-आपको स्वतंत्रतापूर्वक विभक्त कर सकता है और एक ही समयमें अनेक स्थितियोंमें अपने-आपको एकाग्र कर सकता है। इसी तपस्‌के द्वारा, आत्मज्ञानकी इसी बहुविध एकाग्रताके द्वारा भगवान् जगत्‌का सृजन और धारण करते हैं तथा एक संग वही भगवान् और प्रकृति और जगत्, सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक, एक और बहु, सगुण और निर्गुण, कृष्ण और काली, और शिव और ब्रह्मा और विष्णु, मनुष्य और पशु और वनस्पति और पत्थर, अपना सभी रूप और अपना सभी प्रतीक बने हुए हैं। अतएव हमें इस बातमें संदेह करनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि हम अपने दिव्य सत्य-स्वरूपको प्राप्त कर लेनेपर किसी एक ही अवस्था या पहलूसे बंधे नहीं रहेंगे, बल्कि एक त्रिविध या यहांतक कि बहु-विध आत्मानुभूतिपर भी अधिकार प्राप्त

कर सकेंगे। हम भगवान् बनकर वह सत्ता बन जाते हैं जो 'सर्व' है और 'सर्व' से अधिक और उससे परे है, सर्वभूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः! पूर्ण ज्ञानीकी आत्मा इहैव, यहींपर, अपने पृथक् अनुभवके मानवीय केंद्रपरसे अपना अधिकार खोये बिना, सर्वभूत बन जाती है तथा वह परात्पर सद्वस्तु बन जाती है जिसमें समस्त वस्तुएं अपना अस्तित्व बनाये रखती हैं। क्योंकि यही वह संपूर्ण दिव्यत्व है जो कि पूर्ण और सर्वसमावेशकारी योगका अंतिम फल है।

—*****—

जो लोग मिथ्यापनसे छुटकारा पानेके लिये उत्सुक हैं उनके लिये यह रहा

एक पथ

अपनेको प्रसन्न करनेकी चेष्टा मत करो, और न दूसरोंको ही प्रसन्न करनेकी चेष्टा करो। बस, एकमात्र परम प्रभुको ही प्रसन्न करनेकी चेष्टा करो। कारण, एकमात्र वही हैं परम सत्य। हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति, हमारे भौतिक शरीरमें विद्यमान मानवीय सत्ताओंमेंसे हरएक सत्ता मिथ्यात्वकी एक परत है जो भगवान्के ऊपर पड़ी हुई है और उन्हें छिपाये हुई है।

चूंकि एकमात्र वही स्वयं अपने तईं सत्य हैं इसलिये हमें उन्हींके ऊपर अपनेको एकाग्र करना चाहिये, न कि मिथ्यात्वकी परतोंपर।

—श्रीमां

चिंतनधारा और सूत्रावली

कुछ वचनोंका स्पष्टीकरण

(७१)

"विचार सत्यको लक्ष्य करके छोड़ा हुआ एक तीर है; वह एक बिंदुपर तो लग सकता है, पर समूचे लक्ष्यको आवृत नहीं कर सकता। परंतु धनुर्धर तो अपनी सफलता-से अच्छी तरह संतुष्ट हो जाता है और उससे अधिक और कुछ नहीं चाहता।"

परंतु यह स्पष्ट है! यह हमारे लिये बहुत स्पष्ट है।

हां, पर समूचे लक्ष्यको ढक देनेके लिये क्या करना चाहिये?

बस, धर्नर्धर नहीं बनना चाहिये!

यह रूपक बड़ा सुन्दर है। यह उन लोगोंके लिये बहुत अच्छा है जो ठीक उस स्थितिमें हैं जहां वे यह समझते हैं कि उन्होंने सत्यका पता पा लिया है।

उन लोगों के लिये ऐसा कहना अच्छा है जो यह विश्वास करते हैं कि उन्होंने (कहने-वालोंने) सत्य पा लिया है, क्योंकि उन्होंने एक बिंदुको छू लिया है।

परंतु हमने कितनी ही बार दूसरी बातें कही हैं।

यहां प्रश्न यह उठता है कि जब मनुष्य संपूर्ण लक्ष्यका आलिंगन करनेमें समर्थ होता है, अर्थात् जब वह सभी दृष्टिकोणोंको तथा सभी चीजोंके उपयोगको समझनेके योग्य हो जाता है, क्योंकि उस समय यह देखता है कि प्रत्येक वस्तु उपयोगी है, प्रत्येक वस्तु अपने स्थानमें है, तब उस दिनसे किस हदतक कार्य करना संभव होता है?

तुम उस दार्शनिककी कहानी जानते हो जो फ्रांसके दक्षिणमें रहता था? मुझे अब उसका नाम याद नहीं है, वह एक बहुत प्रसिद्ध आदमी था। वह मोंपेलिये विश्वविद्यालयमें प्राध्या-पक था और शहरके बाह्य अंचलमें रहता था। वहां कई सड़कें थीं जो उसके मकानतक जाती थीं। प्रत्येक दिन यह मनुष्य अपने विश्वविद्यालयसे निकलकर चौराहेपर आता जहांसे ये सड़कें निकलकर, एक इस दिशासे, दूसरी उस दिशासे, तीसरी और एक दिशासे होकर उसके मकानतक जातीं। और प्रत्येक दिन वह चौराहेपर रुकता और मन-ही-मन प्रश्न करता, "किस सड़कको मैं पकड़ूं?" प्रत्येक सड़ककी अपनी-अपनी सुविधाएं और असुविधाएं थीं। वे सारी

बातें, सुविधाएं और असुविधाएं, यह और वह, उसके मस्तकमें घुसतीं, और वह किस सड़कसे घर वापस जाय इसके चुनावमें उसका आधा घंटा समय नष्ट हो जाता।

उसने स्वयं ही इस बातको उदाहरणके रूपमें रखकर यह बताया था कि चिंतन कार्य करनेमें अक्षम होता है। यदि कोई सोचना-विचारना आरंभ कर दे तो वह कार्य नहीं कर सकता।

यहां, एकदम नीचे, इस स्तरतर, जबतक मनुष्य धनुर्धर है और केवल एक ही बिंदुको छूता है तबतक यह सब बहुत ठीक है। परंतु यह ऊपरके स्तरमें ठीक नहीं बैठता—वहां बात बिलकुल इससे उलटी है! यहां नीचे समूची बुद्धि ही इस प्रकारकी है, वह सब प्रकारकी चीजें देखती है, और चूंकि वह सब प्रकारकी चीजें देखती है वह कार्य करनेके लिये कोई चुनाव नहीं कर सकती। परंतु संपूर्ण लक्ष्यको देखनेके लिये, सत्यको उसके पूर्ण रूपमें देखनेके लिये मनुष्यको दूसरी ओर चले जाना होगा। और जब तुम उस पार चले जाते हो तब तुम विभिन्न सत्योंका एक जोड़ नहीं देखते, तब वहां सत्योंकी अनगिनत अददें नहीं होतीं जिन्हें वहां एक के साथ एकको जोड़ दिया गया है, जिन्हें तुम एक-एक करके देखते हो और एकदम एक साथ समग्र सत्यको नहीं पकड़ पाते। जब तुम एकदम ऊपर चले जाते हो तब सबसे पहले तुम 'संपूर्ण' को ही देखते हो, एक दृष्टिमें संपूर्ण ही तुम्हारी आंखोंके सामने उपस्थित हो जाता है,—एकदम पूर्ण रूपमें, समग्र रूपमें, बिना किसी विभाजनके। और तब मनुष्यको कोई चुनाव करनेकी आवश्यकता नहीं होती, उस समय तो मनुष्यको एक संपूर्ण दर्शन होता है; उस समय बस वही चीज होती है जिसे करना होता है। यह चीज और वह चीज, आया यह चीज या वह चीज—इस प्रकारका यह कोई चुनाव नहीं होता, क्योंकि अब वहां वैसी कोई चीज नहीं होती। वहांपर अब क्रमवार रखी चीजें नहीं होतीं जिन्हें एकके बाद एक तुम देखते हो, बल्कि वहां एक इकाईके रूपमें विद्यमान एक संपूर्णका एकसंग होनेवाला दर्शन होता है।

परंतु जबतक तुम, धनुर्धारीकी तरह, दूसरी स्थितिमें हो, तुम संपूर्णको नहीं देख सकते—तुम क्रमशः संपूर्णको नहीं देख सकते, तुम एक सत्यको दूसरेके साथ जोड़ते हुए संपूर्णको नहीं देख सकते। ठीक यहींपर मन असमर्थ होता है। मन नहीं देख सकता। वह बराबर ही एकके बाद एक देखता है, उसके लिये बराबर ही सत्य एक योगफल होता है, और वह वैसा नहीं है—(मनसे देखनेपर) कुछ-न-कुछ रह जायगा, सत्यका मूल भाव ही ओझल हो जायगा।

जब मनुष्य एक इकाईके रूपमें संपूर्णको एकसंग, वर्तुलाकार रूपमें देखता है केवल तभी वह सत्यको उसके संपूर्ण रूपमें पा सकता है।

और, तब कर्म अब ऐसा चुनाव नहीं रह जाता जिसमें भूल-भ्रांति होती हो, जिसमें सुधार करने और तर्क-वितर्क करनेकी आवश्यकता होती हो, बल्कि उस समय स्पष्ट दिखायी देता है कि क्या करना चाहिये और वह अव्यर्थ होता है।

३ फरवरी १९६२

***

(७२)

"ज्ञानके उदय होनेका चिह्न है यह अनुभव करना कि अभी मैं बहुत थोड़ा जानता हूं या कुछ भी नहीं जानता; और फिर भी, यदि मैं केवल अपने ज्ञानको ही जान पाता तो इसका अर्थ होता कि मैं सब कुछ पा चुका हूं।"

कभी-कभी स्वप्नमें ऐसा होता है कि भविष्यमें जो कुछ होनेवाला होता है उसका बहुत ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त होता है; उस विषयका समस्त स्थूल ब्योरा इतनी असाधारण यथार्थताके साथ प्राप्त होता है मानो प्रत्येक चीज किसी सूक्ष्म जगत्‌में छोटेसे छोटे ब्योरे-के साथ पहले ही संपन्न हो चुकी हो। क्या यह एकदम ठीक होता है? यह ज्ञानका कौनसा स्तर होता है? ऐसा एक ही स्तर है या बहुतसे स्तर हैं? जाग्रत् अवस्थामें ज्ञानपूर्वक इस स्तरमें प्रवेश करनेके लिये क्या करना चाहिये? और क्या बात है कि गंभीर व्यक्ति भी, जिन्हें दिव्य सिद्धि प्राप्त है, अपनी भविष्यवाणीमें ठोस भूलें कर बैठते हैं?

परंतु यह तो पूरा एक जगत् है! यह कोई एक प्रश्न नहीं, यह तो बीसों प्रश्न है! पूर्वाभास देनेवाले नाना प्रकारके स्वप्न होते हैं। इनमेंसे कुछ तो ऐसे स्वप्न होते हैं जो तुरत संसिद्ध हो जाते हैं, अर्थात् रातमें वही स्वप्न आता है जो दूसरे दिन घटित होनेवाला होता है। फिर कुछ ऐसे स्वप्न होते हैं जो अपनी संसिद्धि के लिये अधिक या कम समय लेते हैं। और कालमें अपनी स्थितिके अनुसार ये स्वप्न विभिन्न लोकोंमें देखे जाते हैं।

जैसे-जैसे मनुष्य पूर्ण सुनिश्चितताकी ओर अग्रसर होता है वैसे-वैसे दूरी भी बढ़ती जाती है, क्योंकि वे दर्शन एक ऐसे जगत्‌में प्राप्त होते हैं जो मूलके बहुत समीप होता है और जो कुछ होनेवाला होता है उसके पूर्वाभासके आने तथा उसकी संसिद्धिके बीच एक बहुत दीर्घ कालका व्यवधान होता है। परंतु पूर्वाभास सुनिश्चित होता है, क्योंकि वह मूलके बिलकुल समीप होता है। एक स्थान ऐसा है जहां मनुष्य परात्परके साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है, जहां वह पूर्ण रूपसे सब कुछ भूत, वर्तमान और भविष्यमें तथा सर्वत्र जो कुछ है उसे --जान लेता है। परंतु, साधारण तौरपर जो लोग वहां जाते हैं वे जब लौटते हैं तब अपना देखा हुआ सब भूल जाते हैं। स्मरण रखनेके लिये मनुष्यको एक विशेष प्रकारके कठोर आत्मानुशासनके भीतरसे गुजरनेकी आवश्यकता होती है। और वही एकमात्र स्थान है जहां मनुष्य कोई भूल नहीं कर सकता।

परंतु यातायातकी कड़ियां, जंजीरें सर्वदा पूर्ण नहीं होतीं और बहुत विरल लोग ही याद रख सकते हैं।

अब, जो कुछ मैं कह रही थी, उसपर आ रही हूं। जिस स्तरपर मनुष्य कोई स्वप्न देखता है उसके अनुसार कम या अधिक मात्रामें वह यह निर्णय कर सकता है कि उस दर्शनके संसिद्ध होनेमें कितना समय लगेगा और तात्कालिक चीजें तो संसिद्ध ही होती हैं, सूक्ष्म भौतिक स्तर-

में होती हैं और उन्हें वहां देखा जा सकता है, बस वे हैं, वहां उनका अस्तित्व है, वे महज उस चीजके प्रतिबिंब (केवल प्रतिलिपि ही नहीं), प्रतिबिंब या प्रक्षेप हैं जो दूसरे दिन या कुछ घंटों बाद स्थूल जगत्में घटित होगी। वहां तुम समस्त ब्योरेके साथ ठीक-ठीक वस्तुको देखते हो, क्योंकि वह वहां विद्यमान है; वहां प्रत्येक चीज निर्भर करती है दर्शनकी यथार्थता और उसकी शक्तिपर। यदि तुम्हें देखनेकी ऐसी शक्ति प्राप्त हो जो वस्तुओंको अपनेसे बाहरके विषयके रूपमें देखनेमें समर्थ और सच्ची हो तो तुम उन्हें ठीक-ठीक देखोगे; यदि तुम उसके साथ अपनी भावनाओं और धारणाओंको जोड़ दोगे तो वह उसपर एक रंग चढ़ा देगी। अतएव सूक्ष्म-भौतिक स्तरमें यथार्थता निर्भर करती है पूर्णतः यंत्रके ऊपर, अर्थात् जो देखता है उसके ऊपर।

परंतु जैसे ही तुम अधिक सूक्ष्म राज्योंमें प्रवेश करते हो, जैसे कि प्राणलोक, या मनोलोक जो कि और भी सूक्ष्म है, प्राणलोकमें भी, तब वहां संभावनाओंकी एक सरहद आ जाती है। तब तुम मोटे रूपमें यह देख सकते हो कि क्या घटित होने जा रहा है, पर ब्योरोंका जहांतक संबंध है वह चाहे यह हो सकता है या वह; वहां इच्छाएँ और प्रभाव होते हैं जो संभवतः हस्तक्षेप कर सकते हैं और अंतर पैदा कर सकते हैं।

और इसका कारण यह है कि विभिन्न क्षेत्रोंमें मूल इच्छाशक्ति प्रतिबिंबित होती है, और प्रत्येक क्षेत्र प्रतिमूर्त्तिके संगठन और संबंधको परिवर्त्तित करता है। जिस जगत्में हम लोग रहते हैं वह प्रतिमूर्त्तियोंका जगत् है। यह स्वयं वस्तु अपने मूल रूपमें नहीं है, यह एक वस्तुका प्रतिबिंब है। हम कह सकते हैं कि हम लोग, अपने भौतिक रूपमें, महज एक प्रतिबिंब हैं, जो कुछ हम मूल सत्य रूपमें हैं उसकी एक प्रतिमूर्त्ति हैं। और इन प्रतिबिंबोंका जो सांचा बनानेका कार्य है उसीसे समस्त भूल-भ्रांतियां और मिथ्या आकार उत्पन्न होते हैं—जो कुछ तुम मूल रूपमें देखते हो वह पूर्णतः सत्य और शुद्ध होता है तथा संपूर्ण शाश्वततातक बना रहता है, प्रतिमूर्त्तियां मुख्यतया बदलती रहनेवाली होती हैं। और प्रकंपनोंमें जितनी मात्रामें मिथ्यापन घुसा होता है उतनी ही मात्रामें विकृति और रूपांतर भी बढ़ जाता है। यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक घटना, प्रत्येक वस्तुका एक शुद्ध रूप है जो उसका सच्चा स्वरूप है तथा काफी संख्यामें उसके अशुद्ध या विकृत स्वरूप हैं जो सत्ताके विभिन्न लोकोंमें उसी एक वस्तुके स्वरूप हैं। उदाहरणार्थ, बौद्धिक जगत्में, विकृतिका प्रारंभ हो गया है; मनोमय जगत्में विकृतियोंकी एक बहुत बड़ी तादाद है, और जैसे ही भावावेगों और संवेदनोंके राज्यके बीचमें आ उपस्थित होते हैं वैसे ही विकृतियां बढ़ जाती हैं। और जब एक बार तुम भौतिक स्तरपर पहुंच जाते हो तो बहुत अधिक बार वह चीज पहचानमें ही नहीं आती। वह पूर्ण रूपसे विकृत हो चुकी होती है। इस हदतक विकृत हुई होती है कि कभी-कभी यह भी समझना कठिन होता है कि यह उसी वस्तुकी भौतिक अभिव्यक्ति है—वे एक-दूसरीसे बहुत कम ही मिलती-जुलती हैं।

यह बहुत कुछ समस्याको एक नये ढंगसे देखना है और यह बहुतसी चीजोंको समझनेकी कुंजी दे सकता है।

इस तरह जब तुम किसी आदमीको अच्छी तरह जानते हो और उसे स्थूल रूपमें देखने-के आदी हो, तब तुम यदि उससे सूक्ष्म-भौतिक जगत्में मिलो तो तुम बहुतसी चीजें अधिक निश्चित, अधिक स्पष्ट, अधिक महत्त्वपूर्ण देखोगे जिसे तुमने भौतिक रूपमें नहीं देखा था, क्योंकि स्थूल जगत्की धूमिलताके अंदर वे अन्य बहुतसी चीजोंके साथ उस स्तरके ऊपरसे गुजर गयी थीं। कुछ विशिष्ट गुण अथवा चरित्रकी कुछ विशिष्ट अभिव्यक्तियां ऐसी होती हैं जो स्थूल रूपमें दिखायी नहीं देतीं, पर उस समय एकदम दृश्य बन जानेके लिये पर्याप्त रूपमें महत्त्वपूर्ण हो उठती हैं। जब तुम स्थूल रूपमें किसी व्यक्तिकी ओर ताकते हो उस समय उसके चेहरेका रंग, मुंहकी बनावट और उसकी भाव-भंगिमा आदि कई चीजें विद्यमान होती हैं; फिर जब तुम उसी व्यक्तिके आकारको सूक्ष्म-भौतिक स्तरमें देखते हो तो सहसा तुम देखते हो कि उसके आकारका एक भाग एक रंगका है और दूसरा भाग दूसरे रंगका; उसकी आंखोंमें एक प्रकारकी भाव-व्यंजना है और एक प्रकारकी ज्योति है जो बिलकुल ही दृश्य नहीं थी, और संपूर्ण आकार एकदम भिन्न रूपमें दिखायी देता है, बल्कि एक ऐसी छाप डालता है मानो वह कोई दूसरी ही वस्तु हो और वह वस्तु संभवतः हमारी भौतिक आंखों-के लिये कुछ-कुछ अतिरंजन-सा प्रतीत होगा, पर सूक्ष्म दृष्टिके लिये बड़ा ही अर्थपूर्ण और चरित्रका द्योतक, अथवा उन प्रभावोंको भी बतानेवाला होगा जिनके अधीन वह व्यक्ति होगा (यहां जो कुछ मैं कह रही हूं वह एक अनुभूतिका ही उल्लेख है जो मुझे अभी कुछ दिन पूर्व हुई थी।)

अतएव जितनी मात्रामें तुम सचेतन होगे और जहां तुम देखोगे उसके अनुसार ही तुम प्रतिमूर्त्तियां देखोगे, कम या अधिक निकटकी घटनाओंको देखोगे और उन्हें कम या अधिक सही रूपमें देखोगे। एकमात्र वही दर्शन सच्चा और निश्चित होता है जो भागवत चेतनाका दर्शन होता है। इसलिये प्रश्न यह है कि भागवत चेतनाके विषयमें सज्ञान हुआ जाय और इस चेतनाको पूरे ब्योरेमें एवं सभी समय बनाये रखा जाय।

यहांसे लेकर वहां ऊपरतक सूचनाओंको ग्रहण करनेके बहुतसे तरीके हैं। जिन सब यथार्थ और सही-सही दर्शनोंसे कुछ लोग परिचित हैं उनके कई मूल स्रोत हो सकते हैं। ऐसा दर्शन घटनाओं और वस्तुओंके साथ तादात्म्य हो जानेपर प्राप्त हो सकता है जब कि मनुष्यको अपनी चेतना अपने चारों ओर विस्तारित करनेकी आदत हो जाती है। वह एक संकेत भी हो सकता है जिसे अदृश्य जगत्की कोई वाचाल सत्ता देती है—ऐसी सत्ताको घटित होनेवाली घटनाका पूर्व-संकेत देनेमें मजा आता है; ऐसी बात बहुत बार घटित होती है। फिर प्रत्येक चीज निर्भर करती है तुम्हारे "उद्घोषक" के नैतिक गुणपर; यदि वह तुम्हें बेवकूफ बनाकर आनंद उपभोग करना चाहे तो वह नाना प्रकारकी कहानियां बनाकर कहेगा—और अधिक बार तो उन लोगोंके साथ यही घटित होता है जिन्हें सूक्ष्म सत्ताओंद्वारा सूचनाएं मिलती हैं। वे सत्ताएं, लोगोंको आकर्षित करनेके लिये, अक्सर उन्हें ऐसी बातें कहती हैं जो भविष्यमें होने-वाली होती हैं, क्योंकि उन्हें प्राणमय या मनोमय लोकोंके कुछ स्तरोंको देखनेकी विशाल दृष्टि प्राप्त होती है, और जब वे खूब निस्संदिग्ध हो जाते हैं कि तुम्हें उनपर पूरा विश्वास हो गया

है तव वे कभी-कभी तुमको कल्पनापूर्ण कहानियां सुनाना आरंभ कर देते हैं और इस तरह तुम्हें मूर्ख बनाते हैं। ऐसा बहुत अधिक होता है। तुम्हें स्वयं इन व्यक्तियों या सूक्ष्म सत्ताओं या, जैसा कि कुछ लोग इन्हें नाम देते हैं, इन छोटे-छोटे देवताओंकी चेतनासे ऊपर एक चेतना-में उठ जाना होगा और फिर ऊपरसे उनकी घोषणाओंके मूल्यको नियंत्रित करनेमें समर्थ होना होगा।

यदि तुम्हें वैश्व मनकी दर्शन-शक्ति प्राप्त हो तो तुम सभी मानसिक रचनाओंको देख सकते हो; तव तुम देखते हो—और यह बहुत मजेदार वात है—कि किस तरह मानसिक जगत् भौतिक स्तरपर अपने-आपको संसिद्ध करनेके लिये सुव्यवस्थित हुआ है। तुम विभिन्न रचनाओंको देखते हो, वे जिस तरह आती हैं, युद्ध करती, एक साथ युक्त होती और अपने आपको संगठित करती हैं वह सब तुम देखते हो; जो बच जाती और प्रभाव डालती तथा एक अधिक पूर्ण सिद्धिको प्राप्त होती हैं उन सबको देखते हो। अव तुम यदि वास्तवमें एक उच्च-तर दर्शनशक्ति प्राप्त करना चाहो तो तुम्हें मानसिक जगत्से बाहर निकल आना होगा और तुम्हें मूल संकल्पोंको देखना होगा जव वे अभिव्यक्त होनेके लिये नीचे आते हैं। यहां तुम शायद समस्त ब्योरेकी बातें नहीं जान पाओगे, पर यहां तो केंद्रीय तथ्य प्राप्त होगा, उस तथ्य-का जो केंद्रीय सत्य होगा वह पूर्ण सत्य होगा, उसके विषयमें न कोई विवाद हो सकता है और न उसे अस्वीकार किया जा सकता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो ऐसी बातोंके विषयमें भविष्यवाणी करनेकी शक्ति रखते हैं जो पृथ्वीपर विद्यमान हैं पर हैं कुछ दूरीपर, बहुत अधिक दूरीपर, भौतिक आंखोंसे बहुत दूर—साधारण तौरपर ऐसे लोगोंमें अपनी चेतनाको फैलाने और विस्तारित करनेकी शक्ति होती है। उन्हें एक स्थूल दर्शन-शक्ति प्राप्त होती है, पर वह थोड़ा अधिक सूक्ष्म होती है और एक ऐसी इंद्रियपर निर्भर करती है जो विशुद्ध भौतिक इंद्रियसे अधिक सूक्ष्म होती है (जिसे हम इस भौतिक इंद्रियका प्राण कह सकते हैं)। इस शक्तिके होनेपर मनुष्य अपनी चेतनाको देखने-की एक इच्छाके साथ फैला देता है और वह अच्छी तरह देख सकता है, वह अवश्य चीजोंको देखता है—वे चीजें वहां विद्यमान होती हैं, केवल वे हमारी साधारण दृष्टि-शक्तिके दायरेमें नहीं होतीं। जिन लोगोंमें यह शक्ति होती है और जो अपनी देखी बातें बतलाते हैं, जो लोग सच्चे होते हैं और मीठी-मीठी बातें नहीं बनाते, वे बिलकुल सही-सही ढंगसे देखते हैं।

जो लोग भविष्यवाणी करते या भविष्य देखते हैं उनके लिये मूलमें, एक बड़ी बात है उन-की चरम सहृदयता। दुर्भाग्यवश, लोगोंकी उत्सुकता, उनके आग्रह, उनके द्वारा डाले गये दवावके कारण—जिसके विरुद्ध बहुत कम लोग ही जा पाते हैं—यह होता है कि जब कोई चीज ऐसी होती है जो ठीक-ठीक और स्पष्ट नहीं दिखायी देती तो वहां आंतरिक कल्पना-शक्ति आ जाती है, प्रायः अनिच्छापूर्वक ही आ जाती है और जहां कमी होती है वहां थोड़ीसी कोई चीज जोड़ देती है। इसी वातके कारण उनकी भविष्यवाणीमें दोष आ जाते हैं। बहुत थोड़े-से लोगोंमें यह कहनेका साहस होता है कि, "आह! नहीं, उसे मैं नहीं जानता, वह मुझे दिखायी

नहीं देता।"—बल्कि उन्हें अपनेसे भी यह बात कहनेका साहस नहीं होता। और तब, कल्पनाका थोड़ासा अंश प्राय: अनजानमें ही आकर कार्य कर देता है और तुम अपने दर्शनको पूरा कर देते हो, सूचना दे देते हो—उस समय कोई भी चीज घटित हो सकती है। बहुत थोड़ेसे लोग ऐसे होते हैं जो इस बातसे दूर हट सकें। बहुत, बहुतसे भविष्य देखनेवाले लोगों-से मेरा परिचय हुआ है, मैं ऐसे बहुतसे लोगोंसे मिली हूं जिनमें अद्भुत क्षमता थी; पर उनमें बहुत थोड़ेसे लोग ऐसे थे जो यह जानते थे कि जहां अपना ज्ञान बंद हो जाता है ठीक वहां कैसे रुक जाना चाहिये। हां, विषयके ब्योरेके अंदर तुम इसे जोड़ते हो। और इसी बातके कारण इन क्षमताओंपर थोड़ा अविश्वासका भाव जगता है। सच पूछो तो इसके लिये मनुष्यको वास्तवमें एक संत—एक बड़ा संत—एक महान् संत होना चाहिये—और होना चाहिये संपूर्ण मुक्त, किसी भी हालतमें लोगोंके प्रभावके अधीन नहीं होना चाहिये (मैं स्वभावत: ही उन लोगोंके विषयमें नहीं कहती जो नाम और यश कमाना चाहते हैं, क्योंकि, उस हालतमें वे अत्यंत प्रबल जालमें फंस जाते हैं); यदि तुममें सद्भाव हो और तुम दूसरोंको संतुष्ट और प्रसन्न करना चाहो, उन्हें सहायता करना चाहो तो भी वह उस बातको विकृत करनेके लिये पर्याप्त है।

जब घटनाएं सूक्ष्म भौतिक लोकमें तैयार हो चुकी हैं और उन्हें देखनेकी शक्ति प्राप्त है, तब भी क्या उन्हें बदला जा सकता है? उस समय भी क्या कोई क्रिया कर सकता है?

मैं एक बहुत मजेदार उदाहरण जानती हूं। एक समय दैनिक पत्र 'ल मातैं' (बहुत पुरानी बात है, तुम लोग उन दिनों बिलकुल बच्चे होगे), में प्रत्येक दिन एक छोटा-सा चित्र छपा करता था। उसमें एक लड़का अपनी अंगुलीसे किसी चीजकी ओर संकेत करता हुआ आंका गया था (लड़का सईस के जैसा था अथवा उस तरहका कपड़ा पहने होटलका नौकर था)। लड़का संभवत: एक तिथिकी ओर अथवा किसी ऐसी ही चीजकी ओर संकेत करता था—वह बड़ा छोटासा रेखांकन था। यह वर्तमान कहानी जिस व्यक्तिसे संबंध रखती है वह यात्रा किया करता था और एक बड़े होटलमें ठहरा करता था। मुझे ठीक याद नहीं कि किस शहर-की बात है और रातमें या तड़के सवेरे उसने एक स्वप्न देखा: उसने देखा कि वह होटलका नौकर उसकी अरथीकी ओर संकेत कर रहा है (तुम जानते ही हो कि यूरोपमें यह एक छोटी-सी गाड़ी होती है जिसमें शवको लिटा दिया जाता है) और उसमें घुसनेके लिये उससे कह रहा है! उसने उसे देखा और जब सवेरे वह तैयार होकर नीचे तल्लेपर जानेके लिये अपने कमरेसे बाहर आया तो उसी लड़केको उतरती हुई लिफ्टपर देखा जो लिफ्टसे नीचे जानेके लिये उसकी ओर संकेत कर रहा था। उससे उसे एक धक्का लगा। उसने अस्वीकार करते हुए कहा, "नहीं, धन्यवाद।" लिफ्ट नीचे गिरा और चकनाचूर हो गया, उसमें जितने लोग थे वे सब मर गये। उस आदमीने स्वयं मुझसे कहा कि तबसे मैं स्वप्नोंपर विश्वास करने लगा हूं।

यह एक प्रकारका सूक्ष्म-दर्शन था। उसने लड़केको देखा, पर वहां लिफ्टके स्थानमें अर्थी थी जिसकी ओर उसने संकेत किया। और जैसे ही उसने उसी संकेत, उसी लड़केको देखा जो कि रेखांकन में था, उसने कहा, "नहीं, धन्यवाद, मैं पैदल सीढ़ियोंसे उतरूंगा", और मशीन तुरत टूट गयी और चूर-चूर हो गयी। यह सब बहुत ऊंचाई पर हुआ—सब कुछ पिसकर धूल बन गया।

मेरी व्याख्या यह है कि किसी सूक्ष्म सत्ताने उसे सावधान कर दिया; सईसका प्रतीक हमें यह बताता है कि एक प्रज्ञा, एक चेतनाने हस्तक्षेप किया—ऐसा नहीं प्रतीत होता कि यह उसका अवचेतन भाग था। अथवा यह हो सकता है कि उसकी अवचेतन सत्ताने जान लिया हो और सूक्ष्म-भौतिक भागमें यह देख लिया हो कि यह चीज घटित होने जा रही है, पर उसकी अवचेतन सत्ता इस प्रकारके रूपकी रचना क्यों करती ? मैं नहीं जानती। संभवतः अवचेतन सत्ताके अंदरकी कोई चीज इस बातको जान गयी थी, क्योंकि वह पहलेसे विद्यमान थी, वह सूक्ष्म-भौतिक स्तरमें पहलेसे विद्यमान थी। दुर्घटना घटित होनेसे पहले विद्यमान थी—दुर्घटना-विषयक विधान विद्यमान था।

स्पष्ट ही, प्रत्येक प्रसंगपर थोड़ा अंतर, कभी-कभी कुछ घंटोंका (परंतु यह अधिकसे अधिक अंतर है), कभी-कभी कुछ सेकंडोंका अंतर होता है। और बहुत बार वस्तुएं तुम्हें बताती हैं कि वे आ रही हैं और इस बातके तुम्हारी चेतनातक पहुंचनेमें कभी तो कुछ मिनट, कभी कुछ सेकंड लग जाते हैं। मैं निरंतर और निरंतर यह जानती रहती हूं कि क्या घटित होने जा रहा है और ऐसी चीजोंके विषयमें जानती रहती हूं जिनमें मुझे तनिक भी रुचि नहीं, जिनमें जरा भी आनंद नहीं—कोई चीज पहलेसे जान लेनेमें कोई मजा नहीं है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं मालूम होता। पर यह बात है और यह तुम्हारे चारों ओर विद्यमान है—अगर तुम्हारी चेतना पर्याप्त रूपमें विस्तारित हो तो तुम यह सब जान सकते हो, उदाहरणार्थ, ऐसा एक व्यक्ति एक पोटली लेकर आ रहा है, इस प्रकारकी चीजें ला रहा है। और प्रत्येक दिन ही ऐसा होता है। अथवा, पता चलता है कि ऐसा एक व्यक्ति पहुंचने ही वाला है। इसका कारण यह है कि तुम्हारी चेतना फैली हुई है और वह इन सब चीजोंके संपर्कमें आती है।

परंतु इस प्रसंगमें कोई यह नहीं कह सकता कि यह सब पूर्वाभास हैं; क्योंकि यह सब पहलेसे ही विद्यमान रहता है, केवल हमारी इंद्रियोंके साथ संपर्क स्थापित होनेमें थोड़ा समय लगता है, क्योंकि वहां कोई दरवाजा या दीवाल या और कोई चीज होती है जो देखनेसे हमें रोकती है।

परंतु मुझे बहुत बार इस प्रकारके अनुभव हुए हैं। जैसे, एक बार मैं पहाड़ोंपर घूम रही थी। मैं एक रास्तेसे जा रही थी जिसपर केवल एक ही आदमीके लिये स्थान था—एक ओर तो थी सीधी अतल खाई और दूसरी ओर एक सीधी खड़ी चट्टान। मेरे पीछे तीन बच्चे थे और उनके बाद अंतमें एक मनुष्य। मैं सबसे आगे थी। वह रास्ता चट्टानके किनारे-किनारे जा रहा था, यह नहीं दिखायी पड़ता था कि वह कहां जा रहा था (साथ ही वह बड़ा ही खतरनाक था, यदि कोई फिसलता तो वह सीधे गर्त्तमें चला जाता)। मैं सबसे

आगे-आगे जा रही थी, एकाएक इन स्थूल आंखोंसे भिन्न दूसरी आंखोंसे मैंने देखा (और फिर भी मैं बड़े ध्यानसे अपने पगोंको देख रही थी), मैंने एक सांप देखा, वह वहां, चट्टानकी दूसरी ओर प्रतीक्षा कर रहा था। फिर मैंने एक पग आगे बढ़ाया, खूब धीरेसे, और वास्तवमें दूसरी ओर एक सांप था। उस बातने अचंभेके सदमेसे मुझे बचा लिया, क्योंकि मैंने देख लिया था और बड़ी सावधानीके साथ पग बढ़ाया था; और, चूंकि मुझे अचंभेका सदम. नहीं पहुंचा, इस-लिये बच्चोंको कोई सदमा पहुंचाये बिना मैं उनसे कह सकी, "ठहरो, शांत रहो, जरा भी मत हिलो।" सदमा पहुंचनेपर चाहे कुछ भी घटित हो सकता था। सांपने हमारी आवाज सुन ली थी, वह कुंडलित होकर अपनी बिलके सामने आत्मरक्षार्थ बैठ गया था और अपना सिर हिला रहा था—वह विषैला सांप था। यह घटना फ्रांसमें हुई थी। कुछ भी घटित नहीं हुआ, पर यदि, दूसरी ओर कुछ गड़बड़ हुई होती, शोर-शराबा हुआ होता तो हम नहीं जानते क्या हो गया होता।

इस तरहकी बात मेरे साथ बहुत, बहुत बार घटित हुई है (सांपोंके साथ ही ऐसी बात चार बार घटित हुई है)। एक बार, रातके समय, यहांपर, आरियनकुप्पम्के मछुओंके गांव-के पास एक घटना हुई। वहां एक नदी है और जहां यह नदी समुद्रमें गिरती है ठीक उसी स्थानपर यह घटना हुई। रातका समय था, बहुत जल्दी ही अंधेरा हो गया था। हम लोग सड़कपर घूम रहे थे और ठीक जिस क्षण मैं अपना पैर रखने जा रही थी—मने उसे उठा लिया था और बस नीचे रखनेवाली ही थी कि स्पष्ट रूपमें मैंने अपने कानोंसे एक आवाज सुनी: "सावधान!" और वास्तवमें किसीने ऐसा कहा नहीं था। फिर मैंने नजर दौड़ायी और ठीक उसी समय जब कि मेरा पैर जमीन छूने जा रहा था, मैंने एक बड़ा काला गेहुवन सांप देखा जिसपर बड़े आरामसे मैंने अपना पांव रख दिया होता—और ये जीव ऐसी बात पसंद नहीं करते। वह सरक गया और फिर नदीके उस पार चला गया—हां, हां, वह एक मनोरम दृश्य था! फन खुला हुआ, सिर सीधे उठा हुआ, वह एक बादशाहकी तरह नदीको पार कर चला गया, बाहरी दृष्टिसे ऐसा ही लगा। पर वास्तवमें मुझे अपनी धृष्टताके लिये अवश्य ही दंड मिला होता।

ऐसी बातोंका अनुभव मुझे सैंकड़ों बार हुआ है—ठीक उसी क्षण, एक क्षण भी पहले नहीं, मुझे सूचना मिल जाती थी। और अत्यंत विभिन्न परिस्थितियोंमें ऐसा हुआ करता। एक बार पेरिसमें मैं 'संत मिशेल बुलवार' नामक सड़कको पार कर रही थी (मैंने यह निश्चय किया था कि कुछ महीनोंके अंदर अपनी चैत्य सत्ताके साथ, अंतरस्थ भगवान्के साथ एकत्व प्राप्त कर लूंगी और यह बात प्रायः अंतिम सप्ताहोंमें घटी थी। उन दिनों मैं उसी बातका चिंतन किया करती थी, और किसी विषयमें संलग्न नहीं थी)। मैं लक्जेमबर्गके पास ही रहा करती थी और रोज शामको लक्जेमबर्गमें घूमने जाया करती थी, परंतु सदा ही मेरी चेतना अंतर्मुखी रहती थी। वहां एक प्रकारका चौराहा था और वह जगह ऐसी नहीं थी कि उसे अंतर्मुखी रहते हुए पार किया जाय; ऐसा करना बहुत युक्तिसंगत नहीं था। पर मैं तो वैसी ही थी और आगे बढ़ती जा रही थी; सहसा मुझे एक धक्का लगा, मानो मेरे ऊपर एक प्रहार हुआ

हो, मानो किसीने मुझे आघात पहुंचाया हो, और मैं सहज-स्वाभाविक भावसे पीछेकी ओर लौट आयी, और ज्योंही मैं पीछे हटी, एक ट्राम गाड़ी निकल गयी—इस ट्राम गाड़ीका ही मुझे अनुभव हुआ था, ठीक एक बांहकी दूरीपरसे। उसने प्रभामंडलको स्पर्श किया था, संरक्षणके प्रभामंडलको जो उन दिनों बड़ा प्रबल था, जिसमें गुह्य शक्ति भरपूर मात्रामें थी और मैं जानती थी कि उसे कैसे बनाये रखा जा सकता है। इसी संरक्षणके प्रभामंडलको ट्राम गाड़ीने छुआ था और उससे मैं पीछे धकेल दी गयी थी, मुझे ऐसा लगा था मानो मुझे किसीने स्थूल रूपमें धक्का दिया था। और उसके साथ-साथ थीं ट्राम चलानेवालेकी गालियां! मैं पीछे हटी और ट्राम गाड़ी निकल गयी—एकदम ठीक समयपर!

अब मुझे याद नहीं, पर फिर भी मैं ऐसी एक टोकरी कहानियां सुना सकती हूं।

सबमें कारण अलग-अलग हो सकते हैं। बहुत बार किसी सत्ताने, एक नन्हीं सत्ताने अथवा किसी दूसरे सूक्ष्म जीवने, मुझे खबर दे दी; कभी-कभी संरक्षक प्रभामंडलने बचाया। और ऐसा भिन्न-भिन्न चीजोंके साथ घटित हुआ। कहनेका तात्पर्य, जीवन बहुत कम स्थूल शरीरतक सीमित था—शरीर सुविधाजनक था, बहुत अच्छा था। शरीर आवश्यक है, यह तुम्हारी क्षमताओंको बढ़ा देता है। यही बात एकदम आरंभमें ही उस व्यक्तिने मुझे बतायी थी जिसने मुझे गुह्यविद्याकी शिक्षा दी थी। "तुम अपनी इंद्रियोंको खो देते हो जो बहुत उपयोगी चीजें हैं, यहांतक कि अत्यंत साधारण जीवनके लिये भी।" यह सच बात है, बिलकुल सच है। तुम साधारणतया अपनी इंद्रियोंका व्यवहार करके जो कुछ जानते हो उससे अनंतगुना अधिक जान सकते हो। और केवल मानसिक दृष्टिकोणसे ही नहीं वरन् प्राणिक दृष्टिकोण और भौतिक दृष्टिकोणसे भी जान सकते हो।

परंतु उसकी पद्धति क्या है?

आह! पद्धति बहुत आसान है। इसकी कुछ साधनाएं हैं। यह इस बातपर निर्भर करता है कि तुम क्या करना चाहते हो। क्योंकि, प्रत्येक चीजके लिये एक अलग पद्धति है। और सबसे पहली पद्धति है सबसे पहले उसी चीजको चाहना, अर्थात् एक निश्चय बना लेना। फिर तुम्हारे सामने इन सब इंद्रियोंका वर्णन किया जायगा और यह बताया जायगा कि ये किस प्रकार कार्य करती हैं—यह बात जरा है बड़ी लंबी। तुम एक इंद्रियको या कुछ इंद्रियोंको ले लेते हो अथवा उस एकको ही ले लेते हो जिससे आरंभ करनेकी विशेष क्षमता तुममें है और तुम एक निश्चय कर लेते हो। फिर तुम उसकी साधनाका अनुसरण करते हो। मनुष्य अपनी मांसपेशियोंको विकसित करनेके लिये जैसे व्यायाम करता है ठीक उसी तरहकी ये साधनाएं भी हैं। तुम अपने अंदर एक संकल्पशक्तिका निर्माण करनेमें भी सफल हो सकते हो। परंतु सूक्ष्मतर वस्तुओंके लिये पद्धति यह है कि मनुष्य जो कुछ चाहता हो उसकी ठीक-ठीक कल्पना करे, उससे मिलते-जुलते प्रकंपनोंके साथ अपना संबंध स्थापित करे और फिर चेतनाको एकाग्र करे और अभ्यास करे—एक चीजके भीतर देखनेका, एक शब्दके परे

सुननेका[1], अथवा दूरकी एक चीजको देखनेका अभ्यास करे। उदाहरणार्थ, एक बार मैं बहुत दिनोंतक, कई महीनोंतक बिछौनेपर पड़ी रही और इससे मैं बहुत उकता गयी——मैं देखना चाहती थी। और एक कमरेमें थी। दूसरे कोनेपर एक दूसरा कमरा था और उस कमरेके अंतमें एक पुल-जैसी चीज थी। यह पुल बगीचेके बीचमें जाकर सीढ़ी बन गया था और वह सीढ़ी एक बहुत बड़ी और सुन्दर चित्रशालातक चली जाती थी। वह चित्रशाला बगीचेके बीचों-बीच स्थित थी। मैं यह देखना चाहती थी कि चित्रशालामें क्या हो रहा है, क्योंकि अपने कमरेमें बड़ी बेचैनी अनुभव कर रही थी। मैं एकदम चुपचाप बैठ गयी, अपनी आंखें बंद कर लीं और थोड़ी-थोड़ी, थोड़ी-थोड़ी अपनी चेतनाको भेजने लगी। और दिन-प्रतिदिन ऐसा ही करने लगी——मैंने एक समय निश्चित कर लिया था और नियमित अभ्यास करती थी। इस अभ्यासमें तुम सबसे पहले अपनी कल्पनाका उपयोग करते हो और फिर वह एक सत्य वस्तु बन जाती है। कुछ दिन अभ्यास करनेके बाद मुझे बिलकुल भौतिक संवेदन होने लगा कि मेरी दृष्टि स्थान बदल रही है, मैंने उसका अनुसरण किया और फिर निचले तल्लेकी उन चीजोंको देखने लगी जिनके विषयमें मैं कुछ नहीं जानती थी। मैंने पीछे उनके विषय-में पूछताछ की। शामके समय मैं पूछती, "क्या वह ऐसा है, क्या वह ऐसा था? क्या वह इसके जैसा था?"

परंतु इनमेंसे प्रत्येक चीजके लिये तुम्हें धैर्यके साथ महीनों अभ्यास करना चाहिये और एक प्रकारके हठके साथ करना चाहिये। तुम्हें अपनी इंद्रियोंको, कान, आंख आदिको एक-एक करके लेना चाहिये और अंतमें तुम देखोगे कि तुम्हें रस, गंध और स्पर्शसे संबंधित सूक्ष्म वस्तुओंके विषयमें भी सफलता मिलने लगेगी।

मानसिक दृष्टिकोणसे यह थोड़ा आसान मालूम होता है, क्योंकि मनमें एकाग्र होनेकी आदत तुम्हें है। जब तुम सोचना और एक समाधान पाना चाहते हो तो चिंतनके सहारे अनुमान लगानेकी जगह तुम सब कुछ बंद कर देते हो और एकाग्र होनेकी चेष्टा करते हो, निरंतर एकाग्रताका अभ्यास करते हो, समस्याकी धाराको तीव्र बना देते हो——तुम और सब कुछ बंद कर तबतक प्रतीक्षा करते हो जबतक एकाग्रताकी घनताके फलस्वरूप एक उत्तर नहीं पा जाते। इसमें भी थोड़ा समय तो लग ही जाता है। पर तुम यदि अच्छे छात्र हो तो तुमने अवश्य ही ऐसा करनेका अभ्यास किया होगा और यह इतना अधिक कठिन नहीं है।

---

[1]श्रीमाताजीने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा, "उदाहरणार्थ, शब्दोंके पीछे जाकर सुनना, भौतिक तथ्यके पीछे, शब्दके पीछे, स्थूल स्वरके पीछे या संगीतके पीछे जो सूक्ष्म सत्य स्वरूप है उसके साथ संबंध स्थापित करना। इसका अर्थ है अपने-आपको उस प्राणिक सद्वस्तुके संपर्क-में ले आना जो बाह्य रूपके पीछे है (एक मानसिक सद्वस्तु भी हो सकती है, परंतु सामान्य-तया भौतिक स्वरके पीछे तुरत जो चीज होती है वह प्राणिक सद्वस्तु होती है)।"

एक ऐसी चीज है जिसे हम भौतिक इंद्रियोंका प्रसारण कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'रेड इंडियन' लोगोंमें एक श्रवण-शक्ति और घ्राण-शक्ति होती है जो हम लोगोंकी शक्तियों-से कहीं अधिक दूरतक प्रसारित होती है—और फिर कुत्तोंमें! मैंने एक 'रेड इंडियन' को देखा था (जब मैं आठ या दस वर्षकी थी तब वह मेरा मित्र था), यह बहुत पुरानी बात है, वह अपना कान जमीनपर लगा देता और वह इतना चालाक था कि वह दूरी जान जाता—प्रकंपनोंकी घनताके अनुसार वह यह जान जाता कि कितनी दूरसे किसीके आनेकी आवाज आ रही है। इसके बाद बच्चे तुरत कहने लगते कि "मैं भी यह जानना चाहता हूं", और फिर वे कोशिश करते। इसी तरह वे अपनेको तैयार करते। वे समझते कि वे खेल रहे हैं और इस तरह वे इसके लिये पीछे अपनेको तैयार करते।

२६ फरवरी, १९६२

श्रीमाताजीकी व्याख्या

धम्मपदं

(२)

यमकवग्गो

सुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि अमत्तञ्ञुं कुसीतं हीनवीरियं ।
तं वे पसहति मारो वातो रुक्खं व दुब्बलं ॥७॥

जो शुभ अर्थात् सुखद वस्तुओंकी खोजमें घूमता-फिरता है, जो अपनी इंद्रियोंमें असंयत होता है, जो अपने भोजनकी मात्राको नहीं जानता, जो आलसी और पुरुषार्थहीन होता है, उसे मार ठीक वैसे ही गिरा देता है जैसे कि वायु दुर्बल वृक्षको गिरा देता है।

बौद्ध साहित्यमें मार अशुभ शक्तिको सूचित करता है, उन सब चीजोंको लक्षित करता है जो आध्यात्मिक जीवनके विरुद्ध हैं अथवा उसका विरोध करती हैं; कुछ विशेष प्रसंगोंमें वह मृत्युको सूचित करता है—भौतिक (शारीरिक) मृत्युको उतना नहीं जितना कि सत्यके प्रति, आध्यात्मिक जीवनके प्रति मृत्युको सूचित करता है।

यहांपर इसका अर्थ यह है कि जबतक मनुष्य अपनी इंद्रियों और कामनाओंको संयमित नहीं करता, वरन् बाह्य स्थूल तुष्टियोंको ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण वस्तु समझकर उन्हींमें व्यस्त रहता है, उसमें विरोधी शक्तियोंके, नीचे खींच ले जानेवाली तथा आध्यात्मिक सत्यसे दूर हटा ले जानेवाली वस्तुओंके आक्रमणका सामना करनेके लिये आवश्यक संकल्प-बल नहीं होता।

धम्मपद नैतिक दृष्टिकोणको उतना अधिक अपना आधार नहीं बनाता, यह (मार) वह अशुभ नहीं है जैसा कि मनुष्य उसे अपनी अंध न्याय-भावना और भले-बुरेकी अपनी मनमानी भावनाके द्वारा समझते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे अशुभ वास्तवमें वह वस्तु है जो हमें लक्ष्यसे दूर ले जाती है, जो कभी-कभी हमें हमारे जीवनके मूल अभिप्रायसे, हमारी सत्ताके सत्यसे दूर ले भागती है और उसे प्राप्त करनेसे हमें रोक देती है।

बस, इसी तरह इसे समझना चाहिये।

*

असुभानुपस्सिं विरहन्तं इन्द्रियेसु सुसंवुतं ।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसतहि मारो वातो सेलं' व पब्बतं ॥८॥

जो अशुभ अर्थात् असुखद वस्तुओंकी खोजमें इधर-उधर घूमता है, जो अपनी इंद्रियोंको अच्छी तरह वशमें रखता है, जो अपने भोजनकी मात्राको जानता है, जो श्रद्धावान् और पुरुषार्थी है, उसे मार वैसे ही नहीं गिरा पाता जैसे कि वायु शिलामय पर्वतको नहीं गिरा पाता।

धम्मपद जब श्रद्धाकी बात कहता है तब उसका अर्थ महज किसी मतवाद या किसी धर्म-पर होनेवाला विश्वास नहीं होता, वह गुरुकी शिक्षापर होनेवाला विश्वास भी नहीं होता, वह तो होता है स्वयं अपनी संभावनाओंपर विश्वास, यह दृढ़ प्रतीति कि चाहे जितनी भी कठिनाइयां क्यों न हों, चाहे जितनी बाधाएं क्यों न आयें, चाहे जितनी अपूर्णताएं क्यों न हों, अपनी सत्ताके अंदर चाहे जितनी नकारात्मक भावनाएं भी क्यों न हों, हम इस सिद्धिको प्राप्त करनेके लिये पैदा हुए हैं और हम उसे अवश्य प्राप्त करेंगे।

संकल्पको कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरंतर बने रहना चाहिये और विश्वास अडिग होना चाहिये। फिर जो कुछ सिद्ध करना है उसे सिद्ध करनेके लिये वर्षों लगानेके बदले हम उसे कुछ वर्षोंमें सिद्ध कर लेंगे, कभी-कभी कुछ दिनोंमें भी कर सकेंगे और, यदि हमारे अंदर पर्याप्त तीव्रता हो तो, कुछ घंटोंमें भी कर सकेंगे। कहनेका तात्पर्य, तुम अपने अंदर एक मनोभाव बना सकते हो और फिर सिद्धिको आक्रांत करनेवाली किसी अशुभ इच्छा-में तुम्हें परास्त करनेकी शक्ति नहीं होगी जैसे कि आंधीमें शिलाको हिलानेकी कोई शक्ति नहीं होती।

उसके बाद रास्ता जरा भी कठिन नहीं होता, वह अत्यंत अधिक मनोरम बन जाता है।

*

अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदहेस्सति।
अपेतो दमसच्चेन न स कासावमरहति ॥९॥

जो व्यक्ति अपनी अशुद्धियोंका त्याग किये बिना काषाय वस्त्र धारण करता है और जिसके पास न आत्मसंयम है न सत्य, वह काषाय वस्त्रका अधिकारी नहीं है।

निःसंदेह, काषाय वस्त्र, अपने शाब्दिक अर्थमें, बौद्ध संन्यासियोंका वस्त्र है—यह उन सब लोगोंका वस्त्र वन गया जो त्यागकी साधना करते हैं। परंतु यहांपर धम्मपद वास्तवमें इस वातकी चर्चा नहीं कर रहा है। क्योंकि ऐसे आदमियोंका कोई अभाव नहीं जो गेरुआ वस्त्र पहनते हैं पर अपने दोषोंसे मुक्त नहीं हुए हैं। काषाय वस्त्र इस बातके प्रतीकके रूपमें लिया जाता है कि उसे ग्रहण करनेवाला आध्यात्मिक जीवतके लिये अपनेको उत्सर्ग कर रहा है, वह (वस्त्र) इस वातका बाह्य चिह्न है कि मनुष्य उन सब चीजोंका त्याग कर रहा है जो आध्यात्मिक जीवनके लिये किये जानेवाली अनन्य एकाग्रतासे मेल नहीं खातीं।

बौद्धधर्मके अनुसार 'अशुद्धियों' का मुख्य अर्थ है अहंभाव और अज्ञान; क्योंकि, बौद्धधर्मकी दृष्टिसे, सबसे महान् दोप है अज्ञान, वाह्य वस्तुओंका अज्ञान नहीं, प्रकृतिके विधानोंका अथवा उन सब वस्तुओंका अज्ञान नहीं जिन्हें तुम स्कूलमें सीखते हो, वल्कि वस्तुओंके गभीरतम सत्यका अज्ञान, सत्ताके विधानका, धर्मका अज्ञान।

यहां यह ध्यान देनेकी बात है कि जिन दो बुराइयोंपर जोर दिया गया है वे हैं आत्मसंयमका अभाव और सत्यता (निष्ठा) का अभाव। सत्यताका यहां अर्थ है सत्यहृदयता, ईमानदारी; धम्मपद अत्यंत कठोर रूपमें जिस चीजकी निंदा करता है वह है पाखंड: इस बातका झूठा दिखावा करना कि तुम आध्यात्मिक जीवन विताना चाहते हो पर बिताते नहीं, यह दिखावा करना कि तुम सत्यकी खोज करना चाहते हो पर करते नहीं, दिव्य जीवनके प्रति अपनेको उत्सर्ग कर देनेका बाहरी चिह्न प्रदर्शित करना—यहां गुरुआ वस्त्र उस उत्सर्कका प्रतीक है—पर भीतर स्वयं अपने साथ, अपने ही स्वार्थ और अपनी ही आवश्यकताओंमें संलग्न रहना।

यहां मजेकी वात है आत्मसंयमपर धम्मपदका आग्रह, क्योंकि बौद्ध शिक्षाके अनुसार, प्रत्येक बातमें अतिका होना वुरा है। बुद्ध सदा 'मज्झम निकाय' (मध्यम पथ) पर सबसे अधिक जोर देते हैं। तुम्हें कभी इस ओर या उस ओर वहुत अधिक नहीं चले जाना चाहिये, किसी इस या उस वस्तुको अतिरंजित नहीं करना चाहिये। तुम्हें सभी बातोंमें एक मात्रा, संतुलन, संयमका संतुलन बनाये रखना चाहिये।

अतएव जो गुण तुम्हें आध्यात्मिक जीवन यापन करनेका अधिकारी बनाते हैं वे हैं आंतरिक संतुलन, अपने कर्ममें संतुलन बनाये रखना और प्रत्येक विषयमें संयत होना, सच्चा, ईमानदार, सत्यनिष्ठ होना।

संतुलन, संयम, सत्यनिष्ठा, ईमानदारी: बस, यही आज हमारे ध्यानका विपय है।

*

यो च वन्तकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो ।
उपेतो दमसच्चेन स वे कासावमरहति ।।१०।।

जिसने समस्त अशुद्धियोंका त्याग कर दिया है, जो शील अर्थात् नैतिक आचार-विचारमें अच्छी तरह समाहित है, जो आत्मसंयम और सत्यसे भरपूर है, वही काषाय वस्त्रका अधिकारी है।

मैं नहीं चाहती कि तुम लोग धम्मपदके इन वचनोंको नैतिक प्रश्नोत्तरीके रूपमें स्वीकार करो। वास्तवमें इनका भाव बहुत अधिक गभीर है, क्योंकि सभी यथार्थ आध्यात्मिक शिक्षाओंका उद्देश्य उस नैतिकताकी शिक्षा देना नहीं होता जिसकी कल्पना लोग अपने मनके द्वारा करते हैं।

यही बात 'अशुद्धि' शब्दके बारेमें भी कही जा सकती है। नैतिक दृष्टिसे शुद्धिको जिस रूपमें समझा जाता है वही भाव उस शब्दको किसी सच्ची आध्यात्मिक शिक्षामें नहीं दिया जाता; और विशेषकर बौद्ध धर्मकी दृष्टिसे शुद्धिका अर्थ है अज्ञानका अभाव जैसा कि मैं पिछली बार तुम्हें बता चुकी हूं, और अज्ञानका मतलब है आंतरिक विधानकी, सत्ताके सत्यकी उपेक्षा करना। और सत्यनिष्ठाका अर्थ है मिथ्याको ही सत्य न मान बैठना, परिवर्तनशील और क्षणिक बाह्य रूपको ही सत्ताका आंतरिक और यथार्थ स्थायी रूप न स्वीकार करना।

अतएव हम कह सकते हैं कि जो लोग आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करनेकी साधना करना चाहते हैं उनके लिये अति आवश्यक कार्य हैं आत्मसंयम और आत्मप्रभुत्व, संतुलन तथा निष्काम भावको प्राप्त करना, सत्ताके आंतरिक सत्य एवं उसकी आत्माभिव्यक्तिके नियमोंको खोज निकालना।

अपने प्रति और अपने लक्ष्यके प्रति सच्चा होना, अव्यवस्थित आवेगोंके द्वारा परिचालित न होना, परिवर्तनशील बाह्य रूपोंको ही सद्वस्तु न मान बैठना आदि वे गुण हैं जो अध्यात्म-पथपर प्रगति करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यमें अवश्य होने चाहियें।

—***—

अपनी प्रकृतिको अतिक्रम करने और दिव्य बनानेके लिये हमें सबसे पहले भगवान्‌को प्राप्त करना होगा; क्योंकि हम अपने सत्य-स्वरूपका निम्नतर अपूर्ण रूप हैं और वह (भगवान्) उसके उच्चतर पूर्ण रूप हैं। ससीमको असीम बननेके लिये असीमताको जानना, प्यार करना और छूना होगा; प्रतीक सत्ताको अपनी सद्वस्तु बन जानेके लिये उस सद्वस्तुको जानना, प्यार करना और पूरी तरह पकड़ना होगा।

—श्रीमां

दिव्य जीवन

(श्रीअरविन्द)

प्रथम भाग

ब्रह्म और जगत्

दिव्य जीवन

यह प्रसन्नताकी बात है कि "दिव्य जीवन"का प्रथम खंड इस अंकके साथ समाप्त हो रहा है। हम आगामी अगस्त-अंकसे इसका दूसरा खंड छापना आरंभ करेंगे। पर इस वार हम कुछ परिवर्तन करना चाहते हैं।

दूसरा खंड पहले खंडसे प्रायः दुगुना वड़ा है और इसके अध्याय भी अपेक्षाकृत वहुत बड़े-बड़े हैं। पहले खंडकी तरह इस खंडको अध्यायके हिसाबसे छापते जाना संभव नहीं प्रतीत होता। इसलिये हमने निश्चय किया है कि अब आगेसे "दिव्य जीवन"को फोलियो (Folio) पद्धतिसे छापेंगे अर्थात् इस पुस्तककी पृष्ठ-संख्या अदितिकी पृष्ठ-संख्यासे अलग होगी और वह फार्मके हिसाबसे अलग छापकर अदितिके अंकोंके साथ जोड़ दी जायगी। इसमें पाठकोंकी सुविधा यह है कि यदि वे चाहें तो उन पृष्ठोंको अलग करके स्वतंत्र पुस्तक-के रूपमें बंधा सकेंगे; हम अंतमें विषय-सूची आदि कुछ प्रारंभिक चीजें छापकर उन्हें भेज देंगे। इस तरह अदितिके साथ उन्हें थोड़ा-थोड़ा यह विषय पढ़नेको मिलता रहेगा और अंतमें यह पुस्तक भी तैयार मिल जायगी। इस व्यवस्थासे हमें भी अपने काममें काफी सहूलियत रहेगी। आशा है पाठक इस व्यवस्थाको सहर्ष स्वीकार करेंगे।

—संपादक

अदिति सह भारत माता

भूल-सुधार

[दु:खके साथ सूचित करना पड़ता है कि हमारे पिछले अंकमें एक बड़ी भारी भूल रह गयी। 'दिव्य जीवन' के २५वें अध्यायमें थोड़ा-सा अंश विना छपे रह गया। अब हम उसे यहां छाप रहे हैं; पाठक कृपा कर इस अंशको अदितिके फरवरी, १९६३ के अंकके पृ० ४८ के ठीक बाद पढ़ें और इसके बाद पृ० ४९ को पढ़ें। सं०]

दिव्य नियम तो यह है कि संकीर्ण सत्य महत्तर सत्यमें प्रवाहित हो; अल्प प्रकाश व्यापक प्रकाशमें समा जाय; निम्न इच्छा उच्च रूपांतरकारी इच्छाके प्रति अपने-आपको समर्पित कर दे; क्षुद्र तृप्ति उदारतर और पूर्णतर तृप्तिकी ओर प्रगति करे; परंतु विभाग-धर्म इन उच्च भावोंके वजाय इनके विरोधी भावोंको लाता है, सत्यके पीछे विपर्यय, प्रकाशके पीछे अंधकार, शक्तिके पीछे असामर्थ्य, खोजने और प्राप्त करनेके सुखके पीछे जो कुछ प्राप्त हुआ है उसके प्रति घृणा और असंतोषका दु:ख लगा रहता है। प्राण और शरीरकी व्यथाके साथ मन अपनी व्यथाको भी ले आता है और हमारी प्राकृतिक सत्ताके त्रिविध दोष और त्रुटिका अनुभव करता है। इस सबका अर्थ है आनंदका प्रतिषेध, सच्चिदानंदके त्रित्वका निषेध और इसलिये, यदि यह निषेध अनतिक्रमणीय हो तो, जीवनकी निरर्थकता। क्योंकि सत्ता चेतना और शक्तिकी क्रीड़ामें अपने-आपको डालकर न केवल अपने-आपको पानेके लिये, अपितु, उस क्रीड़ामें तृप्ति पानेके लिये इस लीलाको चालू रख सकती है और यदि उस लीलामें कोई यथार्थ तृप्ति न मिल सके तो अंतमें उसे, अपने-आपको समूर्त करनेवाले ब्रह्मका व्यर्थ प्रयास, एक भारी भूल, एक उन्माद मानकर उसका परित्याग कर देना होगा।

जगत्संबंधी निराशावादी मनका यही संपूर्ण आधार है; इस लोकसे परवर्ती लोकों और अवस्थाओंके विषयमें वह आशावादी हो सकता है, किंतु भौतिक विश्वके साथके व्यवहारोंसे संबंध रखनेवाला जो मनोमय प्राणीका पार्थिव जीवन और उसकी भवितव्यता है उसके विषयमें तो वह निराशावादी ही है। कारण वह मानता है कि भौतिक सत्यका स्वभाव है विभाग और देहधारी मनका बीज है आत्म-परिच्छिन्नता, अज्ञान और अहंकार; इसलिये पृथ्वीपर आत्माकी तृप्तिको खोजना अथवा विश्व-लीलाका कोई लक्ष्य, कोई दिव्य उद्देश्य और अंत खोजनेका प्रयत्न करना एक व्यर्थकी वात और एक प्रकारका मोह है। केवल ब्रह्मके, आत्माके दिव्य धाममें न कि इस पृथ्वीलोकमें, अथवा केवल आत्माकी सच्ची शांत निश्चलतामें न कि उसकी लौकिक क्रियाओंमें हम सत्ता और चेतनाको दिव्य आत्मानंदके साथ पुनः युक्त कर सकते हैं।

अनंत आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको तभी प्राप्त कर सकता है जब कि यह सांत सत्तामें अपने-आपको खोजनेके अपने प्रयत्नको विपर्यय और विपथ जानकर उसका परित्याग कर दे। भौतिक विश्वमें मानसचेतनाका उन्मज्जन भी अपने साथ दिव्य सिद्धिका कोई आश्वासन नहीं ला सकता, कारण विभाग-तत्त्व वास्तवमें भौतिक द्रव्यका धर्म नहीं है अपितु मनका है; भौतिक

द्रव्य तो केवल मनका एक भ्रम है जिसमें कि वह विभाग और अज्ञान-रूप अपने नियमको ले आता है। इसलिये इस भ्रमके भीतर मन केवल अपने-आपको ही पा सकता है। उसने जो विभक्त सत्ताके तीन रूपों (भौतिक द्रव्य, प्राण और मन) की सृष्टि की है, केवल उनके बीचमें ही वह यात्रा कर सकता है; वह वहां ब्रह्मके ऐक्यको अथवा अध्यात्म-सत्ताके सत्यको नहीं पा सकता।

यह सत्य है कि भौतिक द्रव्यमें विभागतत्त्व केवल विभक्त मनकी ही, जिसने कि भौतिक सत्तामें प्रवेश किया है, सृष्टि हो सकता है। कारण वह भौतिक सत्ता कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखती; वह कोई मूलभूत पदार्थ नहीं है अपितु सर्वविभाजक मनकी कल्पनाओंको कार्यान्वित करनेवाला जो सर्वविभाजक प्राण है उसके द्वारा सृष्ट हुआ एक रूप (पदार्थ) है। शुद्ध सत्को भौतिक द्रव्यके अज्ञान, जड़त्व और विभागका रूप प्रदान करते समय विभाजक मन-ने स्वयं अपने बनाये हुए भवनके अंध कारागारमें अपने-आपको खो दिया और बंदी बना दिया है, स्वयं-निर्मित श्रृंखलाओंमें बांध दिया है। यदि यह सत्य हो कि विभाजक मन ही सृष्टिका पहला मूलतत्त्व है तो सृष्टिके भीतर अंतिम प्राप्य वस्तु भी वही होनी चाहिये। इसका यह परिणाम होगा कि मन जो प्राण और भौतिक द्रव्यके साथ व्यर्थ संग्राम किया करता है, उन्हें अपने वशमें करते हुए स्वयं ही उनके वशमें हो जाता है, शाश्वत रूपसे एक निष्फल चक्कर काटा करता है, विश्व-सत्ताका अंतिम और उच्चतम तत्त्व हो जायगा।

परंतु यह परिणाम तब नहीं निकलता यदि, इसके विपरीत, यह सत्य हो कि अमर और अनंत आत्मा ही भौतिक द्रव्यरूपी सघन वस्त्रसे अपने-आपको आच्छादित किये हुए है; वह वहां अतिमनकी परम सृजनकारिणी शक्तिके द्वारा क्रिया करता है; वह मनके विभागोंका और निम्नतम या भौतिक तत्त्वके राज्यका अनुमोदन 'बहु' मेंसे 'एक' की एक विशेष विकास-लीलाकी केवल प्रारंभिक अवस्थाओंके रूपमें करता है। दूसरे शब्दोंमें, यदि विश्वके रूपोंमें केवल मानस-सत्ता ही छिपी नहीं है अपितु अनंत सत्, ज्ञान, इच्छा छिपी है; यह सत्-ज्ञान-इच्छा भौतिक द्रव्यसे पहले प्राणके रूपमें, फिर मनके रूपमें, उन्मज्जित होती है और उसका शेष भाग अभी अप्रकट ही है; ऐसी दशामें, आपाततः निश्चेतनसे चेतनाके उन्मज्जनका कोई दूसरा और पूर्णतर रूप होना चाहिये। तब पृथ्वीपर ऐसे अतिमानसिक आध्यात्मिक प्राणीका प्रकट होना असंभव नहीं रह जाता, जो कि अपने मन, प्राण और शरीरके व्यापारोंपर विभाजक मनके नियमकी अपेक्षा उच्चतर नियमको स्थापित करेगा। बल्कि विश्व-सत्ताका जैसा स्वरूप है उसका यह स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम सिद्ध होता है।

अध्याय २७

सत्ताके सात सूत्र

पाकः पृच्छामि मनसा विजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वितत्निरे कवय ओतवा उ ॥

मनके द्वारा न जान सकनेके कारण मैं देवताओंके सात पदोंको, जो हमारे भीतर निहित हैं, जाननेकी इच्छा करता हूं। सर्वज्ञ देवोंने एक वर्षके शिशुको ग्रहण किया है और उन्होंने यह वस्त्र बनानेके लिये उसके चारों ओर सात सूत्रोंको बुना है।

—ऋग्वेद १-१६४-५

हमने सत्ताके उन सात महान् तत्त्वोंकी विवेचना की है जिन्हें प्राचीन ऋषियोंने संपूर्ण विश्व सत्ताका आधार और सप्तविध रूप निर्धारित किया है; इससे अब हम विकास और अंतर्भाव (involution) की भूमिकाओंका निर्णय कर चुके हैं और जिस ज्ञानके लिये हम प्रयास कर रहे थे उसके आधारपर पहुंच गये हैं। हम यह कह चुके हैं कि जो कुछ भी विश्वमें है उस सबका मूल आधार (धारण करनेवाला), आदि और अंतिम परमार्थ तत्त्व परात्पर और अनंत सत्ता, चेतना और आनंदस्वरूप त्र्येक तत्त्व है, और यह त्र्येक ब्रह्मका स्वरूप है। चेतना-के दो पक्ष हैं,—प्रकाशन और कार्यजनन, आत्म-संवित्की अवस्था एवं सामर्थ्य और आत्म-शक्तिकी अवस्था और सामर्थ्य; सत्पुरुष चाहे अपनी निष्क्रिय अवस्थामें हो अथवा सक्रिय अव-स्थामें, ये दोनों पक्ष उसके स्वरूपके अंगभूत हैं। कारण, जब सत्पुरुष अपनी सृजनात्मक कर्म-की स्थितिमें होता है तब वह शक्तिमती आत्म-चेतनाके द्वारा उस सबको जानता है जो कि उसके भीतर अव्यक्त अवस्थामें होता है और अपनी सर्वज्ञानमयी आत्म-शक्तिके द्वारा ऐसे विश्वको उत्पन्न करता और शासन करता है जिसमें उसकी शक्यताएं निहित हैं। सर्व-सत्तामयके इस सृजनात्मक कर्मकी ग्रंथि चौथे मध्यवर्ती तत्त्व अतिमन या सत्य-संकल्पमें मिलती है; इस अतिमनमें दिव्य ज्ञान आत्म-सत्ता और आत्म-संवित्के साथ एकीभूत होता है; इस अतिमनमें कार्यकरी इच्छा उस ज्ञानके साथ पूर्ण समस्वरता रखती है, कारण अपने सारतत्त्व और स्वभाव-में यह (इच्छा) ज्योतिर्मय कर्मवाली आत्म-चेतन स्वयं-सत् क्रिया-शक्ति है; यह ज्ञान और इच्छा पदार्थोंके कर्म, रूप और धर्मका, उनके स्वयं-सत् सत्यके ठीक अनुसार और उस सत्य-की अभिव्यक्तिके तात्पर्योंके साथ सामंजस्यमें, निर्भ्रांत रूपमें विकास करते हैं। एकत्व और बहुत्वके द्वयात्मक तत्त्वके आधारपर सृष्टि आश्रित है और इन दोनोंके मध्यमें गति करती है; संकल्प, शक्ति और रूपका बहुत्व मूलभूत एकत्वकी अभिव्यक्ति है, और सनातन एकत्व बहु

लोकोंका आधार और याथार्थ्य (Reality) है और उनकी क्रीड़ाको संभव बनाता है। इसलिये अतिमन प्रत्यक्-ज्ञान और पराक्-ज्ञानरूप द्विविध शक्तिके द्वारा क्रिया करता है; वह मूलभूत एकत्वसे परिणत बहुत्वकी ओर गति करते हुए, समस्त पदार्थोंको अपनेमें, अपना स्वरूपभूत एकतमको उसके बहुपक्षोंमें अंतर्मुखतया जानता है; साथ ही वह समस्त पदार्थोंको अपने भीतर अपने ज्ञान और इच्छाके विषयके रूपमें पृथक्-पृथक् बहिर्मुखतया जानता है।

उसकी मूलभूत आत्म-संवित्में समस्त पदार्थ एक सत्ता, एक चेतना, एक इच्छा, एक आत्मानंद हैं और पदार्थोंकी जो भी क्रिया होती है वह एक और अविभक्त होती है; परंतु अपनी सक्रिय अवस्थामें उसकी (अतिमनकी) क्रिया एकत्वसे बहुत्वकी ओर और बहुत्वसे एकत्वकी ओर होती है; वह इनमें एक व्यवस्थित संबंध उत्पन्न करता है; वह इनमें ऐसा विभाग उत्पन्न करता है जो प्रतीयमान होता है, ऐसा यथार्थ नहीं होता जो कि बंधनकारी हो; यह ऐसा सूक्ष्म विभाग होता है जो कि पृथक् नहीं करता, अथवा दूसरे शब्दोंमें, अविभक्तके भीतर सीमानिर्धारण और नियतकरण होता है। अतिमन वह ईश्वरीय ज्ञान है जो कि लोकोंकी सृष्टि करता, धारण करता और उनपर शासन करता है; यह वह गुप्त ज्ञान है जो कि हमारे भीतर ज्ञान और अज्ञान दोनोंकों ही धारण करता है।

हम यह भी बतला चुके हैं कि मन, प्राण और भौतिक तत्त्व इन उच्च तत्त्वोंके त्रिविध रूप हैं। ये तीन तत्त्व (मन, प्राण और भौतिक द्रव्य) हमारे विश्वके भीतर, अज्ञानकी आधीनतामें रहते हुए अर्थात् एकतम तत्त्व जो विभाग और बहुत्वकी अपनी लीलामें अपने-आपको स्थूल रूपमें और आपाततः भूला हुआ है, उसकी इस आत्म-विस्मृतिकी आधीनतामें रहते हुए क्रिया कर रहे हैं। यथार्थमें, ये तीन दिव्य चतुष्ककी केवल उपाश्रित शक्तियां हैं। मन अतिमनकी उपाश्रित शक्ति है; यह मन विभागके दृष्टिकोणको आधार बनाकर अपना कार्य करता है; इस विभागके मूलमें रहनेवाला जो एकत्व है उसे वह यहां सचमुच भूला हुआ होता है, परंतु अतिमनसे प्रकाश प्राप्त करके वह उस एकत्वको फिर प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार प्राण सच्चिदानंदके ऊर्जा-पक्षकी उपाश्रित शक्ति है; यह ऐसी शक्ति है जो कि मनके द्वारा उत्पन्न किये हुए विभागके दृष्टिकोणसे चेतन ऊर्जाके रूप और लीलाको व्यक्त करती है। भौतिक तत्त्व सत्पुरुषके द्रव्य-पक्षका रूप है; जिस समय सच्चिदानंदकी सत्ता अपने-आपको अपनी चेतना और शक्तिके इस प्रपंचात्मक कर्मके अधीन कर देती है तब उस सत्की सत्ता भौतिक द्रव्यका रूप धारण करती है।

इनके अतिरिक्त, एक चौथा तत्त्व है जिसे हम अंतरात्मा या पुरुष कहते हैं; यह उस समय अभिव्यक्तिमें आता है जब कि मन, प्राण और शरीरका गठबंधन होता है। परंतु इसके दो रूप होते हैं, एक सामने और दूसरा पीछे; सामनेका रूप सकाम आत्मा कहलाता है और यह पदार्थको अपने अधिकारमें करने और उनसे सुख भोगनेका प्रयास करता है; सकाम-आत्माके पीछे और अधिकांशमें अथवा पूर्णतया उससे छिपा हुआ सच्चा चैत्य पुरुष है जो कि आत्माके अनुभवोंका यथार्थ भंडार है। और हम पहले ही इस निर्णयपर पहुंच चुके हैं कि यह चौथा मानव तत्त्व, तीसरा जो दिव्य तत्त्व अनंत आनंद है उसका प्रक्षेप और कार्य है; परंतु यह ऐसा

कार्य है जो कि हमारी चेतनाकी अवस्थाओंमें और इस लोकमें अंतरात्माके विकासके अववंधों-के आधीन है। जिस प्रकार ब्रह्मकी सत्ताका स्वभाव है अनंत चेतना और इस चेतनाकी आत्म-शक्ति, इसी प्रकार उसकी अनंत चेतनाका स्वभाव है शुद्ध और अनंत आनंद। सच्चिदानंदके आत्मानंदका सार है आत्म-निष्ठा और आत्म-संवित्।

यह विश्व भी इस दिव्य आत्मानंदकी लीला है और विश्वात्मा इस लीलाके आनंदको पूर्ण-तया अधिकृत करता है। परंतु व्यक्तिगत आत्मा (जीव) में अज्ञान और विभागकी क्रियाके कारण यह आनंद अंतर्वर्ती और अतिचेतन सत्तामें अवरुद्ध दशामें रहता है; हमारी सत्ताके ऊपरी तलपर इसका अभाव रहता है और अपनी व्यक्तिगत चेतनाको वैश्व भाव और परात्पर भावकी ओर उन्नत करके इस आनंदको खोजना, प्राप्त करना और अधिकृत करना होता है।

अतः यदि हम चाहें तो सातके बजाय आठ[1] तत्त्व मान सकते हैं; ऐसी अवस्थामें हम देखते हैं कि हमारी सत्ता ब्रह्मसत्ताका एक परावर्तन है। ये तत्त्व आरोहण और अवतरणके विपरीत क्रममें इस प्रकार हैं:

सत्	भौतिक द्रव्य
चित्	प्राण
आनंद	चैत्य पुरुष
अतिमन (विज्ञान)	मन

ब्रह्म अपनी शुद्ध सत्तासे चित्-शक्ति और आनंदकी लीलाके द्वारा और अतिमन-रूप सृजन-कारी माध्यमके द्वारा विश्वसत्तामें अवतीर्ण होता है। हम भौतिक द्रव्यसे, विकसित होते हुए प्राण, अंतरात्मा और मनके द्वारा और प्रकाशदायक अतिमन-रूप माध्यमके द्वारा ब्रह्मकी ओर आरोहण करते हैं। इनमें ऊपरके चार तत्त्वोंको परार्ध और नीचेके चार तत्त्वोंको अपरार्ध कहा जाता है; इनका संयोग वहां होता है जहां कि मन और विज्ञान एक पर्देको बीचमें रखते हुए मिलते हैं। मानवमें दिव्य जीवन तभी आ सकता है जब कि यह पर्दा विदीर्ण हो जाय; कारण इसके विदीर्ण हो जानेपर निम्न सत्ताकी प्रकृतिमें उच्च सत्ताका प्रकाशदायक अवतरण और निम्न सत्ताका उच्च सत्ताकी प्रकृतिमें शक्तिशाली आरोहण हो जानेपर ही मन सर्व-ज्ञानमय अतिमनमें अपनी दिव्य ज्योतिको पुनः प्राप्त कर सकता है; अंतरात्मा सर्व-आत्ममय सर्व-आनंद-मय आनंदमें अपने दिव्य स्वरूपको उपलब्ध कर सकता है; प्राण सर्व-शक्तिमयी चित्-शक्तिकी लीलामें अपनी दिव्य शक्तिको फिर प्राप्त कर सकता है; और भौतिक द्रव्य दिव्य सत्का एक रूप (दिव्य भाव) धारण करके दिव्य मुक्तिके प्रति अपने-आपको खोल सकता है। और यदि पृथ्वीपर होनेवाले क्रमविकासका कोई अन्य लक्ष्य हो, जिस क्रमविकासका वर्तमान शिखर मनुष्य है उसका लक्ष्य केवल निरुद्देश्य चक्कर काटना तथा कुछ व्यक्तियोंका उस चक्करसे परित्राण पा जाना ही न हो, यदि इस जीव (मनुष्य) की अनंत शक्यताओंका कुछ और अर्थ हो, यहां

---

[1]वैदिक ऋषियोंन सात किरणोंका वर्णन किया है, परंतु उन्होंने आठ, नौ, दस, और बारह किरणोंका भी कथन किया है।

ब्रह्म और जड़ तत्त्वके बीच विद्यमान तथा उनके बीच मध्यस्थता करनेकी शक्ति रखनेवाले एक-मात्र इस जीवकी शक्यताओंका अर्थ महज यही न हो कि वह अपने विश्वकर्मके प्रति निराशा और घृणा हो जानेसे जीवनके मिथ्यात्वके प्रति अंतमें जागृत हो सकता है और फिर जीवनका पूर्णतः परित्याग कर सकता है, तो फिर यह ज्योतिर्मय और शक्तिशाली रूपांतर तथा इस जीवमें भगवान्‌का आविर्भाव ही वह समुन्नत लक्ष्य तथा वह सर्वश्रेष्ठ अर्थ होना चाहिये।

परंतु जिन मानसिक और व्यावहारिक अवस्थाओंमें यह रूपांतर मूलभूत संभावनाओंसे क्रियात्मक शक्यताके रूपमें परिवर्त्तित हो सकता है उनपर विचार करनेसे पहले हमें और बहुत कुछ विचार करना होगा। कारण, सबसे पहले हमें सच्चिदानंदके विश्वसत्तामें अवतरित होनेके मूलभूत तत्त्वोंका निर्णय करना चाहिये और यह हम कर चुके हैं। इसके अनंतर, यहां इस अवतरणके क्रमकी विशाल योजनाका और जिन अवस्थाओंमें हम वर्तमान समयमें हैं उनपर शासन करनेवाली जो चेतन (चित्) शक्ति है उसके अभिव्यक्त सामर्थ्यके स्वभाव और कर्मका निर्णय करना चाहिये। इस समय तो सबसे पहले हमें यह देखना है कि जिन सात या आठ तत्त्वोंकी हमने परीक्षा की है वे सब प्रकारकी विश्वसृष्टिके लिये आवश्यक हैं और अभिव्यक्त या अनभिव्यक्त रूपमें हमारे भीतर विद्यमान हैं और हमारी स्थिति एक वर्षके शिशुके समान है, क्योंकि विकासमान प्रकृतिमें हम अभी वयस्क होनेसे बहुत दूर हैं।

सत्, चित् और आनंदरूप यह उच्च त्रिक संपूर्ण विश्वसत्ताका और विश्वसत्ताकी लीलाका उपादान और आधार है, इसलिये संपूर्ण विश्व अपने मूलभूत परमार्थ तत्त्वका एक आविर्भाव और कार्य होना चाहिये। विश्व किसी ऐसे सत्‌का रूप नहीं हो सकता जो कि पूर्ण शून्यमें प्रकट हुआ हो और पूर्ण शून्यकी श्रेणीमें हो और किसी असत् रिक्तताके विरोधमें खड़ा हुआ हो। विश्व या तो उस अनंत सत्‌के भीतर सत्ताका रूप होगा जो कि समस्त रूपसे अतीत है अथवा वह (विश्व) स्वयं ही वह सर्व-सत् होना चाहिये। वास्तवमें, जब हम अपने आत्मा-को विश्वसत्ताके साथ एकीभूत करते हैं तो हम देखते हैं कि यथार्थमें वह एक साथ दोनों ही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सर्व-सत् (सर्व सत्तामय पुरुष) देश और कालके रूपमें अपना कल्पनात्मक आत्मविस्तार करता हुआ सामंजस्योंकी अनंत परंपराका रूप धारण करता है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि यह विश्व-कर्म या कोई भी विश्व-कर्म सत्ता (सत्)की अनंत शक्तिकी लीलाके बिना असंभव है, क्योंकि सत्ता (सत्) की यह अनंत शक्ति ही इन समस्त रूपों और क्रियाओंको उत्पन्न और व्यवस्थित करती है; और सत्ता (सत्) की यह शक्ति, समान रूपमें, अनंत चेतना (चित्)का कार्य है, क्योंकि इस शक्तिका स्वभाव है विश्व-इच्छा। यह इच्छा समस्त संबंधोंको नियत करती है और अपने ज्ञान-रूप गुणके द्वारा उनका पराग्ज्ञान प्राप्त करती है। और यदि उस विश्व-ज्ञानरूप गुणके पीछे प्रत्यग्ज्ञान करनेवाली चेतना न हो तो यह विश्व-इच्छा उन संबंधोंको इस प्रकार नियत और पराग्ज्ञात नहीं कर सकती; कारण सत्पुरुषके जिस परिवर्धित रूप या भूतभावको हम विश्व कहते हैं उसमें सत्‌के संबंधोंको उस विश्वज्ञानके द्वारा उत्पन्न, धारण एवं स्थिर करनेवाली और उनपर विचार करनेवाली प्रत्यक् ज्ञान-चेतना ही है।

अंतमें, जैसा कि हम देख चुके हैं, चेतन इस प्रकार सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है; वह पूर्णतया ज्योतिर्मय रूपमें अपने आपको प्राप्त रहता (आत्मवान्) है; और ऐसी पूर्ण ज्योतिर्मयी आत्मप्राप्तिका स्वरूप है आनंद, क्योंकि वह इस आनंदके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता; इसलिये एक वृहत् विश्वात्मक आत्मानंद विश्व-सत्ताका कारण, सार और उद्देश्य होना चाहिये। प्राचीन ऋषिने कहा है, "जिस सर्वव्यापी सदाकाशमें हम निवास करते हैं यदि वह आनंदरूप न होता, वह आनंद हमारा आकाश न होता तो न कोई श्वास ले सकता न जीवन धारण कर सकता।[1]

यह आत्मानंद प्रसुप्तावस्थाको प्राप्त हो सकता है, उत्तलपर आपाततः खोया हुआ हो सकता है; किंतु न केवल यह हमारे मूलोंमें अवश्यंभावी रूपसे विद्यमान रहना चाहिये, अपितु संपूर्ण सत्ता ही सारात्मना इसका आविर्झान करने और इसे अधिकृत करनेके लिये अन्वेषण और विस्ताररूप होनी चाहिये। और विश्वमें रहनेवाला जीव जितना अधिक अपने-आपको प्राप्त करता है, चाहे वह इच्छा और शक्ति प्राप्त करे, चाहे वह ज्योति और ज्ञानमें, चाहे सत्ता और विचारमें अथवा चाहे प्रेम और हर्षमें प्राप्त करे, हर दशामें वह गुप्त आनंदके किसी रूपके प्रति उद्‌वुद्ध होता है। अस्तित्व रखनेका हर्ष, ज्ञानके द्वारा अनुभूतिका आनंद इच्छा और वल या सृजनात्मक शक्तिके द्वारा अधिकृत करनेका प्रहर्ष, प्रेम और हर्षके द्वारा मिलनका आह्लाद,—ये जीवनविस्तारकी उच्चतम अवस्थाएं हैं; कारण ये सत्ताके गुप्त मूलोंमें और उसकी अभीतक अदृष्ट उच्चताओंपर रहनेवाले उसके सारतत्त्व हैं। इसलिये जहां कहीं भी विश्वसत्ता अपने-आपको अभिव्यक्त करती है वहां वे तीनों उसके पीछे और भीतर अवश्य विद्यमान रहने चाहियें।

परंतु अनंत सत्ता, अनंत चेतना और अनंत आनंद यदि चतुर्थ तत्त्व अतिमनको अपने भीतर धारण न करें या अपनेसे वाहर प्रकट न करें, तो यह संभव है कि वे अपने-आपको दृश्य सत्ताके रूपमें विलकुल भी प्रकट न करें; अथवा यदि वे प्रकट करें भी तो यह सत्ता विश्व-सत्ता न हो अपितु ऐसे अनंतरूप आकार हों जिनमें कुछ भी निश्चित क्रम, व्यवस्था और संवंध न हो। प्रत्येक विश्वके मूलमें ज्ञान और इच्छावाली एक ऐसी शवित होनी चाहिये जो अनंत शक्यतासे नियत संबंधोंको स्थिर करती है, बीजसे परिणामको विकसित करती है, विश्वधर्म (नियम)के वलशाली सामंजस्योंको व्यक्त करती है, और समस्त लोकोंको उनके अमर अनंत कवि, ऋषि, प्रभुके रूपमें देखती और उनका शासन करती है।[2] यह शवित वस्तुतः स्वयं सच्चिदानंद ही है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है। वह कुछ भी ऐसा उत्पन्न नहीं करती जो स्वयं उसकी आत्म-सत्तामें विद्यमान न हो, और इसलिये विश्वका संपूर्ण और यथार्थ धर्म (नियम) कहीं बाहरसे आरोपित नहीं किया जाता अपितु भीतरसे ही प्रकट होता है; संपूर्ण विकास आत्म-विकास होता है; समस्त बीज पदार्थोंके सत्यका एक बीज होता है और उस बीजका परिणाम

---

[1]को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।' —तैत्तिरीयोपनिषत् २-७

[2]कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः। —ईशोपनिषद् ॥८॥

उस बीजमें निहित शक्यताओंसे निहित होता है। फिर इसी कारण कोई भी धर्म (नियम) निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि केवल अनंत ही निरपेक्ष है; प्रत्येक पदार्थके भीतर अनंत शक्यताएं रहती हैं जो उसके नियत रूप और मार्गसे सर्वथा परे होती हैं; ये शक्यताएं केवल ईश्वरीय संकल्पसे ऐसी आत्मपरिच्छिन्नताके द्वारा नियत होती हैं जो (आत्म-परिच्छिन्नता) भीतरी अनंत स्वतंत्रतासे उद्भूत होती है। आत्म-परिच्छिन्नताकी यह शक्ति सीमाहीन सर्वसत्तामयके भीतर अवश्यंभावी रूपमें निहित है। अनंत अनंत नहीं होगा यदि वह बहुविध सांतताका रूप धारण न कर सके; निरपेक्ष निरपेक्ष नहीं होगा यदि उसके ज्ञान, शक्ति, इच्छा और अभिव्यक्तिमें आत्मनियतकरणकी असीम सामर्थ्य न हो।

अतः यह अतिमन सत्य या सत्यसंकल्प है जो समस्त विश्वशक्ति और विश्वसत्तामें अंत-र्निहित है। यह स्वयं अनंत बना रहता है और अभिव्यक्ति (विश्व) के संबंध, क्रम और महती दिशाओंको नियत, संयुक्त और धारण करनेके लिये इसका होना आवश्यक है। वैदिक ऋषियोंकी भाषामें इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि अनंत सत्ता, चेतना और आनंद जैसे नाम-रहितके तीन उच्चतम और गुप्त नाम हैं वैसे ही यह अतिमन या विज्ञान भी चौथा नाम[1] है। यह उस तत्की ओरसे उसके अवतरणमें चौथा है और हमारी ओरसे आरोहणमें चौथा है।

परंतु मन, प्राण और भौतिक तत्त्व ये निम्नतर तीन तत्त्व भी प्रत्येक विश्व-सत्ताके लिये अपरिहार्य हैं; यह आवश्यक नहीं कि ये उसी रूपमें या वैसी ही क्रिया या अवस्थाओंके साथ हों जो कि हमें पृथ्वीपर या इस भौतिक विश्वमें दिखलायी देती हैं; वे किसी तरहकी क्रियाके रूपमें हो सकते हैं चाहे वह कितनी ही ज्योतिर्मयी, बलवती और सूक्ष्म क्यों न हो। कारण मन सारात्मना अतिमनकी वह शक्ति है जो कि मापती और सीमित करती है, जो एक विशेष केंद्रको स्थिर करती है और उस केंद्रसे विश्वकी गतिको और उसकी अंतर-क्रियाओंको देखती है। यह हो सकता है कि किसी विशेष लोकमें, किसी विशेष स्तरपर या विश्व-व्यवस्थामें मन परिच्छिन्न न हो; अथवा जो प्राणी मनका एक उपाश्रित शक्तिके रूपमें उपयोग करता है वह पदार्थोंको दूसरे केंद्रोंसे या दूसरे दृष्टिकोणोंसे अथवा सबके एकमात्र यथार्थ केंद्रसे अथवा विश्वव्यापी आत्म-विकिरणकी बृहत्तामें देखनेमें समर्थ न हो; परंतु, वह यदि ईश्वरीय क्रियाके विशेष प्रयोजनोंके लिये अपने निजी दृष्टिकोणपर सामान्यतया स्थिर नहीं हो सकता, यदि वहां केवल विश्वव्यापी आत्म-विकिरण है अथवा केवल ऐसे अनंत केंद्र हैं जिनमें प्रत्येकके लिये नियत करनेवाला और स्वतंत्रतापूर्वक परिच्छिन्न करनेवाला कर्म नहीं है, तब इस अवस्थाको विश्व नहीं कहा जा सकता। यह ऐसी स्थिति है जब कि सत्पुरुष सृष्टिकारक नियामक कर्ममें प्रवृत्त होनेसे पहले अनंत रूपमें ध्यान, ईक्षण करता है, जैसे कि कोई स्रष्टा या कवि अपने नियत सृजनात्मक कर्ममें प्रवृत्त होनेसे पहले स्वतंत्रतापूर्वक, न कि नमनशील रूपमें, ध्यान करता है। सत्ताकी अनंत श्रेणी-परंपरामें ऐसी अवस्था कहीं-न-कहीं

---

[1]"तुरीयं स्विद्", विशेष चतुर्थ; तथा "तुरीय धाम" सत्ताका चतुर्थ पद या स्थान भी कहा गया है।

अवश्य रहनी चाहिये। परंतु विश्व शब्दसे जिसका हमें बोध होता है यह वह नहीं है। उसमें चाहे जैसी भी व्यवस्था क्यों न हो, वह एक प्रकारकी अस्थिर, शिथिल व्यवस्था होगी; इस व्यवस्थाको अतिमन संबंधोंके स्थिर विस्तार, माप और अंतर-क्रिया-रूप कार्यमें प्रवृत्त होनेसे पहले विकसित कर सकता है। इस माप और पारस्परिक क्रियाके लिये मनका होना आवश्यक है, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि उसे अपने विषयमें यह ज्ञान हो कि वह (मन) केवल अतिमनका एक उपाश्रित कार्य है; और यह भी आवश्यक नहीं कि वह संबंधोंकी अंतर-क्रियाको आत्मबद्ध अहंकारके आधारपर विकसित करे, जैसा कि हम पार्थिव प्रकृतिमें देखते हैं।

एक बार जब मन अस्तित्वमें आ जाता है तो प्राण और द्रव्यके रूपका अस्तित्व भी हो जाता है; कारण, प्राण चेतनाके अनेक स्थिर केंद्रोंसे ऊर्जाके बल एवं कर्मका और संबंध एवं अंतर-कर्मका केवल नियत रूप है। यह आवश्यक नहीं है कि चेतनाके इन केंद्रोंकी यह स्थिरता देशगत और कालगत हो; यह स्थिरता है विश्व-सामंजस्यको धारण करनेवाले ब्रह्मके आत्म-रूपों या जीवोंके स्थायी सह-अस्तित्वके रूपमें। वह प्राण उस प्राणसे जिसे कि हम जानते हैं या जिसकी कल्पना कर सकते हैं, बहुत भिन्न हो सकता है, परंतु सारात्मना वह वही सक्रिय तत्त्व होगा जो कि हमें यहां जीवन-शक्तिके रूपमें दिखलायी देता है। यह वही तत्त्व है जिसे भारतके प्राचीन मनीषियोंने वायु या प्राणका नाम दिया है; यह विश्वमें वह द्रव्यगत इच्छा और ऊर्जा है जो कि सत्ता (प्राणी) के नियत रूप, कर्म और सचेतन क्रिया-शक्तिका रूप धारण करती है। द्रव्य भी उससे बहुत भिन्न हो सकता है जिसे कि हम अपने भौतिक शरीरके संबंधमें जानते हैं; वह इसकी अपेक्षा बहुत अधिक सूक्ष्म हो सकता है; उसके आत्म-विभाग और परस्पर प्रतिरोधका धर्म कम कठोरताके साथ बंधनकारी हो सकता है; और देह या रूप कारागार न होकर एक उपकरण हो सकता है। परंतु फिर भी विश्वके अंतर-कर्मके लिये रूप और द्रव्यका कुछ-न-कुछ नियतकरण सर्वदा आवश्यक होगा, चाहे वह केवल मानस-शरीर हो अथवा स्वतंत्रतम मानस-शरीरसे भी अधिक ज्योतिर्मय, सूक्ष्म और बल एवं स्वतंत्रताके साथ प्रत्युत्तर देनेवाला शरीर हो।

इससे यह परिणाम निकलता है कि जहां कहीं भी विश्व है, यदि वहां केवल एक ही तत्त्व प्रारंभमें दृश्यमान हो; यदि वह तत्त्व ही समस्त पदार्थोंका एकमात्र कारण जान पड़ता हो और दूसरा सब कुछ जो कि जगत्में पीछेसे व्यक्त होता है, केवल उसके रूप और परिणाम जान पड़ते हों और विश्व-सत्ताके लिये अपरिहार्य जान पड़ते हों, तो सत्ताका ऐसा रूप उसके यथार्थ सत्यका केवल एक भ्रांत या मिथ्या रूप ही हो सकता है; जहां विश्वमें एक तत्त्व व्यक्त है वहां दूसरे सभी तत्त्व न केवल विद्यमान और निश्चेष्ट भावसे अव्यक्त दशामें होने चाहियें, अपितु गुह्यतया सक्रिय भी होने चाहियें।

किसी विशेष लोकमें उसकी सत्ताकी श्रेणी और समंजसता ऐसी हो सकती है जहां ये सातों तत्त्व स्पष्टतया उच्च या निम्न कोटिकी क्रियाके साथ विद्यमान हों; किसी दूसरे लोकमें दूसरे समस्त तत्त्व एक तत्त्वमें अंतर्भूत हो सकते हैं और वह तत्त्व उस लोकमें विकासका

प्रारंभिक या मूलभूत तत्त्व हो सकता है; परंतु वहां अंतर्भूत तत्त्वोंका विकसित होना अवश्यंभावी है। जिस लोकका प्रारंभ ऐसी अवस्थासे होता है कि जिसमें दूसरे सब तत्त्व एक ही तत्त्व या शक्तिमें अंतर्भूत होते हैं, उस लोकमें सत्ताकी सातों शक्तियोंका विकास, उसके सप्तलोक नामकी सार्थकता, उसका लक्ष्य होना चाहिये[1]। इसलिये इस भौतिक विश्वका स्वभाव इस प्रकारका है कि अपने भीतर छिपे प्राणसे व्यक्त प्राणका, छिपे मनसे व्यक्त मन-का विकास करना इसके लिये अनिवार्य था; और इसी स्वभावके कारण अपने भीतर छिपे हुए अतिमनसे व्यक्त अतिमनका और छिपे ब्रह्मसे सच्चिदानंद के त्रिविध वैभवका विकास करना भी इसके लिये अनिवार्य है।

प्रश्न केवल यह है कि इस विश्व-विकासके लिये क्या पृथ्वी ही रंगमंच होगी? अथवा इस लोकमें हो अथवा किसी दूसरे भौतिक लोकमें हो, कालके विशाल चक्रों (कल्पों) के इस या किसी दूसरे घुमाव (युग) में हो, क्या मनुष्य ही उस विकासका उपकरण और वाहन होगा? प्राचीन ऋषियोंको मनुष्यकी इस संभावनामें विश्वास था और उन्होंने इसे मनुष्यकी भवितव्यता माना था। आधुनिक मनीषी इसकी कल्पना भी नहीं कर पाता और यदि कल्पना करता भी है तो इसका निषेध करता है या इसपर संदेह करता है। यदि वह अतिमानव-की कल्पना करता भी है तो वह मन और प्राणकी कुछ बढ़ी हुई मात्राके रूपमें ही कल्पना करता है; वह और किसी संभावनाको अंगीकार नहीं करता, इन तत्त्वोंसे परे कुछ भी नहीं देखता, कारण अभीतक उसकी दृष्टिके अनुसार हमारी सीमा और परिधि ये तत्त्व ही हैं।

इस प्रगतिशील जगत्‌में, इस मानव जीवके लिये जिसमें कि दिव्य ज्योतिकी चिनगारी प्रज्ज्वलित हो चुकी है, यथार्थ बुद्धिमत्ता उच्च अभीप्सा रखनेमें है; अभीप्साके अस्वीकारमें अथवा ऐसी आशा रखनेमें जो कि अपने-आपको स्थूल संभावनाकी संकुचित दीवारोंमें, जो दीवारें कि हमारे लिये कुछ मध्यकालके लिये शिक्षणालय हैं, परिच्छिन्न और सीमित करती हैं, बुद्धिमत्ता नहीं है। पदार्थोंकी आध्यात्मिक व्यवस्था ऐसी है कि हम अपनी दृष्टि और अभीप्साको जितना ही अधिक ऊंचा रखते ह, उतना ही अधिक महत्तर सत्य हममें अवतीर्ण होता है; कारण वह सत्य हमारे भीतर पहलेसे ही विद्यमान है और अभिव्यक्त प्रकृतिमें जो पर्दा उसे ढके हुए है उससे अपनी उन्मुक्तिके लिये पुकार रहा है।

***

[1]यह भी संभव है कि किसी लोकमें अंतर्भाव न हो अपितु एक तत्त्वसे दूसरे तत्त्व अ-प्रधान या उसके अंतर्गत हों। तब इस लोक-व्यवस्थामें विकासका होना आवश्यक नहीं है।

अध्याय २८

अतिमन, मन और अधिमन माया

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वा सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान् ।
दश शता सह तस्थुस्तेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामश्यम् ॥

एक ध्रुव, एक सत्य है जो कि सत्यसे छिपा हुआ है, जहां सूर्य अपने अश्वोंको विमुक्त करता है। वह जो एकतम है उसकी दस सहस्र किरणें एक साथ आयीं। मैंने देवोंके अत्यंत ज्योतिर्मय रूपोंको देखा।

—ऋग्वेद ५-६२-१

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥
पूषन्नेकर्षे.......व्यूह रश्मीन्समूह ।
......यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

सत्यका मुख सुनहरे ढक्कनसे ढका हुआ है; हे पोषक सूर्य! सत्य धर्मके लिये, दृष्टिके लिये, उसे हटा। हे सूर्य! हे एक ऋषि! अपनी किरणोंको व्यवस्थित कर, उन्हें एकत्रित कर—मैं तुम्हारे परम आनंदमय रूपको देखूं; वह जो चेतन पुरुष सर्वत्र है, वही मैं हूं।

—ईशोपनिषद् १५-१६

ऋतं सत्यं, बृहत्।

ऋत, सत्य, बृहत्। —१२-१-१०

अभवत्.....सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च ॥

वह सत्य और अनृत दोनों हुआ। वह सत्य हुआ और जो कुछ भी यह है वह सब भी हुआ।

—तैत्तिरीयोपनिषद् २-६

एक विषय जिसे हमने अभीतक अंधकारमें छोड़ रखा है स्पष्ट करना शेष है, वह है अज्ञानमें पतनकी विधि; कारण हम देख चुके हैं कि मन, प्राण और भौतिक द्रव्यकी मूल प्रकृतिमें कुछ भी ऐसा नहीं है जिसके कारण ज्ञानसे पतन होना आवश्यक हो। निःसंदेह, यह दिखलाया जा चुका है कि चेतनाका विभाजन अज्ञानका आधार है। यह विभाजन है व्यक्तिगत चेतनाका उस विश्वचेतना और विश्वातीत चेतनासे जिसका कि वह अब भी एक अंतर्तम अंग है, साररूपमें उससे अपृथक्करणीय है; मनका अतिमानस सत्यसे विभाजन है जिसका कि वह एक अधीनस्थ कार्य होना चाहिये; प्राणका उस आद्याशक्तिसे विभाजन है जिसका कि वह एक

ऊर्जारूप है; भौतिक द्रव्यका उस मूल सत्तासे विभाजन है जिसका कि वह एक द्रव्यरूप है।

परंतु यह विषय अभी भी स्पष्ट करना अवशिष्ट है कि, अविभक्तमें यह विभाग कैसे हुआ, सत्पुरुषमें चित्-शक्तिके किस विशिष्ट आत्म-क्षयी या आत्म-विलोपी कर्मसे हुआ; कारण, सब कुछ चूंकि उस चित्-शक्तिका ही व्यापार है, अतः अज्ञानका वह क्रियात्मक और बलशाली प्रपंच स्वयं सत्-शक्तिके किसी ऐसे कर्मसे ही उत्पन्न हो सकता है, जो कि स्वयं उसके पूर्ण प्रकाश और बलको आवृत कर दे। परंतु इस समस्याकी विवेचनाको उस अवसरके लिये स्थगित किया जा सकता है जब कि हम ज्ञान-अज्ञानके द्विविध रूपकी अधिक निकटतासे परीक्षा करेंगे; ज्ञान-अज्ञानका यह द्विविध रूप ही हमारी चेतनाको प्रकाश और अंधकारका एक मिश्रण, अतिमानस सत्यके पूर्ण दिवस और भौतिक अचेतनाकी रात्रिके मध्य अर्ध-प्रकाश-रूप बनाता है। इस समय तो केवल इसी विषयको ध्यानमें रखना आवश्यक है कि चेतन पुरुषके मूल स्वभावमें ही यह बात होनी चाहिये कि वह अपनी एक विशेष क्रिया और अवस्थापर अनन्य रूपसे एकाग्र होता है और यह एकाग्रता ऐसी है जो शेष समस्त चेतना और सत्ताको पीछे रख देती है और उसे उस एकमात्र क्रियाके वर्तमान आंशिक ज्ञानसे आवृत कर देती है।

तथापि इस समस्याका एक पक्ष ऐसा है जिसपर तुरंत विचार करना आवश्यक है; वह है—मन जैसा कि हम उसे समझते हैं और अतिमानस ऋत, चित् जिसका कि मन अपने मूल स्वरूपमें एक अधीनस्थ कर्म है, इन दोनोंके बीचमें उत्पन्न की हुई दरार। कारण यह दरार काफी चौड़ी है और यदि चेतनाके दो स्तरोंके मध्यमें क्रम सोपान नहीं है तो एकसे दूसरेमें संक्रमण, चाहे आत्माका भौतिक द्रव्यमें अवतरण करते हुए अंतर्भाव रूप हो अथवा चाहे भौतिक द्रव्यमें छिपी हुई भूमिकाओंका आत्माकी ओर गति करनेवाला विकास-रूप हो, यदि असंभव नहीं तो अत्यधिक असंभाव्य अवश्य प्रतीत होता है।

कारण मन जैसा कि हम उसे जानते हैं, अज्ञानका (अज्ञानमय) एक शक्तिरूप है; यह ऐसा शक्तिरूप है जो सत्यकी खोज करता है; उसे पानेके लिये कठिनाईके साथ अंधकारमें टटोलता है; वह उस सत्यके केवल मानस निर्माणों और प्रतिरूपों (चित्रणों)को शब्द और भावके रूपमें, मानस ज्ञानों और इन्द्रिय ज्ञानोंके रूपमें प्राप्त करता है; यह ऐसा है मानो किसी सुदूरवर्ती परमार्थ तत्त्वके केवल चमकदार या छायात्मक चित्रों या चलचित्रोंको ही ग्रहण करना उसकी सामर्थ्यमें हो, इससे अधिक नहीं।

इसके विपरीत, अतिमन सत्यपर अपना वास्तविक और स्वाभाविक अधिकार रखता है और इसकी सृष्टियां परमार्थ तत्त्वके ही रूप हैं, निर्माण, प्रतिरूप, अथवा संकेतात्मक आकार नहीं हैं, निःसंदेह, हमारे भीतर विकासमान मन इस प्राण और देहके अंधकारमें लिपटा होनेके कारण अवरुद्ध दशामें है; आदिभूत मानस तत्त्व जो कि अंतर्भाव-पथका अवलंबन करके नीचे अवतीर्ण होता है, एक महत्तर शक्तिशाली पदार्थ है, किंतु हम उसे पूर्णतया प्राप्त नहीं कर सके हैं; वह अपने क्षेत्र या प्रदेशमें स्वतंत्रतापूर्वक क्रिया कर सकता है; वह ऐसी अधिक अंतःप्रकाशक रचनाओंका, ऐसे अधिक सूक्ष्म अंतःस्फुरित आकारोंका, ऐसे अधिक सूक्ष्म और सार्थक मूर्त्तरूपोंका निर्माण कर सकता है जिनमें सत्यकी ज्योति विद्यमान है और प्रत्यक्ष ग्राह्य है।

परंतु यह आदिभूत मन भी संभवतः अपने स्वभावगत कर्ममें हमारे विकासशील मनसे सारात्मना भिन्न नहीं है; कारण यह मन भी अज्ञानगत रूप है, ऋत चित्का अविच्छिन्न अंश नहीं है। सत्पुरुषकी अवतरण और आरोहण करती हुई क्रमपरंपरामें कहीं-न-कहीं चेतनाकी एक ऐसी मध्यवर्ती सामर्थ्य और ऐसा स्तर, संभवतः इससे कुछ अधिक, कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिये जो मौलिक सृजन-शक्ति रखता हो; यह ऐसा होना चाहिये कि जिसके द्वारा ज्ञानवाले मनसे अज्ञानवाले मनमें अंतर्भावात्मक संक्रमण संभव हुआ और जिसके द्वारा फिर विकासात्मक विपरीत संक्रमण बुद्धिगम्य और संभव होता है। अंतर्भावात्मक संक्रमणके लिये इस तत्त्वका मध्यमें विद्यमान होना न्यायसंगत रूपसे आवश्यक है और विकासात्मक संक्रमणके लिये व्यावहारिक रूपमें आवश्यक है। कारण, विकासमें निःसंदेह आमूल संक्रमण है; इसमें अनियत ऊर्जासे गठित भौतिक द्रव्यमें, निर्जीव भौतिक द्रव्यसे प्राणमें, अवचेतन या अवमानस (प्राण) से प्रत्यक्ष रूपसे संवेदन और कर्म करनेकी क्षमता रखनेवाले प्राणमें संक्रमण होता है; इसमें आदिकालीन पशुमनसे ऐसे विचारशील, तर्कशील मनमें संक्रमण होता है जो कि प्राणका निरीक्षण और शासन करता है और स्वयं अपना भी निरीक्षण करता है, एक स्वतंत्र तत्त्वके रूपमें कर्म करनेकी सामर्थ्य रखता है और यहांतक कि अपनेसे अतीत होनेके लिये सचेतन भावसे प्रयास कर सकता है। परंतु ये उछालें, यद्यपि काफी लंबी हैं, तथापि कुछ सीमातक, धीरे-धीरे प्रकट होनेवाली ऐसी क्रमिक भूमिकाओंके द्वारा तैयार की जाती हैं जिनके कारण ये बुद्धिगम्य और सुसाध्य हो जाती हैं। इनके मध्यमें कोई ऐसा अत्यधिक क्रमभंग नहीं हो सकता जैसा कि अतिमानस ऋत-चित् और अज्ञानगत मनके बीचमें प्रतीत होता है।

परंतु, ये यदि मध्यवर्ती क्रमिक भूमिकाएं हैं तो यह स्पष्ट है कि ये मानव मनके लिये अतिचेतन होनी चाहियें; कारण, मन अपनी साधारण अवस्थामें सत्ताकी इन उच्च भूमिकाओंमें लेशमात्र भी प्रवेश करता नहीं जान पड़ता। मनुष्य अपनी चेतनामें मनके द्वारा और यहांतक कि मनकी एक निर्धारित विस्तार-सीमा या मापकके द्वारा सीमित है। जो उसके मनसे नीचे है, चाहे वह अवमानस हो या मानस, किंतु उसके मापकसे नीचा है वह उसे सरलतासे अवचेतन या पूर्ण निश्चेतनासे अविभिन्न जान पड़ता है। जो उसके मनसे ऊपर है वह उसके लिये अतिचेतन है और वह उसे ज्ञानशून्य, एक प्रकारका सप्रकाश निश्चेतना मानता है। मनुष्य एक विशेष मापकके भीतर ही शब्दों या रंगोंको ग्रहण कर सकता है; जो कुछ उस मापकसे ऊपर या नीचे है वह उसके लिये अश्राव्य और अदृश्य होता है अथवा कम-से-कम उसमें वह विवेक नहीं कर सकता; ऐसे ही उसकी मानसिक चेतनाके मापकके विषयमें भी है। इसके ऊपर और नीचे दोनों ओर, एक सीमा है जिससे बाहर जानेमें वह असमर्थ है। पशु यद्यपि उसके समान नहीं है किंतु उसका मानस सगोत्र है; मनुष्य उसके साथ भी संसर्गके पर्याप्त साधन नहीं रखता; मनुष्य अपनेमें या अपने जातिवालोंमें जिन गुणोंको देखता है उसकी अपेक्षा पशुमें भिन्न प्रकारके या संकुचित गुण होते हैं, इस कारण वह यह कहनेका भी साहस करता है कि पशुमें मन या यथार्थ चेतना (चेतन) नहीं है। वह अवमानस सत्ताका बाहरसे निरीक्षण कर सकता है; किंतु उसके साथ लेशमात्र भी भाषणादिके द्वारा भावोंका आदान-

प्रदान अथवा उसकी प्रकृतिमें घनिष्ठतया प्रवेश नहीं कर सकता। इसी प्रकार उसकी दृष्टिमें अतिचेतन एक ऐसी बंद पुस्तकके समान है जिसमें केवल अलिखित पृष्ठ ही हो सकते हैं।

अतः प्रथम दृष्टिमें ऐसा प्रतीत होगा कि मानो चेतनाके इन उच्च स्तरोंसे संपर्क करनेका उसके पास कोई साधन नहीं है; यदि ऐसा ही हो तो वे स्तर जोड़नेवाली कड़ियों या पुलोंका कार्य नहीं दे सकते और मानव-विकास मनुष्यकी अभीतक प्राप्त हुई मानसिक परिसीमापर ही समाप्त हो जायगा, इससे आगे नहीं बढ़ सकेगा; प्रकृतिने इन सीमाओंको बनाकर उसके ऊर्ध्व-गामी प्रयासपर 'इति' लिख दिया है।

परंतु जब हम अधिक निकटतासे अवलोकन करते हैं तो देखते हैं कि यह मनुष्यकी साधा-रण स्थिति धोखा देनेवाली है और वस्तुतः ऐसी अनेक दिशाएं हैं जिममें मानव मन अपनेसे परे पहुंच जाता है, अपनेसे अतीत होने लगता है। ये वस्तुतः संपर्ककी ऐसी आवश्यक रेखाएं अथवा ऐसे आवृत या अर्धआवृत मार्ग हैं जो उसे (मनको) अपने-आपको अभिव्यक्त करनेवाले आत्माकी चेतनाकी उच्च श्रेणियोंके साथ जोड़ते हैं।

प्रथम, हम यह देख चुके हैं कि अंतर्भास मानवी ज्ञान-साधनोंमें क्या स्थान रखता है; और अंतर्भास अपने स्वधर्ममें इन उच्च स्तरोंके स्वभावसिद्ध कर्मका अज्ञ मनमें प्रक्षेप है! यह सत्य है कि मानव मनमें उसका कर्म हमारी साधारण बुद्धिके हस्तक्षेपोंसे अधिकतर छिपा रहता है; हमारे मानस व्यापारमें शुद्ध अंतर्भासका होना एक विरल घटना है; कारण इस नामसे प्रायः हमारा अभिप्राय होता है साक्षात् ज्ञानका वह बिंदु जो कि तुरंत पकड़ लिया जाता है और मानस-ज्ञान जिसपर अपना लेप चढ़ा देता है; इस कारण वह अंतर्भास ज्ञानके उस सुनिश्चित आकारमें, जो अपने स्वभावमें बौद्धिक या मानस ज्ञानका पिंड है, एक अदृश्य अथवा अतिसूक्ष्म केंद्रमात्र होता है। अथवा, दूसरी ओर, इससे पहले कि अंतर्भासकी प्रभाको अपने-आपको अभिव्यक्त करनेका अवसर मिले, कोई तीव्रगामी अनुकरणशील मानस क्रिया, मानस अंतर्दृष्टि अथवा शीघ्रगामी मानस प्रत्यक्ष अथवा विचारका कोई तीव्र उछाल लेनेवाली क्रिया उसका स्थान ग्रहण कर लेती है या उसमें अंतरावरोध हो जाती है; ये सब वस्तुएं आनेवाले अंतर्भास-की उत्तेजनासे प्रकट होती हैं किंतु उसके प्रवेशमें बाधा डालती हैं या उसके स्थानपर किसी मानस सुझावको लाकर उससे उसे ढक देती हैं। यह मानस सुझाव सत्य भी हो सकता है और मिथ्या भी, किंतु किसी भी अवस्थामें शुद्ध अंतर्भासकी क्रिया नहीं होता। परंतु फिर भी यह तथ्य कि ऊपरसे हस्तक्षेप होता है, यह तथ्य कि हमारे संपूर्ण मौलिक चिंतनपर वस्तुओंके प्रामाणिक प्रत्यक्षके पीछे कोई आवृत, अर्ध-आवृत या शीघ्र अनावृत हुआ अंतर्भासका अंश है, इस बातको स्थापित करनेके लिये पर्याप्त है कि मन और जो मनसे ऊपर है इन दोनोंमें संबंध है। यह (अंतर्भास) उच्च श्रेणीके अध्यात्म स्तरोंमें संसर्ग और प्रवेशका मार्ग खोलता है। व्यक्तिगत अहंकारकी परिच्छिन्नतासे अतीत होनेके लिये, एक विशेष निर्व्यक्तित्व और वैश्वभाव-में वस्तुओंको देखनेके लिये मनसे बाहर गमन भी है। निर्व्यक्तित्व विश्वात्माका पहला स्व-भाव है; विश्वात्माका (वैश्वभाव), किसी एकमात्र या परिच्छिन्न करनेवाले दृष्टिकोणसे परि-च्छिन्न न होना, वैश्व प्रत्यक्ष और ज्ञानका स्वभाव है।

अतः यह प्रवृत्ति मनके इन सीमित क्षेत्रोंको, चाहे अपूर्ण रूपमें ही सही वैश्व स्वभावकी ओर विस्तृत करती है; यह उन्हें ऐसे गुणकी ओर विस्तृत करती है जो कि उच्च मनके स्तरोंका स्वधर्म है,–उस अतिचेतन वैश्व मनकी ओर विस्तृत करती है जो कि, जैसा कि हमने संकेत किया है, वस्तुओंके स्वभावके अनुसार वह मूलभत मानस कर्म होना चाहिये कि जिसका हमारा मन एक उद्भूत और निम्न कोटिका कार्य है। और फिर, हमारी मानस सीमाओंमें ऊपरकी किन्हीं चीजोंके प्रवेशका सर्वथा अभाव नहीं है। प्रतिभाके कार्य यथार्थमें इस प्रवेशके ही परिणाम हैं, यद्यपि, निःसंदेह, वे आवृत होते हैं, कारण उच्च चेतनाकी ज्योति संकुचित सीमाओंके भीतर कार्य करती है; वह बहुधा एक विशेष क्षेत्रम, अपनी विशिष्ट शक्तियोंके किसी नियमित, व्यवस्थित पृथक् गठन के बिना, निश्चय ही अनेक वार सर्वथा समुचित रूपमें, डांवाडोल अवस्थामें और अतिसाधारण या असाधारण अनुत्तरदायी शासनके साथ क्रिया करती है।

इसके अतिरिक्त उच्च चेतनाकी यह ज्योति मनमें प्रविष्ट होकर अपने-आपको मानस-द्रव्यके आधीन और अनुकूल कर देती है; इस कारण केवल परिवर्तित या क्षीण क्रिया ही हमतक पहुंचती है, जिसे हम अपनेसे परे ऊर्ध्ववर्ती चेतना कह सकते हैं, उसकी संपूर्ण मूलभूत दिव्यज्योति नहीं पहुंच पाती। तथापि अंतस्फुरणाकी, अंतःप्रकाशात्मक अंतर्दर्शनकी या अंतर्भासात्मक प्रत्यक्ष और अंतर्भासात्मक विवेककी क्रियाएं जो कि हमारे अल्प-प्रकाशवाले अथवा अल्प-बलवाले साधारण मानस कर्मसे अतीत हैं, वहां हैं और उनका मूल वहां निर्भ्रांत रूपमें है।

अंतमें गुह्य और आध्यात्मिक अनुभवका विशाल और वहुविध क्षेत्र है, और यहां हमारी चेतनाको उसकी वर्तमान सीमाओंसे परे विस्तृत करनेकी संभावनाके द्वार चौड़े खुले हुए हैं; यह हो सकता है कि हम उस ज्ञानविरोधवादसे जो कि अनुसंधान करना अस्वीकार करता है या अपने मनकी साधारण अवस्थाओंकी सीमाओंसे आसक्तिके कारण उन द्वारोंको बंद कर दें अथवा जिन दृश्योंको वे हमारे सामने खोलते हैं उनसे मुंह मोड़ लें। परंतु मानव प्रयास (गुह्य और आध्यात्मिक अनुभव) के ये क्षेत्र बहुविध संभावनाओंको हमारे समीप लाते हैं; अथवा ये क्षेत्र हमारे आत्मा और आवृत परमार्थ-तत्त्वविषयक एक ऐसे बढ़े हुए ज्ञानको, एक महत्तर प्रकाशको मानव मनको प्रदान करते हैं जो कि उन प्रयास क्षेत्रोंको हमपर क्रिया करनेका अधिकार देता है और उनकी सत्ताका नैसर्गिक बल है। हम अपने वर्तमान अनुसंधानमें इन संभावनाओंकी या इस ज्ञानकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

हमारी चेतनाकी ऐसी दो क्रमिक क्रियाएं हैं जो कि कठिन होनेपर भी भली-भांति हमारी सामर्थ्यके भीतर हैं, जिनके द्वारा हम अपनी चेतन सत्ताके श्रेष्ठतर, उच्चतर स्तरोंमें पहुंच सकते हैं। पहली, एक अंतर्मुखी क्रिया है जिसके द्वारा हम अपने उत्तल मनमें रहनेके बजाय अपने वाहरी और अधस्तलीय पुरुषके वीचमें विद्यमान दीवारको तोड़ देते हैं। यह कार्य एक क्रमिक विकास और साधनासे अथवा किसी उग्र परिवर्तनसे, कभी-कभी किसी बलशाली अनिच्छित तोड़फोड़से किया जा सकता है; इन उपायोंमें दूसरा तोड़फोड़वाला उपाय सुरक्षित नहीं है, कारण, सीमित मानव मन केवल अपनी साधारण सीमाओंके भीतर ही सुरक्षित रूपमें रहनेका अभ्यासी है; परंतु चाहे सुरक्षित हो या अरक्षित, दोनों प्रकारसे यह कार्य किया जा सकता है।

अपने इस अंतर्गूढ़ भागके भीतर जिसे हम पाते हैं वह है एक अंतःसत्ता, एक अंतरात्मा, एक आंतरिक मन, एक आंतरिक प्राण, एक आंतरिक सूक्ष्म देह जो कि हमारे उत्तलीय मन, प्राण और शरीरकी अपेक्षा अपनी शक्यताओंमें अधिक विशाल, अधिक नमनशील, अधिक वल-शाली, वहुविध ज्ञान और क्रियामें अधिक समर्थ है। विशेषकर, यह अंतर्गूढ़ भाग विश्वकी विश्वव्यापी शक्तियोंके साथ, विश्वकी गतियों और वस्तुओंके साथ सीधा संसर्ग करनेमें, उनकी साक्षात् संप्रतीति करने और उनके प्रति अपने-आपको खोलनेमें, उनपर सीधे क्रिया करनेमें समर्थ है; यह व्यक्तिगत मन, व्यक्तिगत प्राण और व्यक्तिगत देहकी सीमाओंसे परे भी अपना विस्तार करनेकी क्षमता रखता है और इस कारण यह अपने-आपको अधिकाधिक ऐसा वैश्व-पुरुष अनुभव करता है जो कि हमारी अत्यधिक संकुचित मानसिक, प्राणिक और शारीरिक सत्ताकी वर्तमान दीवारोंसे सीमित नहीं है। यह विस्तारित होकर वैश्व मनकी चेतनामें, वैश्व प्राणके साथ तादात्म्य स्थापित करनेमें, यहांतक कि वैश्व भौतिक द्रव्यके साथ एकत्व प्राप्त करनेमें पूर्ण समर्थ हो सकता है। परंतु यह अभीतक क्षीण हुए विश्वीय सत्यके साथ अथवा विश्वीय अज्ञानके साथ ही तादात्म्य किये हुए है।

परंतु एक वार जहां अंतःसत्तामें यह प्रवेश निष्पन्न हो जाता है तो आंतरिक पुरुष अपने-आपको ऊपरकी उन वस्तुओंके प्रति खोलनेमें, उनमें अपना आरोहण करनेमें समर्थ जान पड़ता है जो (वस्तुएं) कि हमारे वर्तमान मानस-स्तरसे परे हैं। यही हमारे अंदरकी दूसरी आध्यात्मिक संभावना है। इसका पहला वहुत साधारण परिणाम यह है कि हमें अपने भीतर एक बृहत् निष्क्रिय और शांत आत्माका ज्ञान होता है और उसे हम अपनी यथार्थ एवं आधार-भूत सत्ता, उसके सिवाय जो कुछ भी हम हैं उस सबका आधार अनुभव करते हैं। यह भी संभव है कि हमारी सक्रिय सत्ताका और हमारे स्वविषयक भावका एक ऐसे परमार्थ तत्त्वमें निर्वाण हो जाय जो कि अनिर्देश्य और अनिर्वाच्य है।

परंतु हम यह भी कह सकते हैं कि यह आत्मा केवल हमारा ही आत्मा नहीं है अपितु समस्त दूसरोंका भी आत्मा है; तव यह विश्व-सत्ताके मूलमें रहनेवाला उसका सत्य दिखलायी देता है। यह संभव है कि मनुष्य अपने संपूर्ण व्यक्तित्वके निर्वाणमें ही संतुष्ट होकर रह जाय, एक निष्क्रिय अनुभूतिपर ठहर जाय, यह भी संभव है कि वह विश्व-व्यापारको शांत, निश्चल आत्मापर अध्यस्त (आरोपित) की हुई वाहरी क्रीड़ा या भ्रम मानकर विश्वसे परे किसी परम अचल अक्षर स्थितिमें पहुंच जाय। परंतु इससे भिन्न एक दूसरी अति साधारण अनुभवकी अल्प-निषेधात्मक दिशा भी प्रकट होती है; कारण वहां हमारे शांत-निश्चल आत्मा (सत्ता) में ज्योति, ज्ञान, शक्ति, आनंद अथवा दूसरी अतिसाधारण ऊर्जाओंका एक विशाल क्रियात्मक अव-तरण होता है, और हम ब्रह्मके उन उच्च प्रदेशोंमें आरोहण भी कर सकते हैं जहां उसकी अचल स्थिति उन महती एवं ज्योतिर्मयी ऊर्जाओंका आधार है।

यह स्पष्ट है कि दोनों अवस्थाओंमें हम अज्ञ मनसे परे एक अध्यात्म स्थितिमें उठ जाते हैं, परंतु, इसके परिणामस्वरूप, क्रियात्मक अवस्थामें चित्-शक्तिका महत्तर कर्म केवल एक ऐसे शुद्ध आध्यात्मिक कर्मके रूपमें प्रकट हो सकता है जो कि अपने स्वभावमें किसी दूसरेसे निर्धा-

रित नहीं है; अथवा वह महत्तर कर्म एक ऐसे आध्यात्मिक मानस-क्षेत्रके रूपमें प्रकाशित हो सकता है जहां मन परमार्थ तत्त्वसे अज्ञात नहीं रहता; यहां मन यद्यपि अभीतक अतिमनके स्तरपर नहीं पहुंचता किंतु अतिमानस ऋत-चित्के ज्ञानके कुछ अंशको ग्रहण करता है और उससे ज्योतिष्मान होता है।

जिस रहस्यको, संक्रमणके जिस साधनको, अतिमानस रूपांतरकी ओर ले जानेवाले जिस आवश्यक पदप्रक्षेपको हम खोज रहे हैं वह हमें इस दूसरे विकल्पमें मिलता है। कारण हम आरोहणके एक क्रमसोपानको, ऊपरसे आनेवाली अधिकाधिक गहरी और महती ज्योति एवं शक्तिके साथ संसर्गको और उत्कर्षताओंकी तीव्रताओंकी क्रम-परंपराको देखते हैं; ये सब मनके परे आरोहण करनेकी अथवा उससे मनमें अवतरण करनेकी बहुतसी सीढ़ियां मानी जा सकती हैं। हम समुद्रकी बाढ़के समान स्वतः-प्रवृत्त ज्ञानके समूहोंकी मूसलाधार वृष्टिको अनुभव करते हैं; यह ज्ञान विचारका रूप धारण करता है, किंतु विचारकी जिस प्रक्रियासे हम परिचित हैं उससे भिन्न स्वभाववाला होता है।

कारण इस विचारमें खोज नहीं है, मानसिक निर्माणका कोई चिह्न नहीं है, कल्पना करने या कठिन अनुसंधान करनेमें किया जानेवाला परिश्रम नहीं है; यह उस उच्च मनसे, जो कि सत्यपर अधिकार रखता जान पड़ता है, छिपी हुई और अवरुद्ध यथार्थताओंकी खोजमें नहीं है, स्वतः-प्रवृत्त और अनायास आया हुआ ज्ञान है। ऐसा देखा जाता है कि यह विचार ज्ञानके समूहको एक दृष्टिमें एक साथ अंतर्गत करनेमें मनकी अपेक्षा अधिक समर्थ है; इसका स्वभाव विश्वात्मक है, व्यक्तिगत विचारणाकी छाप इसपर नहीं है। इस सत्य विचारसे परे हम एक ऐसी महत्तर ज्योतिको देख सकते हैं जो कि अधिक बढ़े-चढ़े बल, तीव्रता और चालक शक्तिको रखती है; या सत्यदृष्टिका स्वभाव रखनेवाली ऐसी ज्योति जिसका विचार-निर्माण एक गौण और आश्रित क्रिया है।

वेदने जो सत्यको सूर्यका रूपक देकर वर्णन किया है उसे यदि हम मान लें—यह ऐसा रूपक है जो कि इस अनुभवमें यथार्थ सिद्ध होता है—तो हम उच्चतर मनके कर्मकी प्रशांत और स्थिर सूर्य-प्रभाके साथ तुलना कर सकते हैं; और इस उच्चतर मनसे ऊपर जो प्रदीप्त मन है उसकी ऊर्जाकी तुलना ज्वालामय सूर्यद्रव्यके पुंजीभूत तडितकी वृष्टिके साथ कर सकते हैं। इससे भी ऊपर सत्य-शक्तिका एक और भी अधिक महत्तर बल, एक अंतरंग और यथातथ सत्य-दर्शन, सत्य-विचार, सत्य-भाव, सत्य-संप्रतीति, सत्य-कर्म दिखायी देता है, जिसे कि हम एक विशेष अर्थमें अंतर्भास नाम दे सकते हैं; कारण हमने इस शब्दका प्रयोग, इससे किसी अच्छे शब्दके अभावमें, हर प्रकारके अतिबौद्धिक साक्षात् ज्ञान-साधनके लिये किया है, तथापि अंतर्भासका जो अर्थ वस्तुतः हम समझते हैं वह स्वयं-सत् ज्ञानकी केवल एक विशेष क्रिया है।

यह नवीन प्रदेश उसका (अंतर्भासका) मूल है। वह हमारे अंतर्भासोंको अपने विशिष्ट स्वभावका कुछ अंश प्रदान करता है और बहुत स्पष्टतया उस महत्तर सत्य-ज्योतिका मध्यस्थ है जिसके साथ हमारा मन सीधा संसर्ग नहीं कर सकता। इस अंतर्भासके मूलमें हमें एक अतिचेतन विश्व-मनका आविर्भाव होता है जो कि अतिमानस ऋत-चित्से सीधा संपर्क रखता

है; यह एक ऐसी मूलभूत शक्ति है जो कि अपनेसे नीचेकी संपूर्ण क्रियाओंका और समस्त मानस ऊर्जाओंका निर्धारण करती है; यह हमारा परिचित मन नहीं है अपितु अधिमन है; यह अधिमन मानो किसी स्रष्टा अधीश्वरके चौड़े पंखोंसे ज्ञान-अज्ञानके इस संपूर्ण निम्न अपरार्धपर छाया हुआ है, इसका उस महत्तर ऋत-चित्से संबंध जोड़ता है और साथ ही अपने चमकदार स्वर्णमय ढकनेसे उस महत्तर ऋतके मुखको हमारी दृष्टिके लिये ढक देता है; जब हम अपनी सत्ताके अध्यात्म-धर्मका, उसके उच्चतम लक्ष्य, उसके गुह्य परमार्थस्वरूपका अन्वेषण करते हैं तो यह अनंत संभावनाओंकी अपनी बाढ़के द्वारा मध्यमें स्थित होकर एक साथ बाधक और मार्गरूप हो जाता है। जिस गुह्य कड़ीकी हम खोज कर रहे थे वह यही है; यही वह शक्ति है जो कि परम ज्ञान और विश्व-अज्ञानका संयोग और विभाग करती है।

अपने स्वभाव और स्वधर्ममें अधिमन अतिमानस चेतनाका प्रतिनिध हैं, यह अज्ञानकी सृष्टि-के लिये उसका प्रतिनिधि है। अथवा उसके विषयमें हम यह कह सकते हैं कि यह द्विविध संरक्षक है; यह अतिमानससे सादृश्य और असादृश्य रखनेवाला एक ऐसा पर्दा है जिसके द्वारा अतिमन अप्रत्यक्ष रूपसे उस अज्ञानपर क्रिया कर सकता है जिसका अंधकार परा-ज्योतिके सीधे अभिघातको सहन या ग्रहण नहीं कर सकता। यहांतक कि इस ज्योतिर्मय अधिमानस तेजोमंडलके प्रक्षेपणसे ही न्यूनीभूत ज्योतिका अज्ञानमें विकिरण और उस विपरीत छायाका प्रक्षेप जो (छाया) कि अपनेमें संपूर्ण ज्योतिको निगल जाती है और उसे निश्चेतना कहा जाता है, संभव हो सका है।

कारण, अतिमन अधिमनमें अपनी समस्त यथार्थताओंका संचार कर देता है, किंतु उन्हें एक गतिका रूप देने और वस्तुओंके ज्ञानके अनुसार देनेके लिये जो कि अभीतक सत्यका ही अंत-र्दर्शन है, किंतु साथ ही अज्ञानका जनक भी है, अधिमनपर ही छोड़ देता है। अतिमन और अधिमनको एक रेखा विभक्त करती है; यह रेखा अधिमनको अतिमनसे, जो कुछ भी उसमें है या वह देखता है उस सबका, निर्बाध संचरण होने देती है, उस सबको ग्रहण करने देती है, परंतु मार्गमें उसे संक्रमणात्मक परिवर्तनके लिये भी सहज भावसे विवश करती है।

अतिमनकी पूर्णतामें वस्तुओंका मूलभूत सत्य सर्वदा विद्यमान रहता है; उस पूर्णतामें समग्र सत्य और उसके व्यक्तिगत आत्म-निर्धारणका सत्य स्पष्टतया एक साथ ग्रथित रहते हैं; वह उनमें अपृथक्करणीय एकता, परस्परमें अंतर्वेधन और एक दूसरेकी मुक्त और पूर्ण चेतनाको बनाये रखता है; परंतु अधिमनमें यह पूर्णता नहीं रहती। और फिर भी अधिमन वस्तुओंके मूलभूत सत्यका भली प्रकार ज्ञान रखता है; वह समग्रताको अंगीकार करता है; वह व्यक्ति-गत आत्मनिर्धारणोंका उनसे परिच्छिन्न हुए बिना उपयोग करता है। परंतु, वह यद्यपि उनके एकत्वको जानता है, अध्यात्मदर्शनमें उसकी अनुभूति कर सकता है, तथापि उसकी क्रियात्मक गति अपनी सुरक्षाके लिये उसपर निर्भर करती हुई भी, उससे साक्षात् निर्धारित नहीं होती।

अधिमन-रूप ऊर्जा पूर्ण और अविभक्त सर्वांतर्गतकारी ऐक्यके पक्षों और शक्तियोंके पार्थक्य और संयोगकी अपरिमित सामर्थ्यके द्वारा क्रिया करती है। वह (अधिमन) प्रत्येक पक्ष या शक्तिको लेकर उसे एक स्वतंत्र कर्म प्रदान करता है जिसमें कि वह एक पूरा पृथक् महत्त्व

प्राप्त करता है और, हम यह कह सकते हैं कि, अपने स्वतंत्र जगत्‌की सृष्टि कर सकता है। पुरुष और प्रकृति (चेतन आत्मा और कार्यकारिणी शक्ति) अतिमानस-सामंजस्यमें दो पक्षों-वाला एक ही सत्य हैं, इनमें एक ही पदार्थ तत्त्वका सद्रूप और उसकी क्रियात्मक शक्ति है। वहां विषमता अथवा एककी दूसरेपर प्रधानता नहीं हो सकती।

अधिमनमें हमें भेदका मूल मिलता है; यहां सांख्य दर्शनके उस तीक्ष्ण भेदका मूल है जिसमें प्रकृति और पुरुष दो स्वतंत्र एवं पृथक् तत्त्व प्रतीत होते हैं; प्रकृति पुरुपको अपने रूपों और कर्मोंका साक्षी एवं गृहीता बनाकर उसपर प्रभुत्व करती है और उसकी स्वतंत्रता और शक्तिको आवृत करनेमें समर्थ होती है; पुरुष उसके आदिम आवरक भौतिक तत्त्वका परि-त्याग करके अपनी पृथक् सत्ताको प्राप्त करने और एक स्वतंत्र आत्म-साम्राज्यमें निवास करने-में समर्थ होता है।

यही बात ब्रह्मके दूसरे पक्षों या शक्तियोंके विषयमें, एक और बहु, दिव्य व्यक्तित्व और दिव्य निर्व्यक्तित्व, सगुण और निर्गुण ब्रह्म आदि सबके विषयमें भी लागू होती है। इनमेंसे प्रत्येक अभीतक एक ही परमार्थ तत्त्वका एक पक्ष और शक्ति है, किंतु प्रत्येक समग्रमें अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए कर्म करनेकी क्षमता रखता है, अपनी पृथक् अभिव्यक्तिकी संभाव-नाओंकी पूर्णताको प्राप्त करने और उस पार्थक्यके क्रियात्मक परिणामोंका संवर्धन करनेकी क्षमता रखता है। साथ ही अधिमनमें यह पार्थक्य एक अंतर्निहित अंतःस्थ ऐक्यके आधारपर प्रतिष्ठित है; पृथक् हुए पक्षों और शक्तियोंके बीचमें संयोग और संबंधकी संपूर्ण संभावनाएं उनकी ऊर्जाओंके समस्त आदान-प्रदान और पारस्परिकताएं स्वतंत्रतापूर्वक गठित होते हैं और उनकी कार्यात्मना परिणति सर्वदा संभव है।

यदि हम परमार्थ तत्त्वकी शक्तियोंको देवता मानें तो हम यह कह सकते हैं कि अधिमन लाखों देवताओंको कर्म करनेके लिये प्रकट करता है; इनमेंसे प्रत्येक अपने स्वतंत्र लोकको सृष्टि करनेकी सामर्थ्य रखता है और प्रत्येक लोक दूसरे लोकोंके साथ संबंध करने, संसर्ग करने और एक-दूसरेपर क्रिया-प्रतिक्रिया करनेकी सामर्थ्य रखता है। वेदमें देवोंकी प्रकृतिके भिन्न-भिन्न रूप हैं। यह कहा गया है कि ये समस्त देव एक सत् हैं जिन्हें ऋषि भिन्न-भिन्न नाम प्रदान करते हैं।[1] परंतु फिर भी प्रत्येक देवकी इस प्रकार उपासना की जाती है मानो वही एकमात्र सत् हो, मानो वही एक साथ दूसरे समस्त देव हो या उन्हें अपनी सत्तामें धारण करता हो; और फिर भी प्रत्येक एक पृथक् देवता है और कभी वह अपने साथी देवताओंके साथ मिलकर, कभी पृथक् रूपमें, कभी उसी सत्‌के दूसरे देवोंके साथ आपाततः विरोधमें कर्म करता है।

अतिमनमें यह सब एकतम सत्‌की सुसमंजस क्रीड़ाके रूपमें एक साथ संयुक्त रहेगा; अधि-मनमें इन तीन अवस्थाओंमेंसे प्रत्येक अवस्था एक पृथक् कर्म या पृथक् कर्मका आधार हो सकेगी और वर्धन एवं परिणामोंका स्वयं अपना नियम रख सकेगी और साथ ही प्रत्येक दूसरोंके साथ

---

[1]एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

एक अधिक संश्लिष्ट सामंजस्यमें संयुक्त होनेकी शक्ति बनाये रखेगी। जैसा एकतम सत्के विषयमें है वैसा ही उसकी चेतना और शक्तिके विषयमें भी है। एकतमा चेतना (चित्) चेतना और ज्ञानके अनेक स्वतंत्र रूपोंमें पृथक्-पृथक् हो जाती है। चेतनाका प्रत्येक रूप अपने उस सत्यके मार्गका अनुसरण करता है जो कि उसे प्राप्त करना है। एकमात्र समग्र और बहु-मुखी सत्य-संकल्प अपने अनेक रूपोंमें विभक्त हो जाता है; इनमेंसे प्रत्येक एक ऐसी स्वतंत्र संकल्प शक्ति हो जाता है जो कि अपने-आपको संसिद्ध करनेकी सामर्थ्य रखता है।

एकमात्र चित्-शक्ति अपने असंख्य शक्तियोंमें उन्मुक्त हो जाती है और इन शक्तियोंमेंसे प्रत्येक अपने-आपको चरितार्थ करने और, यदि आवश्यकता हो तो, दूसरी शक्तियोंका नेतृत्व करने और उन्हें अपने उपयोगके लिये अपने आधीन करनेका अधिकार रखती है। इसी प्रकार सत्का आनंद अनंत प्रकारके आनंदोंमें विभक्त होता है और इनमेंसे प्रत्येकका अपना स्वतंत्र पूर्णत्व या चरम शिखर हो सकता है। इस प्रकार अधिमन एकतम, सत्-चित्-आनंदको अनंत संभावनाओंका प्रसव करनेका स्वभाव प्रदान करता है, और ये ऐसी संभावनाएं हैं जो कि असंख्य लोकोंके रूपमें परिणत हो सकती हैं; अथवा ये एक ऐसे लोकमें एक साथ रखी जा सकती हैं जिसमें कि उनकी क्रीड़ाका अनंत रूप धारण करनेवाला परिणाम सृष्टिका, उसकी क्रियाविधि-का, उसके मार्ग का और उसके परिणामका नियामक होता है।

चूंकि सनातन सत्की चेतना-शक्ति विश्वकी स्रष्ट्री है अतः किसी विशेष लोककी प्रकृति चेतनाके उस रूपपर निर्भर करेगी जिसे कि वह उस लोकमें अभिव्यक्त करती है। इसी प्रकार, समान रूपसे, प्रत्येक जीवके लिये, जिस लोकमें वह रहता है उसका दर्शन या ज्ञान उस स्थिति या बनावटपर निर्भर करेगा जिसे कि उस चेतनाने उस व्यक्तिमें धारण किया है। हमारी मानवी मानसिक चेतना जगत्को ऐसे खंडोंमें देखती है जिन्हें कि बुद्धि और इन्द्रियां काटती हैं और फिर एक साथ जोड़कर एक ऐसा रूप बनाती हैं कि वह भी खंड ही होता है। जिस घरका यह चेतना निर्माण करती है वह ऐसी योजनासे बनाया गया है कि वह अपने भीतर सत्य-के किसी एक या दूसरे सामान्य रूपका समावेश करता है, किंतु शेषका बहिष्कार कर देता है अथवा कुछको केवल अतिथि या आश्रितोंके रूपमें स्वीकार करता है। अधिमानस चेतना अपने ज्ञानमें वर्त्तुल है और एक संगतिकारक दृष्टिमें आपाततः मूलभूत भेदोंकी किसी भी संख्या-को एक साथ धारण कर सकती है: इस प्रकार मानसिक बुद्धि सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक (निर्गुण) को विरोधी देखती है; वह एक ऐसी निर्व्यक्तिक सत्ताकी अवधारणा करती है जिसमें व्यक्ति और व्यक्तित्व अज्ञानजन्य कल्पित रूप या क्षणिक रचनाएं हैं; अथवा, इसके विपरीत, वह सव्यक्तिकको मूल परमार्थ तत्त्व और निर्व्यक्तिकको मानस भावरूप या अभिव्यक्तिका केवल उपादान या साधन देख सकती है।

अधिमानस बुद्धिके लिये ये एकमेवाद्वितीय सत्की ऐसी पृथक्-पृथक् होने योग्य शक्तियां हैं जो अपनी स्वतंत्र आत्म-स्थापनाका अनुसरण कर सकती हैं और अपनी भिन्न-भिन्न कर्म-प्रणा-लियोंको एक साथ संयुक्त कर सकती हैं, पृथक्-पृथक् और मिलकर, दोनों प्रकारसे चेतना और सत्ताकी ऐसी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंकी सृष्टि कर सकती हैं जो कि सभी प्रामाणिक और

सह-अस्तित्वमें समर्थ हों। एक शुद्ध निर्व्यक्तिक (निर्गुण) सत्ता और चेतना सत्य है और संभव है, .कतु साथ ही पूर्णतया सव्यक्तिक (सगुण) चेतना और सत्ता भी सत्य और संभव है। निर्व्यक्तिक अर्थात् निर्गुण ब्रह्म और सव्यक्तिक अर्थात् सगुण ब्रह्म यहां सनातन ब्रह्मके सम और सहवर्ती पक्ष हैं। निर्व्यक्तित्व (निर्गुणत्व) व्यक्तित्व (सगुणत्व) को अपनी अभिव्यक्तिके एक प्रकारके रूपमें उपाश्रित बनाकर अपने-आपको अभिव्यक्त कर सकता है; किंतु समान रूपमें, व्यक्ति (सगुण) भी ऐसा परमार्थ तत्त्व हो सकता है जिसके स्वभावका एक प्रकार-विशेष निर्व्यक्तित्व (निर्गुणता) हो।

अभिव्यक्तिके ये दोनों पक्ष चेतन सत्की अनंत विविधतामें एक-दूसरेके आमने-सामने होते हैं। मानसबुद्धिको जो संगत न हो सकनेवाले भेद जान पड़ते हैं वे अधिमानस बुद्धिको परस्पर संबंध रखनेवाले सहवर्ती ज्ञात होते हैं। जो मानसबुद्धिके लिये विरोधी हैं वे अधिमानस बुद्धिके लिये पूरक हैं। हमारा मन यह देखता है कि समस्त पदार्थ जड़तत्त्व या जड़शक्तिसे उत्पन्न होते हैं, उससे स्थित हैं और उसमें ही लीन हो जाते हैं; अतः वह इस निष्कर्षपर पहुंचता है कि जड़तत्त्व ही सनातन सत्य, आदिम और अंतिम परमार्थतत्त्व है, ब्रह्म है (**अन्नं ब्रह्म**)। अथवा वह यह देखता है कि सब कुछ प्राण या मनसे उत्पन्न होता है, प्राण या मनसे स्थित है, वैश्व प्राण या मनमें लीन हो जाता है, और वह इस परिणामपर पहुंचता है कि यह जगत् वैश्व प्राण या वैश्व मनकी सृष्टि है। अथवा वह यह देखता है कि जगत् और उसके समस्त पदार्थ ब्रह्मके सत्य-संकल्प या ज्ञान-इच्छासे या स्वयं ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, उससे स्थित हैं और उसमें लीन हो जाते हैं; तब वह विश्वके विषयमें भावनावाद या आत्मवादके सिद्धांतपर पहुंचता है। वह इनमेंसे किसी एक दृष्टिकोणपर स्थिर हो सकता है, किंतु उसकी साधारण पृथक्कारी दृष्टिके लिये प्रत्येक दृष्टिकोण दूसरोंका बहिष्कार करता है। अधिमानस चेतना यह देखती है कि प्रत्येक दृष्टि जिस किसी तत्त्वका निर्माण करती है उसके कर्मके विषयमें सत्य है; वह चेतना यह देख सकती है कि जिस प्रकार भूलोक है उसी प्रकार प्राणमय लोक, मनोमय लोक और अध्यात्म लोक हैं और प्रत्येक तत्त्व अपने लोकमें प्रधान हो सकता है और साथ ही सबके सब एक लोकमें उसकी अंगभूत शक्तियोंके रूपमें एक साथ संयुक्त हो सकते हैं।

चेतन शक्ति अपने-आपको आपाततः निश्चेतनाके रूपमें आविर्भूत करती है; हमारा भूलोक इस निश्चेतनाके आधारपर ही प्रतिष्ठित है; यह निश्चेतना अपने भीतर परम चेतन-सत्को छिपाये रखती है और अपनी निश्चेतन गुहामें सत्पुरुषकी संपूर्ण शक्तियोंको एक साथ धारण करती है; वैश्व भौतिक तत्त्वका लोक (भूलोक) अपनेमें प्राण, मन, अधिमन, अतिमन और आत्माको प्रकट करता है; इनमेंसे प्रत्येक दूसरोंको अपनी अभिव्यक्तिका पात्र बनाता है; भौतिक द्रव्य अध्यात्म दृष्टिमें ऐसा सिद्ध होता है कि वह सर्वदा आत्माकी अभिव्यक्ति रहा है; अधिमानस दृष्टिमें यह सब साधारण और सरलतासे अनुभवगम्य सृष्टि है।

अधिमन अपनी उत्पादन-शक्तिमें और अपनी कार्यकारिणी शक्तिकी प्रक्रियामें सत्की अनेक शक्यताओंका गठन करनेवाला है; इस गठनमें इन शक्यताओंमेंसे प्रत्येक अपनी पृथक् यथार्थताको प्रस्थापित करती है, परंतु ये सब अनेक भिन्न-भिन्न और युगपत् विधियोंसे अपने-आपको

संयुक्त कर सकती हैं। अधिमन एक जादूगर शिल्पी है जो केवल एक ही तत्त्वको अनेक रंगों-वाले ताने और बानेका रूप देकर एक चित्र-विचित्र विश्वका निर्माण करनेकी सामर्थ्य रखता है।

अधिमन जो अनेक पृथक् या संयुक्त शक्तियों या शक्यताओंका ,एक साथ विकास करता है, इसमें अभीतक कोई अस्तव्यस्तता, संघर्ष, सत्य या ज्ञानसे अधःपतन नहीं है। अधिमन सत्योंका स्रष्टा है, भ्रमों या मिथ्यात्वोंका नहीं; किसी भी अधिमानस शक्ति या क्रियामें जो कुछ भी कार्यान्वित होता है वह सच्चिदानंदके पक्ष, बल, संकल्प, शक्ति, आनंदका ऐसा सत्य होता है जो कि स्वतंत्र कर्ममें उन्मुक्त हुआ है, उस स्वतंत्रतामें विद्यमान उसकी यथार्थताके परिणामोंका सत्य होता है। वहां कोई ऐसी अनन्यता नहीं होती जिससे कि प्रत्येक सत्य अपने-आपको एकमात्र सत्य होनेका दावा करे अथवा दूसरोंको निकृष्ट सत्य माने। प्रत्येक देव समस्त देवोंको और विश्वसत्तामें इनके समुचित स्थानको जानता है; प्रत्येक संकल्प दूसरे समस्त संकल्पोंको और उनके अस्तित्व रखनेके अधिकारको स्वीकार करता है। प्रत्येक शक्ति दूसरी समस्त शक्तियोंके लिये और उनके सत्य एवं परिणामोंके लिये एक स्थान स्वीकार करती है; पृथक् रूपमें परिपूर्ण हुई सत्ता या पृथक् अनुभवका कोई भी आनंद दूसरी सत्ताके या दूसरे अनुभवके आनंदका निषेध या तिरस्कार नहीं करता।

अधिमन विश्व-सत्यका तत्त्व है और एक बृहत् एवं अनंत सार्वभौमता उसका आत्मा है; उसकी ऊर्जा एक ऐसा तत्त्व है जो समस्त रूपोंमें क्रिया करनेवाला और साथ ही पृथक् रूपमें भी क्रिया करनेवाला है। अधिमन एक प्रकारका निम्न कोटिका अतिमन है; इसका संवंध मुख्यतया निरपेक्षोंसे नहीं है, अपितु उनसे है जिन्हें परमार्थ तत्त्वकी क्रियात्मक शक्यताएं या उस-के व्यावहारिक सत्य कहा जा सकता है; अथवा इसका संवंध निरपेक्षोंसे मुख्यतया व्यावहारिक और सृजनात्मक मूल्योंके उत्पन्न करनेवाली उनकी (निरपेक्षोंकी) शक्तिके लिये है; इसका पदार्थोंका ज्ञान सर्वांगीण होनेकी अपेक्षा वर्त्तुल (मंडलाकार) अधिक है, कारण इसकी समग्रता वर्त्तुलाकार पूर्णोंसे बनी है अथवा ऐसी पृथक् स्वतंत्र यथार्थताओंसे बनी है जो कि एक साथ मिलती या संयुक्त होती हैं।

यह मूलभूत ऐक्यको ग्रहण करता है और यह अनुभव करता है कि यह ऐक्य पदार्थोंका आधार है और उनके अभिव्यक्त रूपोंमें व्याप्त रहता है; परंतु यह अतिमनके समान पदार्थोंके ऐक्यको उनके अंतरंग और सदा विद्यमान रहस्यके रूपमें, उनके प्रधान धारण-कर्ता, उनकी क्रिया और उनके स्वभावके सुसमंजस पूर्णके स्पष्ट सतत निर्माताके रूप में अनुभव नहीं करता।

यदि हम इस वर्त्तुल अधिमानस चेतना और अपनी पृथक्कारी और केवल अपूर्णतया सम-न्वयकारी मानसचेतनाके बीचका भेद समझना चाहें तो हम अपने भौतिक विश्वमें क्रियाओंकी ठीक-ठीक मानसदृष्टिकी अधिमानसदृष्टिसे तुलना करके उस भेदके समीप पहुंच सकते हैं। उदा-हरणस्वरूप, अधिमनके लिये समस्त धर्म एकमात्र सनातन धर्मके विकासके रूपमें सत्य होंगे, समस्त दर्शन प्रामाणिक होंगे, कारण प्रत्येक दर्शनशास्त्र अपने क्षेत्रमें, अपने दृष्टिकोणसे स्वयं

अपनी विश्वसंबंधी दृष्टिका प्रतिपादन है; संपूर्ण राजनीतिक सिद्धांत अपने व्यावहारिक रूपके साथ एक ऐसी संकल्प-शक्तिके न्यायसंगत व्यक्त रूप होंगे जो (संकल्प-शक्ति) प्रकृतिकी ऊर्जाओं-की क्रीड़ामें प्रयोगका और व्यावहारिक विकासका अधिकार रखती है।

हमारी पृथक्कारी चेतनामें जिसमें कि सार्वभौमता और विश्वात्मकताकी झलकें अपूर्णतया, सदोषतया आती हैं, ये वस्तुएं विरोधी रूपमें रहती हैं, इनमेंसे प्रत्येक अपने-आपको सत्य होने-का दावा करता है और दूसरोंको विपर्यय और मिथ्या ठहराता है; प्रत्येक इसलिये कि केवल वही सत्य रहे और अपना अस्तित्व बनाये रखे, दूसरोंका प्रत्याख्यान या विनाश करनेकी अंतः-प्रेरणाका अनुभव करता है। अपने सर्वोत्तम रूपमें, प्रत्येक अपने-आपको दूसरोंसे श्रेष्ठ मानता है और दूसरोंको सत्यकी निम्न कोटिकी अभिव्यक्तियां मानता है।

अधिमानस बुद्धि इस अवधारणाको या व्यावर्त्तनकी उस प्रवृत्तिको क्षण भरके लिये भी स्वीकार न करेगी; वह सबको समग्रके आवश्यक अंगोंके रूपमें रहने देगी अथवा प्रत्येकको समग्र-में उसके उपयुक्त स्थानपर रख देगी अथवा प्रत्येकको प्रयासका या अपने-आपको परिपूर्ण करने-का क्षेत्र प्रदान करेगी। हमारी मानसिक चेतनाकी वह क्रिया वैसी इस कारण है कि हममें चेतना पूर्णतया नीचे अज्ञानकृत विभागोंमें उतर आयी है। यहां सत्य अनेक संभव रूपोंवाला न तो अनंत रहा है और न विश्वात्मक पूर्ण; वह अब एक ऐसा कठोर मंतव्य है जो कि प्रत्येक दूसरे मंतव्यको इस कारण मिथ्या ठहराता है कि वह इससे भिन्न और दूसरी सीमाओंमें बद्ध है।

हमारी मानस-चेतना, निःसंदेह, अपने ज्ञानमें पूर्ण व्यापकता और सार्वभौमताके काफी समीप पहुंच सकती है, किंतु उसे कर्म और जीवनमें गठित करना उसकी सामर्थ्यसे बाहर जान पड़ता है। विकासमान मन, जो कि व्यष्टियोंमें या समष्टियोंमें अभिव्यक्त होता है, अनेक विभिन्न दृष्टिकोणोंको, विभिन्न कर्ममार्गोंको प्रकट करता है और उन्हें एक-दूसरेके साथ-साथ या संघर्षमें अथवा परस्पर मिश्रणके द्वारा कार्यान्वित होने देता है। वह चुने हुए सामंजस्योंको बना सकता है, किंतु वह सच्ची समष्टिके सुसमंजस नियंत्रणको प्राप्त नहीं कर सकता।

वैश्व मन विकासमान अज्ञानमें भी, समस्त समष्टियोंके समान, ऐसे सामंजस्यको रखता है, चाहे वह सामंजस्य केवल व्यवस्थित की हुई संगतियों और असंगतियोंका ही क्यों न हो। उसमें एकत्वकी एक अंतर्निहित क्रियात्मकता भी है; किंतु वह इन वस्तुओंकी पूर्णताको अपनी मह-राइयोंमें संभवतः अतिमानस-अधिमन द्रव्यमें रखता है, किंतु उसे विकासमें आये हुए व्यक्तिगत मनको नहीं प्रदान करता, गहराईमेंसे उत्तलपर नहीं लाता या अभीतक नहीं लाया है। अधि-मानस लोक सामंजस्यका लोक होगा; जिस लोकमें हम रहते हैं वह अज्ञानका और असामंजस्य एवं प्रयास-संघर्षका लोक है।

और फिर भी हम अधिमनमें विश्वात्मिका आद्या मायाको पहचान सकते हैं; यह माया अविद्या माया (अज्ञानरूपी माया) नहीं है अपितु विद्यामाया (ज्ञानमयी माया) है, किंतु फिर भी ऐसी शक्ति है जिसने अज्ञानको संभव और यहांतक कि अनिवार्य बनाया है। कारण यदि प्रत्येक तत्त्व जो कि कर्ममें उन्मुक्त हुआ है, अपने स्वतंत्र पथका अनुसरण करता है और

अपने पूरे परिणामोंको व्यक्त करता है, तो पृथक्ताके तत्त्वको भी अपनी यात्राको पूरा करनेका अवकाश मिलना चाहिये और उसे अपने चरम परिणामपर पहुंचना चाहिये।

यह अपरिहार्य अवतरण है; कारण चेतना (चित्) जब एक बार पृथक्कारी तत्त्वको स्वीकार कर लेती है तो वह तबतक इस अवतरणका अनुसरण करती रहती है जबतक कि वह आवरक सूक्ष्मतम खंडभाव (**तुच्छयेन**[1]) के द्वारा भौतिक निश्चेतनामें, जिसे ऋग्वेदमें अचेतन समुद्र (**सलिलमप्रकेतम्**) कहा गया है, प्रवेश नहीं कर जाती; और यदि एकतम तत्त्व अपने महिमाके कारण उस अचेतनासे उत्पन्न होता है तब भी पहले वह ऐसी खंडात्मक पृथक्कारी सत्ता और चेतनासे छिपा रहता है जो कि हमारी है और जिसमें हम एक पूर्णको प्राप्त करनेके लिये वस्तुओंको खंड-खंड करके एक साथ जोड़ते हैं।

उस मंद और कठिन उन्मज्जनमें हिरेक्लीटसकी इस अभ्युक्तिको सत्यके जैसा माना जाता है कि युद्ध समस्त वस्तुओंका जनक है; कारण प्रत्येक विचार, शक्ति, पृथक् चेतना, सजीव प्राणी अपने अज्ञानकी आवश्यकताके कारण दूसरोंके साथ टकराता है और स्वतंत्र स्वप्राधान्य-स्थापनके द्वारा रहने, वर्धन करने और अपने-आपको परिपूर्ण करनेका प्रयास करता है, न कि दूसरोंके साथ सामंजस्यके द्वारा। परंतु फिर भी इन सबकी तहमें अज्ञात एकत्व रहता है; यह एकत्व हमें धीरे-धीरे किसी प्रकारके सामंजस्य, परस्पर निर्भरता, विषमताओंमें सुसंगति, कठिन एकताके लिये प्रयास करनेको बाध्य करता है।

परंतु जिस लक्ष्यभूत समंजसता और एकताके लिये हम प्रयास कर रहे हैं, उसे केवल सदोष प्रयत्नोंमें, अपूर्ण निर्माणोंमें, सदा परिवर्तनशील सन्निकटताओंके रूपमें नहीं प्राप्त करना है; उसे अपनी सत्ताकी रग-रगमें और उसकी संपूर्ण आत्म-अभिव्यक्तिमें प्राप्त करना है; यह प्राप्ति हमें तभी हो सकती है जब कि हममें वैश्व सत्यकी छिपी हुई अतिचेतन शक्तियोंका और उस परमार्थ तत्त्वका जिसमें कि वे एक हैं, विकास हो। परंतु यदि हमें विश्वमें अपने जन्मकी दिव्य संभावनाओंको परिपूर्ण करना है तो अध्यात्म मनके उच्च स्तर हमारी सत्ता और चेतनापर खुलने चाहियें और जो अध्यात्म मनसे भी ऊपर हैं वह भी हममें प्रगट होना चाहिये।

अधिमन अपने अवतरणमें एक ऐसी रेखापर पहुंचता है जो विश्व सत्यको विश्व-अज्ञानसे विभक्त करती है। यह वह रेखा है जहांपर कि चित्-शक्तिके लिये यह संभव हो जाता है कि वह अधिमनसे सृष्ट प्रत्येक स्वतंत्र गतिके पार्थक्यपर बल देते हुए और उनकी एकताको छिपाकर या अंधकारमें ढककर, एक अनन्य एकाग्रताके द्वारा मनको उसके उपादान अधिमनसे विभक्त कर दे। ऐसा एक पार्थक्य अधिमनका अपने उपादान अतिमनसे पहले ही हो चुका है; परंतु वहां जो पर्दा है उसमें ऐसी पारदर्शकता है कि जिससे वह पर्दा अतिमनसे अधिमनमें सचेतन संक्रमण होने देता है और इन दोनोंमें एक विशेष ज्योतिर्मय सादृश्यको बनाये रखता है।

परंतु अधिमन और मनके बीचमें जो पर्दा है वह अपारदर्शी है और अधिमानस उद्देश्योंका मनमें संक्रमण गुह्य और धुंधला है। पृथक् हुआ मन इस प्रकार क्रिया करता है मानो वह

---

[1]ऋग्वेद १०-१२९-३।

एक स्वतंत्र तत्त्व हो, और इसी प्रकार प्रत्येक मनोमय प्राणी, बुनियादी प्रत्येक मानसिक विचार, वल और शक्ति अपने पृथक् स्वरूपपर स्थित होते हैं। यदि इनमेंसे कोई दूसरोंसे संसर्ग, संयोग या संपर्क करता है तो यह अधिमानस क्रियाकी सार्वभौम विश्वात्मकताके साथ, अंतर्वर्ती एकत्वके आधारपर नहीं करता, अपितु ऐसे स्वतंत्र एककोंके रूपमें करता है जो कि एक पृथक् निर्मित पूर्णको बनानेके लिये संयुक्त होते हैं।

इस क्रियाके द्वारा ही हम वैश्व सत्यसे वैश्व अज्ञानमें आते हैं। इस स्तरपर वैश्व मन, निःसंदेह, स्वयं अपने ऐक्यका वोध करता है, किंतु वह ब्रह्ममें विद्यमान अपने उद्‌गमस्थान और आधारको नहीं जानता, अथवा उसे केवल बुद्धिके द्वारा जान सकता है, किसी स्थायी अनुभवके द्वारा नहीं; वह इस प्रकार क्रिया करता है मानो वह स्वतंत्र और स्वाधीन हो; जो कुछ वह ऊपरसे प्राप्त करता है उसके उद्‌गम स्थानसे सीधा संसर्ग किये विना उसे कार्यान्वित करता है। उसके एकक भी एक दूसरेको और वैश्व समग्रको जाने विना क्रिया करते हैं, उन्हें इनका केवल इतना ही ज्ञान होता है जो कि परस्पर संपर्क और संसर्गसे मिल जाता है; तादात्म्य-का आधारभूत भाव और उससे उत्पन्न होनेवाले पारस्परिक अंतःप्रवेश और अववोधन वहां नहीं हैं।

इस मन-ऊर्जाके समस्त कर्म अज्ञान और तज्जन्य विभागोंके आधारपर होते हैं और यद्यपि ये एक विशेप सचेतन ज्ञानके परिणाम होते हैं, वह ज्ञान आंशिक होता है, सच्चा और पूर्ण आत्मज्ञान नहीं होता और न सच्चा और पूर्ण विश्व-ज्ञान होता है। यह स्वभाव प्राणमें और सूक्ष्म भौतिक द्रव्यमें रहता है और निश्चेतनामें हुए अंतिम पतनसे उद्‌भूत हुए स्थूल भौतिक विश्वमें फिर प्रकट होता है।

तथापि, जिस प्रकार हमारे अधस्तलीय या आंतरिक मनमें, उसी प्रकार इस मन (विश्व-मन) में भी संसर्ग और पारस्परिकताकी विशालतर शक्ति अभीतक बनी रहती है; वहां मानव मनकी अपेक्षा मन और इंद्रियज्ञानकी क्रिया अधिक स्वतंत्र होती है, और अज्ञान पूरा नहीं होता; वहां एक सचेतन सामंजस्य, यथातथ संबंधोंका अन्योन्याश्रित गठन अधिक संभव होता है। मन अभीतक अंध प्राण-शक्तियोंसे विक्षुब्ध या प्रत्युत्तरहीन भौतिक द्रव्यसे मलिन नहीं होता। यह अज्ञानका एक स्तर है, पर अभीतक अनृत (मिथ्यात्व) या विपर्ययका नहीं अथवा कम-से-कम मिथ्यात्व और विपर्ययमें पतन अभीतक अनिवार्य नहीं होता; यह अज्ञान परिच्छिन्न करने-वाला होता है किंतु अवश्यंभावी रूपमें मिथ्यात्वजनक नहीं होता।

यहां ज्ञानकी परिच्छिन्नता है, आंशिक सत्योंका गठन है, परंतु सत्य या ज्ञानका निपेध या वैपरीत्य नहीं है। पृथक्कारी ज्ञानके आधारपर आंशिक सत्योंके गठनका यह स्वभाव प्राण और सूक्ष्म भौतिक द्रव्यमें भी विद्यमान रहता है; कारण चित्-शक्तिकी जो अनन्य एकाग्रता उन्हें पृथक्कारी कर्ममें नियुक्त करती है वह मनको प्राणसे या मन और प्राणको भौतिक द्रव्यसे पूरी तरह विच्छिन्न या आवृत नहीं करती। पूर्ण पार्थक्य केवल तभी हो सकता है जब कि

निश्चेतनाकी अवस्था पहुंच चुकी होती है और उस तिमिराच्छन्न (**तमसा गूढ**) गर्भसे बहुविध अज्ञानवाला हमारा जगत् प्रकट होता है।

अंतर्भावकी ये दूसरी अभीतक सचेतन भूमिकाएं निःसंदेह चेतनशक्तिके ऐसे गठन हैं जिनमें प्रत्येक अपने निजी केंद्रसे जीवित रहता है, अपनी निजी संभावनाओंका अनुसरण करता है, और वहां जो तत्त्व प्रधान होता है, चाहे वह मन हो या प्राण या भौतिक द्रव्य, वह अपने स्वतंत्र आधारपर पदार्थोंको कार्यान्वित करता है; परंतु जो कुछ कार्यान्वित होता है वह उस तत्त्वका अपना सत्य होता है, भ्रम अथवा सत्य और मिथ्यात्वका, ज्ञान एवं अज्ञानका मिश्रण नहीं होता। परंतु जब चित्-शक्ति, शक्ति या रूपपर अनन्य भावसे एकाग्रता करके गोचर रूपमें चेतनाको शक्तिसे पृथक् करती प्रतीत होती है, अथवा जब वह चेतनाको ऐसी अंध निद्रामें निमग्न कर देती है जहां कि वह चेतना रूप और शक्तिमें विलीन हो जाती है, तव चेतनाको अपने पूर्व स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये आंशिक क्रमविकासके मार्गसे प्रयास करना होता है और इसके लिये विपर्यय आवश्यक है और मिथ्यात्व अनिवार्य है।

परंतु इन वस्तुओंके विपयमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि आदिमें कोई असत् था जिससे ये उत्पन्न हुए भ्रम हैं। उनके विषयमें हम यह कह सकते हैं कि ये निश्चेतनासे उत्पन्न हुए जगत्के अपरिहार्य सत्य हैं। कारण, अज्ञान यथार्थमें ऐसा ज्ञान है जो कि निश्चेतनाके आदिम पर्देके पीछे अपने-आपको खोज रहा है; वह खोता और पाता है; उसके परिणाम, यद्यपि अपनी-अपनी दिशाओंमें स्वाभाविक और यहांतक कि अनिवार्य हैं, पतनका सच्चा फल हैं—एक प्रकार-से, पतनसे फिर उठनेकी ठीक क्रिया हैं।

सत्ताका आपाततः असत्तामें, चेतनाका आपाततः अचेतनामें, सत्ता धारण करनेके आनंदका एक बृहत् विश्वीय असंवेदनामें निमज्जन पतनके प्रथम परिणाम हैं; और जब प्रयासात्मक खंड-खंड अनुभवके द्वारा उस निमज्जनसे उन्मज्जन होता है तो चेतनाका सत्य और मिथ्यात्व, ज्ञान और विपर्ययके द्विविध रूपमें, सत्ताका जीवन और मरणके द्विविथ रूपमें, सत्ता धारण करनेके आनंदका सुख और दुःखके द्विविध रूपमें प्रकट होना आत्म-प्राप्तिके लिये परिश्रमकी आवश्यक प्रक्रिया हैं।

यहां सत्य, ज्ञान, आनंद, अविनाशी सत्ताके शुद्ध स्वरूपका अनुभव वस्तुओंके सत्यके विरुद्ध होगा। यह इससे भिन्न तभी हो सकता है जब कि विकासमें आये हुए समस्त प्राणी अपने भीतर विद्यमान चैत्यतत्त्वके प्रति और प्रकृतिके व्यापारोंके भीतर विद्यमान अतिमनके प्रति शांत भावसे प्रत्युत्तर देनेवाले हों। परंतु यहां अपनी संभावनाओंको कार्यान्वित करनेवाली प्रत्येक शक्तिका अधिमानस विधान आ उपस्थित होता है। जिस लोकमें आदिम निश्चेतना और चेतनाका विभाग मुख्य तत्त्व है उसकी स्वाभाविक संभावनाएं ये होंगी : अंधकारकी शक्तियोंका उन्मज्जन होगा और वे जिस अज्ञानसे जीवन धारण करती हैं उसे बनाये रखनेके लिये प्रयत्नशील होंगी : मिथ्यात्व और विपर्ययके मूल कारणको जाननेका अज्ञानपूर्ण प्रयास होगा; जीवित रहनेका ऐसा अज्ञ प्रयास होगा जो अनुचित और अशुभको उत्पन्न करेगा; भोग करनेका

ऐसा आहंकारिक प्रयत्न होगा जो आंशिक हर्षों, पीड़ाओं और दुःखोंको उत्पन्न करेगा। अतः ये हमारी विकासमान सत्ताके अनिवार्य प्रथम-चिह्नित स्वभाव हैं, यद्यपि उसकी एकमात्र संभावनाएं नहीं हैं। तथापि, चूंकि असत्ता एक प्रच्छन्न सत्ता है, निश्चेतना प्रच्छन्न चेतना है, असंवेदना एक प्रच्छन्न और प्रसुप्त आनंद है, इसलिये इन अंतर्गूढ़ यथार्थताओंका उन्मज्जन अवश्यंभावी है; और अंतमें अंधकारमय अनंतसे व्यक्त हुए इस आपाततः विरुद्ध-रूपवाले गठन-में, तिरोभूत अधिमन और अतिमनका भी अपने-आपको परिपूर्ण करना अश्वयंभावी है।

दो वस्तुएं इस अंतिम अवस्थाकी प्राप्ति दूसरे साधनोंकी अपेक्षा अधिक सुगम वना देती हैं। अधिमनने भौतिक सृष्टिकी ओर अवतरण करते समय अपने परिवर्तित रूपोंको उत्पन्न किया है। इनमें विशेषकर अंतर्भास है जो कि अपनी सत्यकी अंतःप्रवेशी विद्युत्प्रभाओंके द्वारा हमारी चेतनाके स्थानिक बिंदुओं और विस्तृत प्रदेशको प्रकाशित करता है। अधिमनके ये परिवर्तित रूप पदार्थोंके छिपे हुए सत्यको हमारे ज्ञानके अधिक समीप ला सकते हैं; और, हम अपने-आपको चेतनाके इन उच्च स्तरोंके संदेशोंके प्रति अधिक व्यापक रूपसे पहले अपनी अंतः-सत्तामें खोलकर और फिर इसके परिणामस्वरूप अपने बाह्य तलवाली सत्तामें भी खोलकर, इनमें संवर्धित होकर हम स्वयं भी अंतर्भासवाले और अधिमनवाले प्राणी हो सकते हैं; तब हम ऐसे प्राणी होंगे जो बुद्धि और इंद्रियज्ञानसे परिच्छिन्न नहीं होंगे, अपितु सत्यका उसके शुद्ध आत्मा और देहमें अधिक व्यापक रूपमें ग्रहण और साक्षात् स्पर्श करनेमें समर्थ होंगे।

वस्तुतः इन उच्च स्तरोंसे प्रकाशकी झलकें अभी भी हमारे पास आती हैं: किंतु ऊपरसे यह आगमन प्रायः खंडशः, आकस्मिक और आंशिक ही होता है; अतः हमें उनके सादृश्यमें अपना विस्तार, और उन महत्तर सत्यक्रियाओंका जिनके लिये कि हम शक्यतारूपमें समर्थ हैं अपनेमें गठन, प्रारंभ करना होगा। परंतु, दूसरे, जैसा कि हम देख चुके हैं, जिस अचेतनासे अपने विकासक्रममें हम आविर्भूत हुए हैं उसमें अधिमन, अंतर्भास, यहांतक कि अतिमन तत्त्व भी न केवल अंतर्निहित और अंतर्भूत हैं और अनिवार्य रूपसे विकसित होनेवाले हैं, अपितु मन, प्राण और भौतिक द्रव्यकी विश्वीय क्रियामें अंतर्गूढ़ रूपसे विद्यमान हैं, अंतर्भासकी झलकोंके उन्मज्जनके द्वारा गुह्य रूपमें सक्रिय हैं।

यह सत्य है कि उनका कार्य छिपा हुआ है और जब वे कहीं उन्मज्जित भी होते हैं तो, जिस भौतिक, प्राणिक या मानसिक माध्यमसे वे क्रिया करते हैं उससे वह कर्म परिवर्तित या विकृत हो जाता है और सरलतासे पहचानमें नहीं आता। अतिमन विश्वमें प्रारंभसे ही अपने-आपको स्रष्ट्री शक्तिके रूपमें अभिव्यक्त नहीं कर सकता; कारण यदि वह ऐसा करे तो अज्ञान और अचेतनता असंभव हो जायं अथवा विश्वमें जो मंद क्रमविकास आवश्यक है वह द्रुत वेग-वाले रूपांतरके दृश्यमें परिवर्तित हो जाय।

तथापि भौतिक ऊर्जाके प्रत्येक पदपर अतिमानस स्रष्टासे लगायी गयी अनिवार्यताकी छाप-को हम देख सकते हैं; प्राण और मनकी संपूर्ण क्रमोन्नतिमें संभावनाकी दिशाओंकी और उनके संयोगकी क्रीड़ा दिखायी देती है और यह अधिमनके हस्तक्षेपकी छाप है। जैसे प्राण और

मन भौतिक द्रव्यमें उन्मुक्त हुए हैं, उसी प्रकार छिपे हुए देवाधिदेवकी ये महत्तर शक्तियां भी अपने समयपर अंतर्भावसे उन्मज्जित होनी चाहियें और उनकी पराज्योति ऊपरसे हममें अवतीर्ण होनी चाहिये।

अतः इस अभिव्यक्तिमें दिव्य जीवनको प्राप्त करना हमारे अज्ञानगत वर्तमान जीवनके उच्च परिणाम और मोक्षके रूपमें केवल संभव ही नहीं है अपितु, यदि ये वस्तुएं वैसी ही हैं जैसी कि हम उन्हें देख चुके हैं तो, वह (दिव्य जीवन) प्रकृतिके विकासात्मक प्रयासका अनिवार्य परिणाम और चरम परिणति है।

॥ प्रथम भाग समाप्त ॥

२५ दिसंबर १९६२

नवीन ज्योति तुम्हारे विचारों और तुम्हारे जीवनोंको आलोकित करे, तुम्हारे हृदयोंको सुसंयमित और तुम्हारे कार्योंको परिचालित करे।

*

हर्ष भी एकदम अंदर गहराईमें होना चाहिये, तब शांति और आंतर चेतनाकी गहराइयोंके साथ उसका कोई संघर्ष नहीं होगा।

*

शांति मुक्तिका एक लक्षण है—आनंदकी गति सिद्धिकी ओर होती है।

*

शुद्ध मनका अर्थ है ऐसा मन जो स्थिर हो तथा बेकार या चंचल बनानेवाले विचारोंसे मुक्त हो।

—श्रीमां

सांध्य वार्त्तालापसे :

निष्काम कर्म

शिष्य—कामनाके बिना कैसे कर्म किया जाता है? मनुष्य कर्म और अहंकारसे कैसे मुक्त हो सकता है?

श्रीअरविंद—'अहंकार' शब्दका प्रयोग लोग बहुत सीमित अर्थमें करते हैं। अपने लिये जो कुछ होता है वह अहंकार समझा जाता है। जो चीज अपने लिये नहीं की जाती वह अहंकार शून्य समझी जाती है। परंतु योगमें ऐसी बात नहीं है। मनुष्य सब प्रकारके निःस्वार्थपूर्ण कार्य कर सकता है और फिर भी अपने अंदर पूरा अहंकार बनाये रख सकता है। उसे कर्ताका अहंकार रह सकता है। 'निष्काम कर्म' का अर्थ है सबसे पहले कामनासे शून्य होना। तुम्हें पहले उस अवस्थाको लाना होगा जिसमें अच्छी या बुरी कामनाओंका अभाव हो। तुम्हें यह उपलब्धि प्राप्त करनी होगी कि वास्तवमें भगवान्‌की शक्ति ही कार्य करती है। तुम्हारे अंदर और जगत्‌के अंदर जो भी अच्छे और बुरे कर्म होते हैं वे सब उसी शक्तिके कार्य होते हैं।

शिष्य—अगर कोई मनुष्य यह मनोभाव ग्रहण करे तो वह बिना विचारे भले या बुरे कर्म करनेमें संलग्न रह सकता है और यह कह सकता है कि भगवान् उन्हें कर रहे हैं।

श्रीअरविंद—वह ऐसा कह सकता है पर वह अहंकारका जितना भाव उस कर्ममें रखेगा उसके अनुपातमें उसका बदला भी पायेगा।

शिष्य—परंतु भूतकालमें किये गये कर्मोंका क्या होता है?

श्रीअरविंद—वे भी शक्ति—भागवती शक्तिके हाथोंमें होते हैं। वह जानती है कि कौनसा फल देना चाहिये और कौनसा नहीं। जब उस प्रकारका निष्काम भाव स्थापित हो जाता है तब तुम्हें अपने सभी कर्मोंको भगवान्‌के प्रति किये गये यज्ञके रूपमें समर्पित करते रहना चाहिये। तुम्हें यह अनुभूति होनी चाहिये कि वास्तवमें शक्ति ही तुम्हारे अंदर कार्य करती है और वह उसे यज्ञरूपमें भगवान्‌को दान कर देती है। जितना ही अधिक कर्ममें निष्कामभाव बढ़ता जायगा उतना ही अधिक शुद्ध उसका दान भी होता जायगा।

कर्म और कर्मफल दोनों ही भगवान्‌के हैं—हमारे नहीं हैं। हमारे अंदर अच्छे या निःस्वार्थ कर्मका फल पानेके लिये कोई आग्रह नहीं होना चाहिये। जब मनुष्य ऐसा कर लेता है तब उसके बाद सब कुछ आसान हो जाता है।

शिष्य—जब मनुष्यमें कामनाकी प्रेरणा नहीं रहेगी तब वह कैसे कार्य करेगा ?

श्रीअरविंद—जब तुम निष्काम भावको प्राप्त कर लोगे तब तुम्हारे अंदर अच्छी या बुरी कामनाकी कोई प्रेरणा नहीं रहेगी। उस समय शक्तिसे—भागवत शक्तिसे एक प्रेरणा आयेगी और फिर वह कर्मको आरंभ करेगी। उस समय धीरे-धीरे तुम्हारी समूची सत्ता उद्घाटित होती है और सब कुछ ऊपरसे आता है। हम महज यंत्र बन जाते हैं।

शिष्य—परंतु हम यह कैसे जान सकते हैं कि किस कर्मकी प्रेरणा शक्ति देती है और किस कार्यमें हमारी निम्न सत्ता नियोजित करती है ?

श्रीअरविंद—यह पहचाननेके लिये कि कौनसा कर्म शक्तिद्वारा अभीप्सित है और कौन कर्म निम्न प्रकृतिद्वारा निर्धारित है, तुम्हें बहुत सावधान होना होगा। तुम्हें भीतरकी ओर देखनेकी शक्तिको विकसित करना होगा। जब तुम भीतरकी ओर देखने लगो तब तुम्हें सबसे पहले यह उपलब्ध करना होगा कि तुम पुरुष हो, अर्थात् प्राण, चित्त, मन इत्यादिमें होनेवाली प्रकृति-की क्रियाओंसे एकदम पृथक् एक सत्ता हो। जो कोई क्रिया यहां (प्रकृति) से उठती है उसका त्याग करना होगा और जो कुछ ऊपरसे आता है उसे स्वीकार करना होगा। और तुम्हें केवल अपनेको पृथक् ही नहीं करना होगा बल्कि पुरुषको शांत-स्थिर और निष्क्रिय साक्षी बनना होगा। इस तरह तुम्हारे अंदर एक भाग ऐसा होगा जो अचंचल, प्रकृतिकी किसी भी चीजसे अप्रभा-वित होगा। फिर द्रष्टाकी स्थिरता प्रकृतिमें भी प्रसारित होगी और तब प्रकृति भी स्थिर बनी रहेगी और किसी भी विक्षोभसे चंचल नहीं होगी। फिर तुम केवल अचंचल ही नहीं बने रह सकते, बल्कि अनुमंता भी बन जाओगे और प्रकृतिकी कुछ क्रियाओंको तो तुम अपनी अनुमति दोगे और दूसरोंको रोक दोगे।

भारतीय-जीवन-दर्शन के सर्वांगीण चिन्तक

श्रीनलिनीकान्त गुप्त

की उपयोगी कृति

नारी : नये युगमें

(नारी-जीवन की शाश्वत समस्याओं पर एक नया आलोक)

मूल्य. :—रु. २.५० नये पैसे : अपनी प्रति के लिए लिखें

(अदिति के सभी नये और पुराने ग्राहकों को १५% कमीशन देने की सुविधा दी गयी है। इसका लाभ उठाने के लिए अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखें।)

प्रकाशन विभाग
श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी—२

समता

समता इस योगका बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग है; दुःख और यंत्रणाके समय समता बनाये रखना आवश्यक है—और इसका अर्थ है दृढ़ता और शांतिके साथ सहन करना, जरा भी बेचैन, विक्षुब्ध, अवसन्न या निराश न होना, भागवत संकल्प-शक्तिपर अटल विश्वास रखकर निरंतर आगे बढ़ते रहना। पर समतामें किसी चीजको जड़की तरह स्वीकार करनेके लिये कोई गुंजाइश नहीं है। उदाहरणार्थ, साधनाके लिये किये गये किसी प्रयासमें यदि सामयिक असफलता आवे तो साधक को समता बनाये रखना चाहिये, उससे विचलित या हताश नहीं होना चाहिये, पर उसे असफलताको भागवत इच्छाका संकेत मानकर उस प्रयासको ही नहीं छोड़ देना चाहिये। बल्कि उचित यह है कि वह अपनी असफलताका कारण और अर्थ खोज निकाले और पूर्ण विश्वासके साथ विजय की ओर अग्रसर हो। यही बात बीमारीपर भी लागू होती है—तुम्हें विक्षुब्ध, विचलित या बेचैन नहीं होना चाहिये, बिमारी को भागवत इच्छा मानकर स्वीकार नहीं करना चाहिये, बल्कि उसे शरीरकी ऐसी अपूर्णता माननी चाहिये जिससे तुम्हें मुक्त होना है, जैसे कि तुम प्राणिक अपूर्णताओं या मानसिक भ्रांतियोंसे छुटकारा पानेकी चेष्टा करते हो।

*

जब उच्चतर चेतनाकी शांति अवतरित होती है तब वह बराबर ही समताकी इस प्रवृत्तिको अपने साथ ले आती है, क्योंकि समताके बिना शांतिको सदा ही निम्न प्रकृतिकी लहरोंसे आक्रांत होनेकी आशंका बनी रहती है।

तुम्हें यह समझ रखना चाहिये कि जहां शांत वातावरण काम्य है वहां सच्ची शांति भीतर है और कोई अन्य चीज उस अवस्थाको नहीं प्रदान कर सकती जिसे तुम चाहते हो।

*

हां, निःसंदेह, एक मनकी शांति होती है, एक प्राणकी शांति होती है और एक भौतिक प्रकृतिकी शांति होती है। वास्तवमें उच्चतर चेतनाकी ही शांति वह चीज है जो ऊपरसे अवतरित होती है।

*

निश्चय ही, शांति, पवित्रता और नीरवताका अनुभव सभी स्थूल वस्तुओंमें हो सकता है—क्योंकि परम ब्रह्म परमात्मा सबके अंदर विद्यमान हैं।

"हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिको यथाशक्ति ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि देशके उद्योग-धंधेकी गाड़ी निरंतर गतिमान रहे।"

* *

"संडरसन-परिवार" अपनी सामान्य शक्तिके अनुसार इस उद्देश्यकी पूर्ति के लिये प्रयास कर रहा है।

बिजली-घरों और कारखानोंको

कोल (पत्थर कोयला)-**स्टीम-स्लैक और रबल**

कोक (जला कोयला)-**हार्ड-साफ़्ट और बीहाइव**

शीघ्र और यथासमय प्रदान करता है।

३५ वर्षोंसे इस क्षेत्रमें कारबार करनेवाले पुराने व्यापारी

एस. एन. सण्डरसन ऐंड कंपनी

१, देशबंधु गुप्त रोड,

नयी दिल्ली

शाखाएं: कलकत्ता, झरिया, पटना, रानीगंज, कटनी, जुकेही, मैहर, सतना, वाराणसी, लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, मेरठ, आगरा, देहरादून, बंबई, पांडिचेरी।

यदि तुम्हारा आत्मदान पूर्ण हो और तुम पूर्णतः सच्चे हो तो तुम्हारा आध्यात्मिक लक्ष्यतक पहुंचना सुनिश्चित है।

—श्रीमां

फोन : 33.1998 तार : GENERIMP

केशरीचंद सुमेरमल

जनरल मर्चैंट व कमिशन एजेन्ट

८ नारायणप्रसाद बाबू लेन, कलकत्ता–७.

कोई संरक्षण, कोई कृपा-शक्ति उन लोगोंकी रक्षा नहीं कर सकती जो अनिवार्य शुद्धिकी आवश्यकताको अस्वीकार कर देते हैं।

—श्रीमां

फोन : 331567 तार : CHARAKCHEM

चरक केमिकल वर्क्स प्राइवेट लिमिटेड

आयुर्वेदीय औषध एवं तैलोंके निर्माता

१६१/१ महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता–७.

The spiritual destiny always stands–it ma be delayed or seem to be lost for a time, but it is never abolished.

—SRI AUROBINDO

With the Compliments of :

DINDAYAL RAM ROOP

15/1 Sovaram Bysack Street,
CALCUTTA-7
Phone : 33-1682

भगवान्‌की इच्छा अभिव्यक्त होनेकी है, निष्क्रियता और अखंड निश्चल-नीरवतामें एकदम पीछे हटकर उसीमें बने रहनेकी नहीं है; यदि भागवत चेतनाका अर्थ वास्तवमें अनभिव्यक्त आनंदकी निष्क्रियता होता तो फिर कभी कोई सृष्टि हुई ही नहीं होती।

—श्रीमां

ओनेस्टी राइस मिल्स

जामुरिया (वेस्ट बेंगाल)

अदिति

सह

भारत माता

श्रीअरविंदकी विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टिसे प्रेरित

त्रैमासिक पत्रिका

तिरासीवीं कला

श्रीअरविंदके जन्म-दिवस १५ अगस्त १९६२ के उपलक्ष्यमें

अदिति कार्यालय, श्रीअरविंद आश्रम

पांडिचेरी-२

विषय-सूची

अदिति सह भारतमाता, १५ अगस्त १९६३

विषय		पृष्ठ
१. संदेश	(श्रीमां)	३
२. प्रार्थना	(श्रीमां)	४
३. श्रीमातृ-वचनामृत		५
४. कुंडलिनी-शक्ति	(श्रीअरविंद)	६
५. भागवत मुहूर्त्त (१०) : पूर्णयोग	(श्रीअरविंद)	७
६. पत्रावली	(श्रीअरविंद)	११
७. चिंतनधारा और सूत्रावली (स्पष्टीकरण)	(श्रीमां)	१३
८. धम्मपदं (व्याख्या)	(श्रीमां)	१८
९. शारीरिक पीड़ासे मुक्ति	(श्रीमां)	२४
१०. मनुष्य बद्ध है या मुक्त?	(श्रीअरविंद)	२५
११. एक पत्र	(श्रीअरविंद)	२९
१२. सांध्य वार्त्तालाप	(श्री अम्बालाल पुराणी)	३०
१३. दिव्य जीवन (भाग २ खंड १)	(श्रीअरविंद)	(पृथक् १ से ३२)
अध्याय (१) निर्विशेष्य, निर्विशेष-समूह और विश्वीय विशेष-समूह		
अध्याय (२) ब्रह्म, पुरुष, ईश्वर		

प्रबन्ध-संपादक, श्रीकेशवदेव पोद्दार ('सहकार' बी रोड, चर्चगेट, बम्बई-१) तथा श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला (४/१ क्लाईड रो, कलकत्ता—२२); प्रकाशक, श्री सुरेन्द्रनाथ जोहर (एस० एन० संडरसन एण्ड क०, कनाट सरकस, नई दिल्ली)।

The Director of Publication: Chandradip, Shri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry-2

492/6/63/600

1-4-63

When men will understand that the Divine knows better than they do what is the best for them, many of their difficulties will disappear

जब मनुष्य यह समझने लगेंगे कि भगवान् उनसे कहीं अधिक यह जानते हैं कि उनके लिये सबसे उत्तम क्या है तब उनकी बहुतसी कठिनाइयां दूर हो जायंगी।

—श्रीमां

प्रार्थना

इस जगत्के अगणित तत्त्वोंको तू ही चलाता है, तू ही उन्हें एक साथ मिला देता और मथ देता है जिसमें कि वे अपने आदि अंधकारसे, अपनी आदिम अस्त-व्यस्ततासे जगकर सचेतन हो उठें तथा ज्ञानके पूर्ण आलोकमें आ जायं। और तेरा परम प्रेम ही वह वस्तु है जिसका व्यवहार तू इस तरह इन सब तत्त्वोंका मंथन करने के लिये करता है। और इस प्रेमकी अक्षय धाराएं तेरे असीम, अपरिमेय हृदयसे ही फूट निकलती हैं। तेरा हृदय ही मेरा निवासस्थान है। तेरा हृदय ही है मेरी सत्ताका सत्स्वरूप। तेरे हृदयमें ही मैंने आश्रय लिया है और मैं तेरा हृदय ही बन गयी हूं।

शांति, समस्त जीवोंको शांति!

° ° °

कितनी प्रभा है तेरे सनातन एकत्वकी!
कितनी असीम मिठास है तेरे परमानंदकी!
कितनी महान् महिमा है तेरे ज्ञानकी!
तू तो अचिन्त्य है, हे प्रभु! अद्भुत है!

—श्रीमां

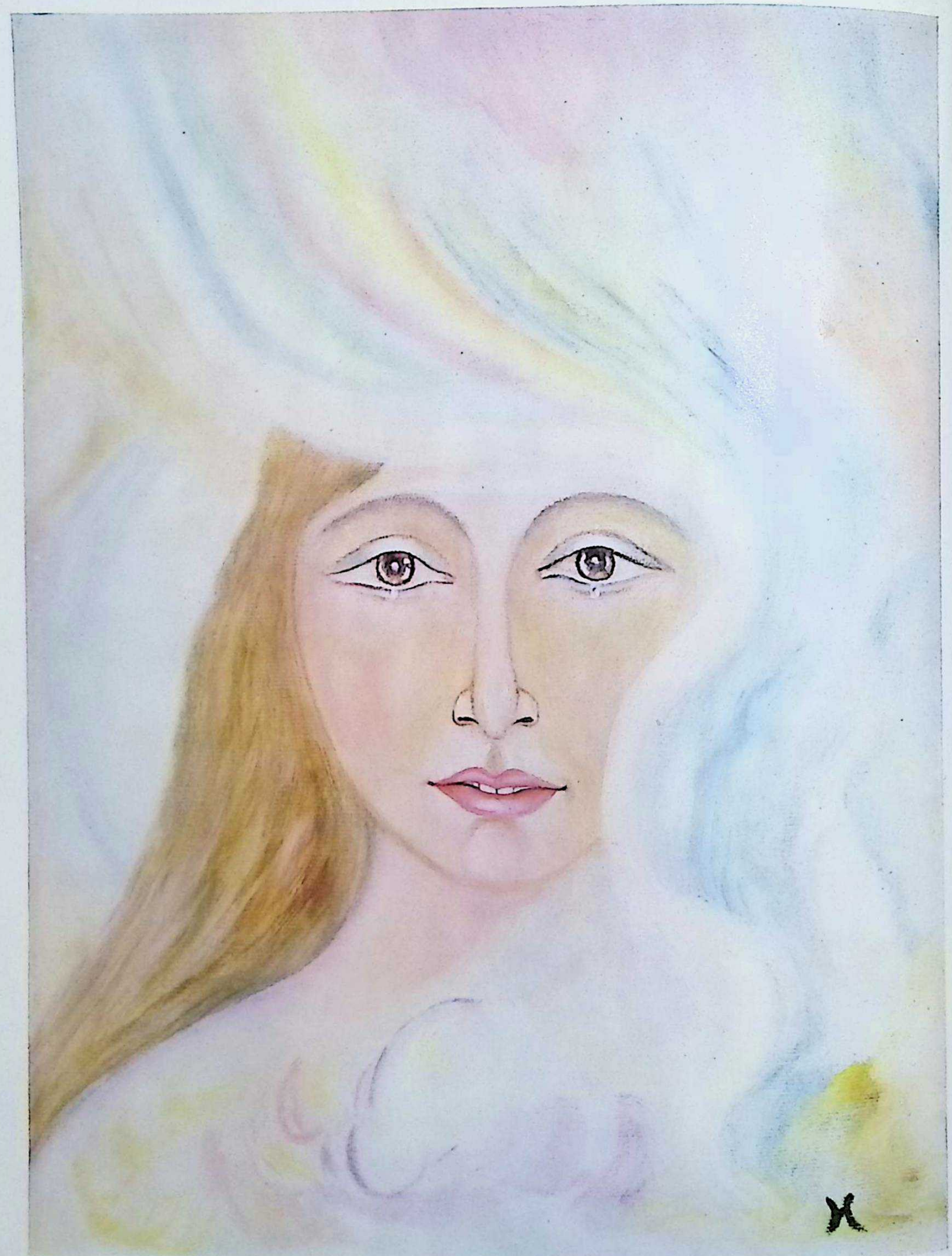

चित्र : हुता

The Ideal

आदर्श

मातृ-वचनामृत

अंतरात्मा वह चीज है जो भगवान्‌से कभी अलग न होते हुए उनसे बाहर आ जाती है और अभिव्यक्तिके अंदर रहना कभी बंद न कर भगवान्‌में वापस चली जाती है।

अंतरात्मा स्वयं भगवान् ही हैं जिन्होंने भगवान् होना बंद किये बिना व्यक्ति-रूप धारण किया। अंतरात्माके अंदर व्यक्ति और भगवान् चिरदिन एक होकर निवास करते हैं।

इस तरह अपने अंतरात्माको प्राप्त करना भगवान्‌के साथ युक्त होना है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि अंतरात्माका मुख्य कार्य है मनुष्यको एक सच्ची सत्ता बनाना।

अंतरात्मा या चैत्य पुरुष, भगवान्‌का अंश होनेके कारण, समस्त नैतिक भावनाओंसे ऊपर होता है, वह भागवत ज्योतिमें डूबा रहता है और उसे अभिव्यक्त करता है, पर वह केवल तभी सारी सत्तापर अपना अधिकार जमा सकता है जब कि अहंकार एकदम विलीन हो जाता है। ***

कुंडलिनी-शक्ति

श्रीअरविंद

तंत्रमें एक विशेष प्रक्रियाके द्वारा चक्रोंका उद्‌घाटन किया जाता है और कुंडलिनी-शक्ति जागृत की जाती है और उसके आरोहणकी क्रिया मेरुदंडके भीतर अनुभूत होती है। यहां (इस योगमें) ऊपरसे दिव्य शक्तिका दबाव पड़ता है और उसीसे कुंडलिनी-शक्ति जगती है और चक्र भी खुल जाते हैं। चेतनाका एक प्रकारका आरोहण होता है और वह ऊपर जाकर उच्चतर चेतनाके साथ युक्त हो जाती है। यह क्रिया बार-बार होती है (कभी-कभी एक प्रकारका अवरोहण भी अनुभूत होता है) और उससे अंतमें सभी चक्र खुल जाते हैं तथा चेतना शरीरसे ऊपर उठ जाती है। उसके बाद एक अवस्थामें जाकर वह ऊपर ही अवस्थित रहती है और विश्व-चेतना तथा विराट् आत्मामें विस्तारित हो जाती है। यही इसका सामान्य तरीका है, पर कभी-कभी यह प्रक्रिया बहुत क्षिप्र गतिसे होती है और ऊपर सहसा और सुनिश्चित उद्‌घाटन हो जाता है।

* * *

हमारे योगमें चक्रोंका उद्‌घाटन करनेकी इच्छा नहीं की जाती, वे शक्तिका अवतरण होनेपर अपने-आप ही उद्‌घाटित होते हैं। तंत्रकी साधनामें वे नीचेसे ऊपरकी ओर खुलते हैं, मूलाधार पहले खुलता है; पर हमारे योगमें वे ऊपरसे नीचेकी ओर खुलते हैं। परंतु शक्तिका आरोहण मूलाधारसे ही आरंभ होता है।

* * *

इस योगमें शक्तिका आरोहण और अवरोहण अपने निजी तरीकेसे घटित होता है। तांत्रिक पुस्तकोंमें जो सब विवरण दिये गये हैं उनके घटित या अनुभूत होनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। बहुतसे साधक तो चक्रोंके विषययें सचेतन होते हैं, पर दूसरे एक साधारण रूपमें ही, चक्रसे चक्रमें नहीं वरन् स्तरसे स्तरमें, आरोहण या अवरोहणका अनुभव करते हैं; वे शक्तिको पहले मस्तकमें, फिर हृदयमें, फिर नाभिस्थलमें और उसके नीचे भी अवतरित करते हुए अनुभव करते हैं। तांत्रिक वर्णनके अनुसार चक्रोंमें अवस्थित देवताओंका साक्षात्कार करना बिलकुल ही आवश्यक नहीं है, पर कुछ लोग विभिन्न केंद्रोंमें श्रीमाताजीको अनुभव करते हैं। इन सब विषयोंमें हमारी साधना पुस्तकोंमें दिये गये ज्ञानसे आबद्ध नहीं होती, वह केवल पीछे विद्यमान केंद्रीय सत्यको बनाये रखती है और प्राचीन रूपों और चिह्नोंकी अधीनता स्वीकार किये बिना स्वाधीन रूपसे उसे उपलब्ध करती है। तांत्रिक पुस्तकोंमें चक्रोंका जो अर्थ दिया गया है उससे एकदम भिन्न अर्थ भी उन्हें यहां दिया गया है। ***

पूर्णयोग

(१)

योगका सम्पूर्ण उद्देश्य

योगके द्वारा हम असत्यसे सत्यमें, निर्बलतासे शक्तिमें, दुःख और क्लेशसे परम आनंदमें, बंधनसे मुक्तिमें, मृत्युसे अमरत्वमें, अंधकारसे प्रकाशमें, संमिश्रणसे शुद्धतामें, अपूर्णतासे पूर्णतामें, आत्म-विभाजनसे एकत्वमें, मायासे ईश्वरमें आरोहण कर सकते हैं। योगके अन्य सभी उप-योग विशिष्ट और आंशिक लाभोंके लिये होते हैं, जिन्हें सदा पानेकी चेष्टा करना उचित नहीं होता। केवल वही योग पूर्ण है जिसका लक्ष्य भगवान्‌की पूर्णताको प्राप्त करना हो; भागवत परिपूर्णताका साधक ही पूर्णयोगी है।

हमारा उद्देश्य होना चाहिये पूर्ण होना, जैसे कि भगवान् हमारी सत्ता और आनंदमें पूर्ण हैं, पवित्र होना, जैसे कि वे पवित्र हैं; आनंदमय होना, जैसे कि वे आनंदमय हैं; और जब हम स्वयं पूर्णयोगमें 'सिद्ध' हो जायं तब सारी मानवजातिको उसी भागवत परिपूर्णतातक ले आना। इससे कोई हानि नहीं यदि अभी हम अपने उद्देश्यके उपयुक्त न भी हों, बशर्ते कि हम अपने-आपको पूरे दिलसे इस प्रयत्नमें लगा दें और निरंतर उसी प्रयत्नमें लगे रहकर और उसीके लिये जीवित रहकर अपने मार्गपर इंच-दो इंच आगे बढ़ते रहें; यह भी मानवजातिको उस संघर्ष और अर्द्ध-प्रकाशसे, जिसमें कि अभी वह निवास कर रही है, बाहर निकालकर उस ज्योतिर्मय आनंदमें ले जानेमें सहायक होगा जो भगवान्‌के द्वारा हमारे लिये अभिप्रेत है। किंतु हमारी तात्कालिक सफलता चाहे कुछ भी क्यों न हो, हमारा अटल उद्देश्य होना चाहिये समूची यात्रा पूरी करना, न कि मार्गके बीच किसी पड़ाव या किसी सदोष विश्रामस्थलमें संतोषपूर्वक पड़े रहना।

वह सारा योग जो हमें जगत्‌से बिलकुल दूर ले जाता है, दिव्य तपस्याका एक उच्च किंतु संकुचित विशिष्ट रूप है। अपने पूर्णत्वमें भगवान् सब वस्तुओंका आलिंगन करते हैं; हममें भी सब वस्तुओंका आलिंगन करनेकी क्षमता होनी चाहिये।

संपूर्ण अभिव्यक्ति और समस्त ज्ञानसे परे अपनी सर्वोच्च सत्तामें भगवान् परात्पर परब्रह्म हैं; जहांतक जगत्‌का संबंध है उस दृष्टिसे वह सत्ता हैं जो समस्त विश्वका साक्षित्व करते हुए अथवा उससे विमुख होते हुए उसे अतिक्रम करती है, जो विश्वको अपने भीतर धारण करती और उसकी रक्षा करती है, जो स्वयं विश्व बनती है। भगवान् ही यह विश्व हैं और इस विश्वमें जो कुछ है वह सब हैं।

वे विश्वके भीतर और विश्वके रूपमें क्रीड़ा करनेवाले सर्वातीत और सर्वोच्च पुरुष भी हैं; विश्वमें वे उसके आत्मा और प्रभुके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं, विश्वरूपमें वे प्रभुके संकल्पकी गति या प्रक्रियाके रूपमें तथा संकल्पकी उस गतिके सारे आंतर और बाह्य परिणामोंका रूप धारण

करते हुए दिखायी पड़ते हैं। ब्रह्मकी सारी स्थितियां—जैसे, परात्पर, सर्वाधार, विराट्, व्यष्टि-रूप आदि—दिव्य पुरुषसे अनुप्राणित और धारित होती हैं। वही 'अस्तित्ववान्' और अस्तित्वकी स्थिति दोनों हैं। अस्तित्वकी स्थितिको हम नैर्व्यक्तिक ब्रह्म कहते हैं और अस्तित्ववान्को सव्यक्तिक ब्रह्म। केवल हमारी चेतनाकी क्रीड़ाके लिये ही उनमें अंतर है, इसके अतिरिक्त उनमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि प्रत्येक नैर्व्यक्तिक स्थिति किसी प्रकट या गुप्त व्यक्तित्वपर निर्भर होती और उस व्यक्तित्वको प्रगट कर सकती है जिसे कि वह (अपने भीतर) धारण करती है और छिपाती है, तथा प्रत्येक व्यक्तित्वके साथ एक नैर्व्यक्तिक स्थिति जुड़ी रहती है और वह व्यक्तित्व उस नैर्व्यक्तिक स्थितिमें निमज्जित हो सकती है। यह करना इसलिये संभव है कि व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्व हमारे परात्पर आत्माके आत्म-चैतन्यकी महज विभिन्न अवस्थाएं हैं।

दर्शनशास्त्रों और धर्मोंका इस विषयमें विवाद चलता है कि भगवान्का कौनसा स्वरूप आद्य है तथा भिन्न-भिन्न योगियों, ऋषियों और संतोंने किसी एक या दूसरे दार्शनिक मत या धर्मको पसंद किया है। हमारा काम भगवान्के उन स्वरूपोंमेंसे किसीके भी विषयमें विवाद करना नहीं है, बल्कि उन सबका साक्षात्कार करना और उनके साथ तद्रूप हो जाना है, अन्य सबको छोड़कर किसी एक स्वरूपका अनुसरण करना नहीं, वरन् उन समस्त स्वरूपोंमें तथा रूपमात्रसे परे भगवान्का आलिंगन करना है।

जगत्में विविध रूपोंमें अवतरण करते हुए भगवान्ने सबसे अंतमें इस पृथ्वीपर मनोमय और देहमय आकार धारण किया है जिसे हम मानवता कहते हैं।

सर्वनियंता आत्माकी अपने ही रचनात्मक संकल्प या शक्तिके साथ होनेवाली क्रीड़ाके द्वारा भगवान्ने जगत्में सत्ताके एक छंदोमय स्वरूपको अभिव्यक्त किया है, जिसका निम्नतम तत्त्व जड़-तत्त्व है तथा उच्चतम तत्त्व विशुद्ध आत्मा है। मन और प्राण जड़तत्त्व, 'अन्नम्', पर अधिष्ठित हैं और इन सबके मेलसे विश्वसत्ताका निम्नतर अर्धांश, 'अपरार्ध', बना है; विशुद्ध चेतना और विशुद्ध आनंद विशुद्ध सत्तासे (चित् और आनंद सत्से) उत्पन्न होते हैं तथा इन (तीनों) से विश्व-सत्ताका उच्चतर अर्धांश, 'परार्ध', गठित होता है। विशुद्ध भाव (विज्ञान) इन दोनोंको जोड़नेवाली बीचकी कड़ी है। सत्ताके ये सात मूल तत्त्व या संज्ञाएं पुराणोंके सात लोकों (सत्यलोक, तपस्, जनः, महः, स्वः, भुवः तथा भूः) के आधार हैं।

चेतनाकी इस क्रम-व्यवस्थामें निम्नतर गोलार्द्ध (अपरार्ध) वेदकी तीन व्याहृतियों, "भूः, भुवः, स्वः" से मिलकर बना है; वे चेतनाकी ऐसी अवस्थाएं हैं जिनमें उच्चतर जगत् (परार्ध) के तत्त्व भिन्न प्रकारकी परिस्थितियोंमें अभिव्यक्त हुए हैं या अपनेको अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न करते हैं। अपने निजी धामोंमें विशुद्ध रूपमें स्थित होनेपर भी वे (उच्चतर जगत्के तत्त्व) इस (अपरार्ध-रूप) विदेशमें आकर विकृत, अशुद्ध और विक्षोभकारक मिश्रणों और क्रियाओंके अधीन हो जाते हैं। जीवनका अंतिम उद्देश्य है इस विकृति, अपवित्रता और विक्षोभसे मुक्त होना और उच्चतर लोकके इन तत्त्वोंको इन दूसरी तरहकी परिस्थितियोंमें पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त करना। इस पृथ्वीपर हमारा जीवन एक दिव्य कविता है जिसका अनुवाद हम पार्थिव भाषामें कर रहे हैं अथवा वह दिव्य संगीतकी एक तान है जिसे हम शब्दोंमें रूपांतरित कर रहे हैं।

सत्‌में स्थित पुरुष 'बहु'में भी 'एक' है, वह 'एक' है जो अपने बहुत्वको उसमें खोये या भ्रांत हुए बिना देखता है और वह 'बहुत्व' है जो विश्वमें बहुविध क्रीड़ा करनेकी शक्तिको खोये बिना अपनेको 'एक'के रूपमें जानता है। मन, प्राण और शरीरकी परिस्थितियोंमें अहंकार उत्पन्न होता है, चेतनाका आंतरिक या बाह्य रूप भूलवश स्वयंभू सत्ता मान लिया जाता है, शरीर एक स्वतंत्र सद्वस्तु और अहंकार एक स्वतंत्र व्यक्तित्व मान लिया जाता है; 'एक' हमारे भीतर अपने अनेकत्वकी क्रीड़ामें खो जाता है और अपना एकत्व पुनः प्राप्त करता है, किंतु फिर मनके स्वभावके कारण अपने अनेकत्वकी क्रीड़ाको बनाये रखना उसे कठिन जान पड़ता है। अतएव जब हम जगत्‌में तल्लीन होते हैं तब भगवान्‌को उनके आत्मस्वरूपमें नहीं देख पाते, जब हम भगवान्‌को देखते हैं तब जगत्‌में उन्हें खो देते हैं। हमारा काम है मानसिक अहंकारको तोड़ डालना और उसे निर्मूल कर देना तथा विश्वमें विशिष्ट व्यक्ति और बहुत्वके रूपमें बने रहनेकी अपनी शक्तिको खोये बिना अपने दिव्य एकत्वको पुनः प्राप्त करना।

'चित्'में निहित चेतना प्रकाशमय, स्वतंत्र, निःसीम और कार्यक्षम होती है; वह चेतना जिस तत्त्वको 'चित्' (ज्ञानशक्ति) के रूपमें जानती है, उसे अमोघ रूपसे 'तपस्' (क्रियाशक्ति) के रूपमें चरितार्थ करती है; क्योंकि एक ही स्वयंप्रकाश सचेतन पुरुषका मात्र स्थिर और व्यापक रूप तो है ज्ञान-शक्ति तथा मात्र गत्यात्मक और तीव्र रूप है क्रिया-शक्ति। वे दोनों भगवान्‌की सचेतन शक्ति (सत् पुरुषकी चित्-शक्ति) की अभिन्न शक्तियां हैं, एक ही शक्ति हैं। किंतु निम्नतर गोलार्ध (अपरार्ध) में मन, प्राण और शरीरकी परिस्थितियोंके अंदर ज्योति विषम किरणोंमें विभक्त और छिन्न-भिन्न हो जाती है, स्वतंत्रता अहंभाव और असम आकृतियोंसे अवरुद्ध हो जाती है, कार्यक्षमता शक्तियोंकी विषम क्रीड़ासे ढक जाती है। इसीलिये हम चेतना, निश्चेतना और असत्य चेतनाकी, ज्ञान, अज्ञान और मिथ्या ज्ञानकी, कार्यक्षम शक्ति, निष्क्रियता और निष्प्रभाव शक्तिकी अवस्थाओंको यहां देखते हैं। हमारा कार्य है अपनी विभक्त और विषम वैयक्तिक कर्म-शक्ति और विचार-शक्तिको कालीकी एक, अविभक्त, विश्वात्मक चित्-शक्तिमें न्यस्त करके अपनी अहंभावात्मक क्रियाओंके स्थानपर अपने शरीरमें विश्वात्मक कालीकी क्रीड़ाको प्रतिष्ठित करना और इस प्रकार अंधता और अज्ञानके बदले ज्ञान तथा निष्फल मानव-शक्तिके बदले दिव्य कार्यक्षम शक्ति प्राप्त करना।

'आनंद'में निहित उल्लास विशुद्ध, अमिश्रित, एकमेव पर साथ ही बहुत्व है। मन, प्राण और शरीर (बहुत्वमय) की परिस्थितियोंके अंदर वह विभक्त, सीमित, अस्तव्यस्त और मार्ग-भ्रष्ट हो जाता है तथा असम शक्तियोंके आघातों और आनंदके असमान विभाजनके कारण भावात्मक और अभावात्मक गतियोंके द्वंद्व, शोक और हर्ष, दुःख और सुखके अधीन हो जाता है। हमारा कार्य है इन द्वंद्वोंके कारणको नष्ट कर उन्हें समाप्त कर देना और स्वयं उस दिव्य आनंदके समुद्रमें डुबकी लगाना, जो एक रूप, अनेक रूप, सर्वत्र समान रूपसे विभाजित ('सम') है और जो सब वस्तुओंसे आनंद ग्रहण करता है तथा क्लेशपूर्वक किसी भी वस्तुसे पीछे नहीं हटता।

संक्षेपमें, हमें द्वंद्वोंके स्थानमें एकत्वको, अहंभावके स्थानमें दिव्य चेतनाको, अज्ञानके स्थानमें दिव्य प्रज्ञाको, विचारके स्थानमें दिव्य ज्ञानको, दुर्बलता, संघर्ष और प्रयत्नके स्थानमें आत्मतुष्ट

दिव्य शक्तिको, दु:ख-कष्ट और झूठे सुखके स्थानमें दिव्य आनंदको प्रतिष्ठित करना है। यही ईसाकी भाषामें स्वर्गके राज्यको पृथ्वीपर उतार लाना है या आधुनिक भाषामें जगत्में भगवान्‌का साक्षात्कार प्राप्त करना है और उन्हें जीवनंमें अभिव्यक्त करना है।

मानवजाति ही इस पृथ्वीपर जीवनका वह रूप है जो इस मानव अभीप्सा और दिव्य संसिद्धिके लिये चुना गया है; जीवनके अन्य सब रूपोंको या तो इस (अभीप्सा और संसिद्धि) की आवश्यकता नहीं है या साधारणतया वे इसके लिये अयोग्य हैं, जबतक कि वे मनुष्यजातिमें परिवर्त्तित न हो जायं। अतएव दिव्य परिपूर्णता ही मानवजातिका एकमात्र वास्तविक उद्देश्य है। इस उद्देश्यको व्यक्तिके अंदर चरितार्थ करना होगा ताकि वह जातिमें भी चरितार्थ हो सके।

मनुष्य एक सजीव शरीरमें स्थित मनोमय सत्ता है; इसका आधार जड़तत्त्व है, इसका केंद्र और उपकरण मन है और इस (की क्रियाओं) का माध्यम है प्राण। यही औसत या स्वाभाविक मनुष्यकी अवस्था है।

प्रत्येक मानव-प्राणीमें चारों उच्चतर तत्त्व (विज्ञान या महस्, आनंद, चित् और सत्) गुप्त ('अव्यक्त') रूपसे विद्यमान हैं। 'विज्ञान'में निहित विशुद्ध भाव-शक्ति, 'महस्', कोई व्याहृति नहीं बल्कि व्याहृतियोंका मूल स्रोत है, वह बैंक है जिसमेंसे मानसिक, प्राणिक और शारीरिक क्रियाएं धन निकालकर उस विशाल और अनंत धनराशिको निम्नतर सत्ताके छोटे-छोटे सिक्कोंमें बदल देती हैं। 'विज्ञान' दिव्य स्थिति और मानव-पशुके बीचकी कड़ी होनेसे मनुष्यके लिये अतिप्राकृत या दिव्य मानवतामें प्रवेश करनेका द्वार है।

निम्नतर मानवजाति मनसे नीचे प्राण तथा शरीरकी ओर झुकती है; औसत मनुष्य प्राण और शरीरसे सीमित और उन्हींकी ओर दृष्टि रखनेवाले मनमें स्थायी रूपमे निवास करता है; श्रेष्ठतर मानवजाति या तो आदर्शात्मक मानसिकताकी ओर या विशुद्ध विचार, ज्ञानके अपरोक्ष सत्य और सत्ताके सहज-स्वाभाविक सत्यकी ओर ऊपर उठती है; सर्वोच्च मानवजाति दिव्य परमानंदकी ओर आरोहण करती है और उस भूमिकासे या तो ऊपर विशुद्ध सत् और परब्रह्मकी ओर जाती है अथवा अपनी सत्ताके निम्नतर अंगोंको दिव्यानंदसे भरपूर कर देने और अपने तथा दूसरोंमें इस मानव-सत्ताको दिव्यत्वमें उन्नीत करनेके लिये (वहीं) निवास करती है।

जो मनुष्य परदेको चीरकर अपनी चेतनाके उच्चतर या दिव्य और अभीतक छिपे हुए गोलार्धमें निवास करता है वही सच्चा अतिमानव (Superman) है और जगत्में भगवान्‌की जड़पदार्थमेंसे आत्माकी प्रगतिशील आत्माभिव्यक्तिका अंतिम परिणाम है, जिस (आत्माभिव्यक्ति) को आजकल क्रमविकासका सिद्धांत कहा जाता है।

दिव्य सत्ता, शक्ति, ज्योति, और आनंदमें आरोहण करना और फिरसे सारी पार्थिव सत्ताको उस सांचेमें ढालना धर्मकी सर्वोच्च अभीप्सा और योगका संपूर्ण व्यावहारिक उद्देश्य है। उद्देश्य है विश्वमें भगवान्‌का साक्षात्कार करना, किंतु विश्वातीत भगवान्‌का साक्षात्कार किये विना यह उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। (क्रमशः)

—श्रीअरविंद

श्रीअरविंद

पत्रावली

बंगला :

कतदूर एसेछि, आर कतदूर, एइ सब प्रश्नेर विशेष कोनओ लाभ नाइ। माके काण्डारी करे स्रोते एगियो चलो, तिनि तोमाके गन्तव्यस्थाने पौंछिये दिवेन।

*

मा-इ गन्तव्यस्थान, तांर मध्ये सबइ आछे —तांके पेले सब पाओया जाय, तांर चेतनार मध्ये वास करले आर सब आपनिइ फूटे जाय।

*

मायेर भाव त बदलाय ना—एकइ थाके। तवे साधकेर निजेर मनेर भावेर मत देखे जे बदले गेछे—किंतु ता सत्य नय।

*

ध्वंस हले परिवर्तन किसे हवे? प्राणेर शरीरेर पुरातन प्रकृतिके ध्वंस करते हवे, प्राणके शरीरके नय।

*

ए कथा सत्य जे सकलेर मध्ये मा आछेन ओ तांर संगे एकटा सम्वन्ध थाका चाइ, तवे से सम्वन्ध personal नय से लोकेर संगे किन्तु मारइ संगे, एकटा विशाल ऐक्येर सम्वन्ध।

*

हिन्दी :

कितनी दूर आया हूं, और कितनी दूर (जाना है)—इन सब प्रश्नोंसे विशेष कोई लाभ नहीं। मांको माझी बनाकर स्रोतमें आगे बढ़ते चलो, वह तुमको गंतव्य स्थानपर पहुंचा देंगी।

*

मां ही गन्तव्य स्थान हैं, उन्हींमें सब कुछ है—उनको पा लेनेपर सब कुछ मिल जाता है, उनकी चेतनामें निवास करनेपर और सब अपने-आप खिल उठता है।

*

मांका भाव तो नहीं बदलता—एक ही रहता है। पर साधक अपने मनके भावके अनुसार देखता है कि (वह) बदल गया है—किंतु यह सत्य नहीं है।

*

ध्वंस होनेपर परिवर्तन किसका होगा? प्राणकी, शरीरकी पुरानी प्रकृतिका ध्वंस करना होगा, प्राणका, शरीरका नहीं।

*

यह बात सत्य है कि सबके अंदर मां हैं और उनके साथ एक संवंध रहना चाहिये, पर वह संवंध personal (व्यक्तिगत) नहीं है उन सब लोगोंके साथ, बल्कि मांके ही साथ है, एक विशाल ऐक्यका संबंध है।

*

एकदिके शान्ति ओ सत्य चेतनार वृद्धि, आर दिके समर्पण, इहाइ हच्छे सत्य पथ।

*

प्राणके ध्वंस करार इच्छा भूल इच्छा—प्राणके ध्वंस करले शरीर बांचबे ना, शरीर ना बांचले साधना करा जाय ना।

तुमि बोध हय बड़ बेशी शक्ति टेनेछो—से जन्य शरीर ठीक धारण करते पाच्छे ना। एकटु शान्त हये थाकले सब ठीक हये जाबे।

*

मा भगवान् छाड़ा तुमि नओ—मा त तोमार संगेइ आछेन—साधक पाताले नामे सेखाने उपरेर आलो ओ चेतना आनबार जन्य—एइ विश्वास रेखे धीरचित्ते चलो, से आलो से चेतना नामबेइ।

*

मा त आछेन तोमार भीतरे। जे पर्दा पड़ेछे physical प्रकृतिर, तारइ उपर शक्तिर काज करा हच्छे, से मायेर आलोके शेषे transparent हये जाबे।

*

मायेर जय हबेइ एइ विश्वास सब समय रेखे शान्त, धीर, भयशून्य हये साधना करते हय।

एक ओर शान्ति और सत्य चेतनाकी वृद्धि, दूसरी ओर समर्पण—यही है सत्य पथ।

*

प्राणको नष्ट करनेकी इच्छा गलत इच्छा है—प्राणको नष्ट करनेपर शरीर नहीं बंचेगा, शरीर न बंचनेपर साधना नहीं की जा सकती।

मालूम होता है तुमने बहुत अधिक शक्तिको खींच लिया है—उसी कारण शरीर ठीक धारण नहीं कर पाता। थोड़ा शांत बने रहनेपर सब ठीक हो जायगा।

*

मांसे, भगवान्से अलग तुम नहीं हो—मां तो तुम्हारे साथ ही हैं—साधक नीचे पातालमें उतरता है ऊपरकी ज्योति और चेतनाको वहां ले आनेके लिये—इसी विश्वासको बनाये रखकर धीर चित्तके साथ चलो, वह ज्योति और वह चेतना उतरेगी ही।

*

मां तो तुम्हारे भीतर हैं। जो पर्दा physical (भौतिक) प्रकृतिका पड़ा है, उसीके ऊपर शक्तिका कार्य हो रहा है, वह मांकी ज्योतिसे अंतमें tranparent (उज्ज्वल–पारदर्शक) हो जायगा।

*

मांकी जय होगी ही—बस, यही विश्वास सब समय बनाये रखकर, शांत, धीर, भयशून्य होकर, साधना करनी चाहिये।

(क्रमशः)

चिंतनधारा और सूत्रावली

कुछ वचनोंका स्पष्टीकरण

(७३)

"जब प्रज्ञा आती है तब वह सबसे पहला पाठ यह पढ़ाती है कि 'ज्ञान' नामकी कोई चीज नहीं है; हैं केवल अनंत परमदेवकी विभिन्न झलकें।"

वात बिलकुल ठीक है।

इसमें कोई प्रश्न उठानेकी आवश्यकता नहीं है।

***

(७४)

"व्यावहारिक ज्ञान एक अलग वस्तु है; वह सच्चा और उपयोगी होता है, पर वह कभी पूर्ण नहीं होता। इसीलिये उसे व्यवस्थित और विधिबद्ध करना आवश्यक पर हानिकारक है।"

(७५)

"व्यवस्थित तो हमें करना ही होगा, परंतु व्यवस्था बनाते और मानते समय भी हमें सर्वदा इस सत्यको दृढ़तापूर्वक पकड़े रखना होगा कि सभी व्यवस्थाएं अपने स्वभावमें क्षणस्थायी और अपूर्ण होती हैं।"

इस वातको मैंने वहुधा, बार-वार देखा है। एक समय तो ऐसा भी था जब मैं यह समझा करती थी कि भौतिक प्रकृतिकी क्रियाओंको जिस रूपमें हम अज्ञानके इस जगत्में देखते हैं उनका पूर्ण, सर्वांगीण तथा सर्वश्रेष्ठ ज्ञान यदि कोई प्राप्त कर सकता तो शायद वही वस्तुओंके सत्यको फिरसे प्राप्त कर लेनेका अथवा नये रूपमें उसतक पहुंच जानेका साधन बन जाता। परंतु अपने पिछले अनुभवके[1] वादसे अब मैं वैसा नहीं सोच सकती।

---

[1]यहां उस विशेष यौगिक अनुभवकी ओर संकेत किया गया है जो १३ अप्रैल १९६२ को हुआ था।

मैं नहीं जानती कि मेरी बात समझी जाने योग्य है या नहीं . . . . . एक ऐसा समय था, बहुत लंबे काल तक था—जब मैं यह समझा करती थी कि यदि विज्ञान एकदम सीधे रास्तेसे (यदि ऐसा बिलकुल संभव हो) अपनी संभावनाओंके अंततक चला जाय तो वह सच्चे ज्ञानके साथ जा मिलेगा। इस तरह, उदाहरणार्थ, जड़तत्त्वकी बनावटकी खोजमें, अपनी खोजकी महज सीधी गतिके कारण ही एक ऐसा क्षण आयेगा जब दोनों एक साथ मिल जायंगे। परंतु जिस समय मुझे शाश्वत सत्यकी चेतनासे व्यक्तिभावापन्न जगत्की चेतनामें जानेका अनुभव हुआ तब मुझे वह बात असंभव प्रतीत हुई। और यदि तुम अब मुझसे पूछो तो, मेरी रायमें दोनों ही चीजें, विज्ञानको अंततक धकेलकर ज्ञानके साथ जोड़ देनेकी संभावना और फिर भौतिक जगत्के साथ किसी सच्चे सचेतन संयोगकी असंभवनीयता एक समान अयथार्थ हैं। कोई एक अन्य चीज भी है।

अब इन दिनों, अधिकाधिक, मैं अपनेको समूची समस्याके आमने-सामने खड़ी पाती हूं मानों मैंने इसे पहले कभी इस रूपमें न देखा हो।

संभवतः ये दो मार्ग हैं जो एक तीसरे बिंदुपर ले जाते हैं और इस समय यह तीसरा बिंदु ही वह चीज है जिसको मैं—सुनिश्चित रूपमें उसके लिये प्रयास तो नहीं कर रही हूं पर—खोज रही हूं, जहांपर ये दोनों एक तीसरी चीजमें मिल जायंगे जो 'सच्ची वस्तु' होगी।

पर, निस्संदेह, वस्तुविषयक, वैज्ञानिक ज्ञान यदि उसके अंततक ले जाया जाय, यदि उसके लिये एकदम पूर्ण और समग्र बन जाना संभव हो, तो वह, किसी-न-किसी रूपमें, देहलीतक ले जाता है। यही बात श्रीअरविंद भी कहते हैं। केवल वह यह कहते हैं कि यह नाशकारी है, क्योंकि जो सब लोग इस ज्ञानकी खोजमें संलग्न हैं वे यह विश्वास करते हैं कि यही पूर्ण सत्य है और इस तरह दूसरे पथकी ओरसे अपनेको पृथक् कर लेते हैं। इस तरह यह नाशकारी है।

परंतु अपने व्यक्तिगत अनुभवके आधारपर मैं कह सकती हूं कि जो लोग नितांत आध्यात्मिक पथपर विश्वास करते हैं, उन सब लोगोंके लिये भी आंतरिक अनुभवके द्वारा लक्ष्यतक जानेका प्रयास करना, यदि यह प्रयास अन्य सभी मार्गोंका वर्जन करनेवाला हो तो, घातक ही है। क्योंकि यह उनके सामने संपूर्ण सत्यके एक ही पक्षको, एक ही अंशको प्रकट करता है, संपूर्णको नहीं। मेरी दृष्टिमें दूसरा पक्ष भी अत्यावश्यक प्रतीत होता है और यह इस दृष्टिसे कि जब मैं सर्वोच्च अनुभूतिमें पूर्णतः डूबी हुई थी तो एकदम निर्विवाद रूपसे मुझे यह प्रतीत हो रहा था कि दूसरी अनुभूति—बाहरी, भ्रमात्मक अनुभूति—किसी ऐसी चीजकी महज एक विकृति (शायद संयोगवश विकृति) है जो उतनी ही सत्य है जितनी कि पहली।

बस, हम इसी 'किसी चीज' की खोज कर रहे हैं। संभवतः हम केवल उसकी खोज ही नहीं कर रहे हैं बल्कि उसका निर्माण कर रहे हैं।

हम लोगोंसे काम लिया जा रहा है जिसमें कि हम उसकी अभिव्यक्तिमें हिस्सा बंटा सकें—यह अभिव्यक्ति उस चीजकी होगी जिसकी कल्पना करना प्रत्येक मनुष्यके लिये असंभव है, क्योंकि अभी यह अभिव्यक्ति हुई नहीं है, यह ऐसी अभिव्यक्ति है जो अभी आनेवाली है।

बस, इतना ही मैं कह सकती हूं।

(मौन)

वास्तवमें चेतनाकी इसी स्थितिमें आजकल मैं रहती हूं। मानों मेरे सामने यह शाश्वत समस्या आ उपस्थित हुई है, पर एक भिन्न अवस्थामें।

तो, ये दो दृष्टियां हैं—आध्यात्मिक दृष्टि और 'जड़-भौतिक' दृष्टि, यदि हम इसे यह नाम दे सकें, और एक-दूसरेसे एकदम पृथक् मानी जाती हैं (पृथक् और एकाकी, इस तरह कि सत्यकी दृष्टिसे एक दूसरीके मूल्यको अस्वीकार करती है)। पर मेरी दृष्टिसे ये दोनों ही अपर्याप्त हैं, केवल इस कारण नहीं कि ये एक-दूसरीको स्वीकार कर अपने अंदर नहीं मिला लेतीं, बल्कि इस कारण कि दोनों एक-दूसरीको स्वीकार कर लेने और एक साथ मिल जानेपर भी ये दोनों समस्याका समाधान करनेके लिये अपर्याप्त हैं। इनके अतिरिक्त भी एक चीज है—एक तीसरी चीज है जो इन दोनोंका परिणाम नहीं है, बल्कि एक ऐसी चीज है जिसका आविष्कार करना आवश्यक है और जो संभवतः संपूर्ण ज्ञानका द्वार उन्मुक्त कर देगी।

मैं बस इसी बिंदुपर अवस्थित हूं।

इससे अधिक मैं नहीं कह सकती, क्योंकि मैं ठीक यहींपर हूं।

व्यावहारिक रूपमें इसमें कैसे भाग लिया जा सकता है......?

इस खोजमें ?

उसमें....हां, मूलमें सर्वदा एक ही बात है। सर्वदा एक ही बात करनेकी है। अपने सच्चे स्वरूपको प्राप्त करना, अपनी निजी सत्ताके चरम सत्यके साथ सचेतन संबंध स्थापित करना, चाहे जिस किसी रूपमें, चाहे जिस किसी पथसे क्यों न हो—उसका कोई महत्त्व नहीं—पर यही है एकमात्र तरीका। हम लोग अपने अंदर एक सत्यको वहन करते हैं, हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति ही उसे वहन करता है, और बस, इसी सत्यके साथ उसे युक्त हो जाना होगा, इस सत्यको अपने जीवनमें उसे सार्थक करना होगा। इसी तरह, उस सत्यके साथ युक्त होने और उसे उपलब्ध करनेके लिये जिस पथका हम अनुसरण करेंगे वह पथ ही हमें जितना संभव होगा उतना परम ज्ञानके निकट पहुंचा देगा। कहनेका तात्पर्य कि व्यक्तिगत अनुभूति और परम ज्ञान दोनों ही पूर्ण रूपसे एक साथ युक्त हो जायंगे।

कौन जाने, संभवतः नानाविध मार्गोंसे पहुंचनेकी यह बात ही रहस्यका पता दे देगी—वह रहस्य बता देगी जो द्वार उन्मुक्त कर देगी।

मैं नहीं समझती कि केवल एक ही व्यक्ति (इस पृथ्वीपर जैसी कि अभी यह है), केवल एक ही व्यक्ति, चाहे वह जितना ही महान् क्यों न हो, चाहे उसकी चेतना और उसका मूल जितना ही शाश्वत क्यों न हो, एकमात्र अपने बलपर परिवर्त्तित कर सकता और उपलब्ध कर सकता है—जगत्को, इस सृष्टिको, जैसी कि यह है, परिवर्त्तित कर सकता है और इस उच्चतर सत्यको उपलब्ध कर सकता है जो कि एक नवीन जगत् होगा—चरम सत्य न सही, अधिक सत्य एक जगत् होगा। ऐसा लगता है कि व्यक्तियोंकी एक विशिष्ट संख्या (अभीतक तो यह अपेक्षाकृत कालके अंदर, कालके क्रमप्रवाहके अंदर प्रतीत होती है, पर यह देशमें, समष्टिमें भी होगी) अत्यावश्यक है जिसमें कि यह सत्य ठोस रूप ले सके और अपने-आपको चरितार्थ कर सके।

वास्तवमें मैं इस विषयमें निस्संदिग्ध हूं।

मैं यह कहना चाहती हूं कि कोई अवतार चाहे जितना महान्, जितना सज्ञान, जितना शक्तिशाली क्यों न हो, वह स्वयं अकेले ही पृथ्वीपर अतिमानसिक जीवनको संसिद्ध नहीं कर सकता। इस संसिद्धिके लिये या तो एक ऐसे दलकी अत्यंत आवश्यकता है जो कालके अंदर हो, कालमें एक कतारमें व्यवस्थित हो अथवा एक ऐसे दलकी आवश्यकता हैं जो एक देशके अंदर फैला हुआ हो—अथवा शायद दोनोंकी ही आवश्यकता है। मुझे इस बातपर पूरा विश्वास है।

व्यक्ति एक वेग दे सकता है, रास्ता दिखा सकता है—वह स्वयं पथपर चल सकता है, अर्थात्, स्वयं अनुभूति प्राप्त करके रास्ता दिखा सकता है—पर इसे चरितार्थ नहीं कर सकता। चरितार्थता या संसिद्धि किन्हीं सामूहिक नियमोंका पालन करती है जो शाश्वत और अनंत सत्ताके कुछ भावोंकी अभिव्यक्ति होते हैं—स्वभावतः ही! वह समूची वही सत्ता होती है। सच पूछा जाय तो न तो विभिन्न व्यक्ति होते हैं न विभिन्न व्यक्तित्व, बस, एकमात्र वही सत्ता होती है। और बस, एकमात्र वही सत्ता होती है जो एक ऐसे तरीकेसे अभिव्यक्त होती है जो हमारे लिये एक समूह, एक दल, एक समष्टिका रूप ले लेता है।

बस। इस विषयपर क्या तुम्हारा कोई दूसरा प्रश्न भी है?

१३ अप्रैलके अनुभवके बाद आपकी दृष्टि किस रूपमें पहलेसे भिन्न हो गयी है?

मैं फिरसे बताती हूं।

बहुत दिनोंतक मुझे ऐसा लगता था कि यदि कोई वैज्ञानिक पद्धतिको उसकी चरम सीमातक ले जाय और आध्यात्मिक पद्धतिको भी उसकी चरम सीमातक ले जाय और फिर दोनोंका पूर्ण एकत्व साधित करे—दोनों पद्धतियोंकी चरम अनुभूतियोंको जोड़ दे तो वह स्वभावतः ही उस सत्यको, जिसे वह खोजता है, जो पूर्ण सत्य है, पा लेगा, आयत्त कर लेगा। परंतु मुझे जब वे दो अनुभूतियां प्राप्त हुईं—(१) बाह्य जीवनका अनुभव (जिसमें विश्वभावापन्न होना, नैर्व्यक्तित्वको प्राप्त करना तथा स्थूल शरीरमें प्राप्त होने योग्य सभी यौगिक अनुभूतियां शामिल थीं); और (२) मूल सत्ताके साथ सर्वशः और संपूर्णतः प्राप्त एकत्वका अनुभव—और, उसके बाद, कुछ और घटित हुआ—जिसका वर्णन अभी मैं नहीं कर सकती—तब मैं अब जानती हूं कि दोनोंका ज्ञान और दोनोंका एकत्व पर्याप्त नहीं है; एक तीसरी चीज है जिसमें ये दोनों परिसमाप्त हो जाते हैं और यह तीसरी चीज ही है जो तैयार हो रही है, अपने-आपको तैयार करनेकी अवस्थामें है। बस, यही तीसरी चीज सिद्धितक, उस सत्यतक ले जा सकेगी जिसकी हम खोज कर रहे हैं।

इस बार क्या स्पष्ट समझमें आ गया?

मेरी दृष्टिके सामने एक दूसरी ही चीज थी......। उस (१३ अप्रैल के इस

अनुभव) के बाद भौतिक जगत्‌के संबंधमें आपकी दृष्टि किस प्रकार और किस रूपमें बदल गयी है ?

उसकी चेतनाका थोड़ासा आभास ही दिया जा सकता है।

(मौन)

योगके द्वारा भौतिक जगत्‌के साथ एक प्रकारका संपर्क मुझे प्राप्त हुआ था जो चौथे दिङ्मान[1] (dimension) की भावनापर आधारित था और मैं चेतनाके इस भाव और इस अवस्थाका व्यवहार करती थी। मैंने आंतर दिङ्मानोंकी भावनाके साथ तथा इन आंतर दिङ्मानोंकी चेतनाको पूर्ण बनाते हुए स्थूल जगत् और आध्यात्मिक जगत्‌के बीचके संबंधका अध्ययन किया था—अंतिम अनुभवसे पूर्व मेरा यही अनुभव था।

स्वभावतः ही, बहुत दीर्घ कालतक, तीन दिङ्मानोंका कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था—उसका संबंध तो पूर्णतः माया और मिथ्यात्वके जगत्‌के साथ था। परंतु अब चतुर्थ दिङ्मानकी भावनाका व्यवहार और इससे उद्‌भूत सब चीजें भी मुझे कृत्रिम प्रतीत होती हैं! यह भाव इतना प्रबल है कि अब वह कहीं दिखायी नहीं देता। तीन दिङ्मानोंका जगत् तो मेरे लिये एकदम असत्य है और वह दूसरा, कैसे कहें मालूम नहीं, कृत्रिम-सा प्रतीत होता है। यह मानों एक कृत्रिम रूपांतर है जिसमें तुम्हें एक प्रकारकी दृष्टि प्राप्त हो सकती है।

और जहांतक यह बतलानेका प्रश्न है कि यह क्या है, वह दूसरा क्या है, यथार्थ स्थिति क्या है? . . . . . वह समस्त बौद्धिक स्थितियोंसे इतना बाहर है कि मैं उसे आकार देनेमें असमर्थ हूं।

परंतु मैं जानती हूं कि उसका संकेत प्राप्त होगा। परंतु वह सजीव अनुभूतियोंकी एक श्रृंखलाके साथ आयेगा जो मुझे अभी नहीं हुई हैं।

(मौन)

इसका मतलब है कि जो कुछ बड़ा उपयोगी था, मेरे लिये बहुत सुविधाजनक था, जो योग करनेमें मेरे लिये एक सहायक था, जिसने जड़तत्त्वपर अधिकार जमानेकी क्षमता मुझे दी थी, वह मुझे एक पद्धति, एक तरीका, एक प्रक्रिया प्रतीत हुआ था, पर अब वह वैसा नहीं है।

बस, यही है अवस्था जिसमें अभी मैं हूं।

इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकती।

२४ मई १९६२

***

[1]मेरा मतलब आंतरिक दिङ्मानसे है जो योगमें असंख्य होता है।

धम्मपदं

(३)

यमकवग्गो

असारे सारमतिनो सारे चासारदस्सिनो ।
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिच्छासङ्कप्पगोचरा ॥११॥

जो असारको सार समझते हैं और सारको असारके रूपमें देखते हैं, वे कभी सार (सत्य)को नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि वे मिथ्या संकल्पोंपर अपनी दृष्टि रखते हैं (अर्थात् झूठी कामनाओं और झूठी समझका अनुसरण करते हैं)।

यहां एक टिप्पणी जोड़ी जा सकती है। क्योंकि, यदि कोई असत्यको सत्य और सत्यको असत्य माननेमें ही संतुष्ट हो तो उसके लिये न्यायतः ही चुनाव करना बड़ा आसान हो जायगा : किसी कारणवश या कहींसे आनेवाली किसी सहायतासे जब उसे मालूम हो जायगा कि वास्तवमें क्या तो सत्य है और क्या असत्य तो वह सत्यको ले लेगा और असत्यको छोड़ देगा। परंतु दुर्भाग्यवश मनुष्य अपनी भूलोंको प्यार करता है, मनुष्यकी सत्तामें कहींपर जो कुछ सत्य है उसे स्वीकार करनेकी अनिच्छा विद्यमान होती है।

मेरा अनुभव इसी प्रकारका है : जब कभी तुम सच्चाईके साथ सत्यको जान लेनेकी इच्छा करते हो तब तुम उसे जान ही जाते हो। सदा ही एक चीज विद्यमान रहती है जो तुम्हें भूलको दिखा देती है और सत्यको स्वीकार करनेमें तुम्हारी सहायता करती है। और यदि तुम ध्यान लगाकर देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि तुम चूंकि भूलको ही पसंद करते हो इसीलिये सत्यको नहीं पा रहे हो।

छोटे-छोटे ब्योरेकी बातोंमें, अत्यंत छोटी-छोटी चीजोंमें भी (जीवनकी बड़ी-बड़ी बातोंकी, जो बड़े-बड़े निर्णय तुम्हें करने हैं उनकी तो बात ही क्या), सबसे छोटी बातोंमें भी, जब सत्यको जाननेकी अभीप्सा और सच्चा बननेकी इच्छा पूरी तरहसे सच्ची होती है तो, सूचनाएं बराबर ही आती हैं। और बौद्धसाधनापद्धतिका ठीक-ठीक अनुसरण कर यदि तुम अपने अंदर अपनी सत्ताकी प्रवृत्तिका कारण खोजो तो तुम सर्वदा ही यह पाओगे कि भूलपर ही आग्रह करनेका कारण है तुम्हारी कामना। चूंकि तुम्हारे अंदर पक्षपात है, एक विशेष ढंगसे अनुभव करनेकी इच्छा है इसीलिये तुम भूल करते हो। इसका (भूल करनेका) कारण महज यह नहीं है कि तुम जानते ही नहीं कि सत्य क्या है। तुम इसे ठीक-ठीक इसलिये नहीं जानते कि तुम कहते हो, "ओह, मैं चाहता हूं सत्य", पर कहते हो एकदम अस्पष्ट, सामान्य, अनिश्चित रूपमें ही। वास्तवमें, तुम यदि ब्योरेवार देखो, प्रत्येक छोटे-छोटे ब्योरेको देखो और उसपर अपनी अंगुलि रखो तो तुम्हें पता लगेगा कि तुम ठीक कबूतरकी तरह आंख बंद कर लेते हो

जिसमें कि तुम देख न सको। तुम पीछेकी ओर न देखनेके लिये कुछ अनिश्चित, अस्पष्ट वस्तु, कोई पर्दा डाल देते हो।

जब कभी तुम्हारे अंदर सच्चाई होती है तब तुम देखते हो कि सहायता, पथप्रदर्शन, कृपा-शक्ति सर्वदा ही वहां तुम्हें उत्तर देनेके लिये मौजूद है और तुम फिर दीर्घकालतक भूल नहीं करते।

प्रगति करनेकी अभीप्सामें, सत्य पानेके संकल्पमें, वास्तवमें शुद्ध—आध्यात्मिक जीवनमें जिसे शुद्ध समझा जाता है—बननेकी आवश्यकता महसूस करनेमें जो सच्चाई है यही सच्चाई सब प्रकारकी उन्नति करनेकी चाभी है। इसके होनेपर तुम जान जाते हो, तुम जान सकते हो।

हमारी सत्तामें सदा ही एक अंग, एक कोई चीज ऐसी होती है जो अपने-आपको धोखा देना पसंद करती है, अन्यथा ज्योति सर्वदा विद्यमान है, सर्वदा पथ दिखानेके लिये प्रस्तुत है, पर तुम अपनी आंखें बंद कर लेते हो जिसमें कि देख न सको।

*

सारञ्च सारतो ञत्वा असारञ्च असारतो ।
ते सारं अधिगच्छन्ति सम्मासङ्कप्पगोचरा ॥१२॥

जो सारको सार जानते हैं और असारको असार, वे सार (सत्य) को प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे सच्ची कामनाओं और सच्ची समझका अनुसरण करते हैं।

इससे पूर्व हम देख चुके हैं कि सत्य और असत्यकी पहचान करनेमें समर्थ होना ही पर्याप्त नहीं है। ऊपरसे देखनेमें यह बात अत्यंत कठिन प्रतीत होती है। स्पष्ट ही, यदि प्रत्येक व्यक्तिको स्वयं अपने प्रयाससे यह पता लगाना हो तो यह एक बड़ा लंबा कार्य होगा; तुम्हें ऐसी अनुभूतियोंमेंसे गुजरनेमें अपना सारा जीवन ही बिता देना होगा जो तुम्हें ऐसा प्रकाश दें कि तुम यह समझ सको कि क्या सत्य है और क्या नहीं है।

इसलिये यह अधिक आसान है कि तुम किसी ऐसे आदमीके पास जाओ जो तुमसे पहले यह काम कर चुका है और जिससे तुम्हें बस इतना ही पूछना है कि "क्या यह सत्य है? क्या यह असत्य है?" इसमें स्पष्ट ही एक बहुत बड़ा लाभ है, पर यह सर्वदा पर्याप्त नहीं होता; क्योंकि यदि तुम चाहो कि एक विशेष तरीकेसे ही चीजें होनी चाहियें और जो तुम पसंद करते हो वही ठीक (सत्य) होना चाहिये तो तुम अच्छी राय सुननेके लिये बराबर तैयार नहीं होगे।

अंतिम वाक्य, "और वे सच्ची कामनाओंका अनुसरण करते हैं," प्रतीत तो होता है बड़ा ही साधारण परंतु इस समस्याका शायद यही सबसे कठिन भाग है।

इस पुस्तकमें, इस शिक्षामें छोटे-छोटे वाक्य कहे गये हैं और वे कितने सरल प्रतीत होते हैं! यदि तुम पर्याप्त सोच-विचारकर न पढ़ो तो तुम अपने मनमें कहोगे, "परंतु यह तो स्वयं ही स्पष्ट है, जो सत्य है उसे तुम सत्य मान लेते हो और जो असत्य है उसे असत्य, फिर भला इसका क्या मतलब है?" परंतु सर्वप्रथम सत्यको असत्यसे अलग करना इतना आसान नहीं है, और फिर यह मान लेना अर्थात् यह स्वीकार कर लेना कि यह चीज सत्य है इतना

आसान नहीं है। और यह मान लेना तो विशेष रूपसे और भी अधिक कठिन है कि अमुक चीज असत्य है।

सच पूछा जाय तो ठीक-ठीक यह निर्णय करनेके लिये कि असत्य क्या है हमारी अभीप्सामें इतनी सच्चाई, सच्चे होनेके संकल्पमें इतने दृढ़ निश्चयका होना आवश्यक होता है कि इस छोटे-से वाक्यांश "सत्यको सत्य जानना और असत्यको असत्य" का भी अर्थ हो जाता है एक बहुत महत्त्वपूर्ण अनुभव। और यह निष्कर्ष कि "वे सत्यको प्राप्त करते हैं" एक महान् प्रतिज्ञा बन जाता है।

कुछ ऐसी शिक्षाएं हैं जो यह कहती हैं कि मनुष्यमें कोई कामना बिलकुल नहीं होनी चाहिये; ये वे शिक्षाएं हैं जो जीवनसे पूर्णतः अलग हट जानेको अपना लक्ष्य मानती हैं जिसमें कि मनुष्य ब्रह्मकी अचल अवस्थामें प्रवेश कर जाय, समस्त कर्म, समस्त क्रिया-कलाप, समस्त रूप, समस्त बाह्य वस्तुस्थितिका लोप हो जाय। उस स्थितिमें पहुंचनेके लिये मनुष्यमें कोई कामना बिलकुल नहीं होनी चाहिये अर्थात् मनुष्यको प्रगति करनेकी समस्त इच्छासे दूर हट जाना चाहिये; अब स्वयं प्रगति भी एक असत्य और बाहरी वस्तु बन जाती है। परंतु तुम यदि योगसंबंधी अपनी धारणाओंमें प्रगतिकी भावनाको रखो और यदि यह स्वीकार करो कि समूचा विश्व एक प्रगतिधारामें चल रहा है तो तुम्हें कामनाके विषयको ही बदल देना होगा; जो वस्तुएं बाह्य, कृत्रिम, उत्तलीय और अहंभावपूर्ण हों उनकी ओर मुड़नेके बदले तुम्हें इस (कामना) को सिद्धिकी एक शक्तिके रूपमें सत्यकी ओर प्रयुक्त अभीप्साके साथ जोड़ देना होगा।

ये कुछ शब्द कि "वे सच्ची कामनाओंका अनुसरण करते हैं," इस बातके प्रमाण हैं कि बुद्धकी शिक्षाने, मूलतः, पृथ्वीपर प्राप्त सिद्धिसे मुंह नहीं मोड़ा था, बल्कि उस चीजसे मुंह मोड़ा था जो जगत्‌की कल्पनामें और जगत्‌में किये जानेवाले कर्मोंमें असत्य है। इस तरह जब यह शिक्षा यह कहती है कि मनुष्यको जीवनसे दूर भाग जाना चाहिये तब यह उस जीवनसे भागने-को नहीं कहती जो कि सत्यकी अभिव्यक्ति है बल्कि उस भ्रमात्मक जीवनसे भागनेको कहती है जिसे कि साधारणतया लोग इस जगत्‌में बिताते हैं।

श्रीअरविंद हमें बताते हैं कि सत्यतक पहुंचने और इस सत्यको उपलब्ध करनेकी शक्ति पानेके लिये तुम्हें आध्यात्मिक चेतनाको क्रमोन्नतिशील मानसिक चेतनाके साथ जोड़ देना चाहिये।

और ये थोड़ेसे शब्द निश्चय ही यह सिद्ध करते हैं कि बौद्ध शिक्षाकी मौलिक परिकल्पना ऐसी ही थी।

*

यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठी समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति ॥१३॥

जैसे ठीकसे न छाये घरमें वृष्टि घुस जाती है, वैसे ही अभावित (असंयमित) चित्तमें राग घुस जाता है।

यथागारं सुच्छन्नं वुट्ठी न समतिविज्झति ।।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति ।।१४।।

जैसे ठीकसे छाये घरमें वृष्टि नहीं घुसती, वैसे ही सुभावित (सुसंयमित) चित्तमें राग नहीं घुसता ।।

चीन, जापान और वर्मा आदि देशोंमें सब प्रकारके असंख्य छोटे-छोटे बौद्ध संप्रदाय हैं और उनमेंसे प्रत्येक अपनी निजी पद्धतिका अनुसरण करता है, परंतु उन सबमें जो सबसे अधिक फैले हुए मत हैं उनकी एकमात्र साधना है मनको स्थिर करना ।

वे लोग दिनमें और रातमें भी कई घंटोंतक बैठे रहते हैं और अपने मनको स्थिर बनानेकी चेष्टा करते हैं। यही उनके लिये समस्त अनुभूतियोंकी मूल कुंजी है—स्थिर मन, वह मन जो यह जानता है कि इधर-उधर दौड़े बिना एक साथ कई घंटोंतक कैसे स्थिर रहा जा सकता है। परंतु तुम्हें यह विश्वास नहीं बना लेना चाहिये कि ऐसा करना बहुत आसान बात है, परंतु उनका दूसरा कोई उद्देश्य नहीं है। वे किसी विचारपर अपने मनको एकाग्र नहीं करते, वे बहुत अच्छा समझनेकी, अधिक जाननेकी, ऐसी कोई चीज करनेकी चेष्टा नहीं करते, उनके लिये बस यही पथ है कि शांत-स्थिर मनको प्राप्त किया जाय और कभी-कभी इस परिणामपर पहुंचनेके लिये —मनको नीरव बनानेके लिये, उसे एकदम स्थिर और निश्चल बनाये रखनेके लिये प्रयास करनेमें उन्हें वर्षपर वर्ष गुंजार देने पड़ते हैं। क्योंकि, जैसा कि यहां धम्मपदमें कहा गया है, यदि मन असंयमित हो तो एक-दूसरीके बाद आनेवाली, कभी-कभी विना किसी क्रमके आनेवाली भावनाओंकी यह संतत क्रिया, एक-दूसरीका खंडन करनेवाली और विरोधी भावनाओं, वस्तुओंके ऊपर कल्पना-जल्पना करनेवाली भावनाओं, मस्तिष्कके अंदर जो कुछ चीजें धक्कम-धुक्का करती हैं उन सबकी क्रिया मानों छतके अंदर एक प्रकारका छिद्र बना देती है। और इन छिद्रोंमेंसे होकर सब प्रकारकी अवांछित क्रियाएं चेतनामें घुस आती हैं, जिस तरह कि चूनेवाली छतमेंसे होकर पानी घरमें घुस आता है।

पर बात जो हो, मैं समझती हूं कि यह एक ऐसा अभ्यास है जो प्रत्येक व्यक्तिको यह परामर्श देता है कि मनको स्थिर, शांत, निश्चल बनानेकी चेष्टा करनेके लिये प्रतिदिन थोड़ासा समय निश्चित कर देना चाहिये। और इस बातको अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तुम्हारा मन जितना ही अधिक विकसित होगा उतना ही शीघ्र तुम यह कार्य करनेमें सफल होओगे; और मन जितना ही अधिक अविकसित स्थितिमें होगा उतना ही अधिक कठिन यह कार्य होगा।

जो लोग इस क्रमसोपानके अर्थात् मनके विभिन्न स्तरोंके निचले भागमें हैं, जिन्होंने कभी अपने मनको शिक्षित या सुसंयमित करनेका प्रयास नहीं किया है, उन्हें विचार करनेके लिये बोलना आवश्यक प्रतीत होता है। यहांतक होता है कि उनकी जबानकी आवाज ही उन्हें विचारोंको जोड़नेकी क्षमता प्रदान करती है; यदि वे मुंहसे नहीं बोलते तो वे विचार भी नहीं करते। उससे उच्च स्तरपर वे लोग हैं जो विचार करनेके लिये शब्दोंको अपने मस्तिष्कमें चलाते

रहते हैं, यद्यपि वे जोरसे उनका उच्चारण नहीं करते। जो लोग वास्तवमें विचार करना आरंभ करते हैं वे लोग ऐसे व्यक्ति होते हैं जो बिना शब्दके विचार करनेमें सक्षम होते हैं, अर्थात् वे विचारोंके संस्पर्शमें आते हैं और उन्हें अत्यंत भिन्न शब्दों और वाक्योंके द्वारा व्यक्त करते हैं। स्तर बहुतसे हैं, बहुतसे उच्चतर स्तर हैं, पर जो बिना शब्दके सोचते हैं वे ही यथार्थमें एक बौद्धिक अवस्थामें पहुंचते हैं और ऐसे लोगोंके लिये मनको स्थिर करना बहुत अधिक आसान है, अर्थात् सार्वजनिक स्थानमेंसे गुजरनेवाले राहगीरोंकी तरह चलनेवाले संलग्न विचारोंकी क्रियाको बंद करना और नीरव होकर किसी विचारपर एकाग्र होना सरल होता है।

इस बातपर मैं जरा जोर दे रही हूं, क्योंकि कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें यदि गुह्य तरीकोंसे मानसिक शांति भर दी जाय तो वे तुरत संत्रस्त हो उठते हैं और समझने लगते हैं कि उनकी बुद्धिका ही लोप हो गया है। क्योंकि उस हालतमें वे चिंतन ही नहीं कर सकते, उन्हें यह भय हो जाता है कि वे जड़भरत हो जायंगे! परंतु चिंतन बंद कर देना बेहद विचारोंकी लड़ी बुनते जानेसे कहीं उच्चतर प्राप्ति है और उसके लिये मनके बहुत अधिक विकासकी आवश्यकता होती है।

अतएव, न केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे, बल्कि सभी दृष्टिकोणोंसे कुछ क्षण, कम-से-कम दो बार प्रतिदिन, नीरवता प्राप्त करनेका अभ्यास करना सर्वदा ही बहुत अच्छा है, परंतु वह सच्ची नीरवता होनी चाहिये, केवल बातचीत बंद करना ही नहीं होना चाहिये।

आओ, अब कुछ मिनट पूर्णतः नीरव हो जानेकी कोशिश करें।

*

इध सोचति पेच्च सोचति पापकारी उभयत्थ सोचति।
सो सोचति सो विहञ्ञति दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो ॥१५॥

वह यहां (इस लोकमें) शोक करता है, मरनेके बाद शोक करता है। पाप करनेवाला दोनों(लोकों) में शोक करता है। वह अपने मलिन कर्मोंको देखकर शोक करता है, पीड़ित होता है।

यह बिलकुल स्पष्ट ही है कि जब तुम कुत्सित और निकृष्ट रूपमें काम करते हो तब तुम स्वभावतः ही दुःखी होते हो। परंतु अपने कर्मोंके अंदरकी कुरूपताके विषयमें सचेतन होनेके कारण दुःखी होना मेरी समझमें एक बहुत उन्नत अवस्था है, क्योंकि अपने कर्मोंकी बुराईको समझनेके लिये मनुष्यको बहुत अधिक सचेतन होनेकी आवश्यकता होती है, और अपनी की हुई बुराईके विषयमें सचेत हो जाना ही उसे फिर बिलकुल न करनेकी स्थितिमें पहुंचनेकी पहली सीढ़ी है।

सामान्यतया लोग अपने निजी कार्योंकी कुरूपताके विषयमें एकदम अंधे होते हैं। वे अज्ञानवश, अचेतनावश, संकीर्णतावश गलती करते हैं, वे अचेतनता और अज्ञानके कारण स्वयं अपनी ओरसे मुंह फेर लेते हैं और फिर उसीके कारण भूल करते हैं, आत्मसंरक्षणके उस अंध

सहजात प्रवृत्तिके कारण भूल करते हैं जो मनुष्यको स्वयं अपनी भलाईके लिये सारे संसारका वलिदान कर देनेके लिये तैयार कर देती है। और जो जितना ही तुच्छ होता है वह अपनी तुच्छताके लिये उतना ही वड़ा त्याग करता है और यही उसे स्वाभाविक प्रतीत होता है।

सच पूछो तो हम जो कुछ करते हैं उसकी वीभत्सताको देखनेके लिये हमें बहुत अधिक ऊंचे उठना होता है। इसके लिये मनुष्यके अंतरतम प्रदेशमें इस बातका पूर्वज्ञान होना चाहिये कि सौंदर्य, महानता, उदारता क्या वस्तु हैं जिसमें कि उसके अंदर इन सव चीजोंका कभी अभाव न हो सके।

मैं समझती हूं कि 'धम्मपद' यहांपर उन लोगोंकी वात कहता है जो यह अच्छी तरह जान गये हैं कि कौनसी चीज सुन्दर और महान् है और जो समझ-बूझकर, इच्छा करके अशुभ कार्य करते हैं। ऐसे लोगोंके लिये निस्संदेह जीवन भीषण दुःखदायी वन जाता है। जव हम यह जानते हैं कि यह कार्य नहीं करना चाहिये और फिर उसीको लगातार करते रहते हैं तव उसका अर्थ होता है कि हम जो कुछ आराम, जो कुछ संभवनीय शांति, जो कुछ सुख-समृद्धि प्राप्त कर सकते हैं उसे मूल्यमें देकर ही हम ऐसा कर रहे हैं। जो मनुष्य झूठ वोलता है वह इस भयसे निरंतर बेचैन रहता है कि उसकी मिथ्या वात प्रकट हो जायगी; जो व्यक्ति गलत रूपमें कार्य करता है वह इस भावनासे सदा चिंतित रहता है कि शायद उसे दंड दिया जायगा; जो आदमी धोखा देनेकी चेष्टा करता है वह शांति नहीं पाता और इस बातसे संत्रस्त रहता है कि कहीं यह न पता चल जाय कि वह धोखा देता है।

वास्तवमें देखा जाय तो विशुद्ध अहंकारपूर्ण हेतुसे भी शांत-स्थिर बने रहने तथा अपनी दुश्चिंताको घटाकर कम-से-कम कर देनेका सवसे उत्तम साधन है अच्छा काम करना, सच्चा, सरल और न्यायपरायण होना। और इसके साथ-साथ यदि कोई विना लेखा-जोखा और स्वार्थ-वुद्धिके निष्काम और अनासक्त हो सके तो फिर उसके लिये वास्तवमें सुखी होना संभव हो जायगा।

तुम अपने कर्मोंसे उत्पन्न वातावरणको अपने साथ, अपने चारों ओर, अपने अंदर लिये फिरते हो, और जो कुछ तुम करते हो वह यदि सुन्दर, भला और सुसमंजस हो तो तुम्हारा वातावरण भी सुन्दर, अच्छा और सुसमंजस वना रहेगा, दूसरी ओर यदि तुम क्षुद्र स्वार्थपरतामें, अविवेकपूर्ण आत्म-हितचिंतनमें, निष्ठुर अशुभ इच्छामें निवास करो तो तुम अपने जीवनके प्रत्येक मुहूर्तमें उसे ही सांसद्वारा छोड़ोगे और उसका अर्थ होगा दुःख, निरंतर बेचैनी; उसका अर्थ होगा कुत्सित होनेके कारण निराशामें भी वीभत्सता।

और यह कभी विश्वास मत करो कि इस शरीरको छोड़ देनेपर तुम इस वातावरणसे मुक्त हो जाओगे; बल्कि शरीर तो अचेतनाके एक पर्देके जैसा है जो दुःख-क्लेशकी तीव्रताको कम कर देता है। यदि तुम शरीरके संरक्षणसे रहित होकर अत्यंत स्थूल प्राणिक जीवनमें चले जाओ तो दुःख-कष्ट वहुत अधिक तीव्र हो जायगा और फिर तुम्हें ऐसा सुयोग नहीं मिलेगा कि जो चीज बदलनेकी है उसे बदल दिया जाय, जो संशोधित करनेकी है उसे संशोधित कर दिया जाय, एक अधिक उच्च, अधिक सुखमय और अधिक ज्योतिर्मय जीवन तथा चेतनाकी ओर अपना उद्घाटन किया जाय।

तुम्हें अपना काम यहीं शीघ्र कर लेनेकी कोशिश करनी चाहिये, क्योंकि वास्तवमें यहीं तुम उसे कर सकते हो।

मृत्युसे किसी चीजकी आशा मत करो। जीवन ही तुम्हारे लिये मुक्ति है।

बस, जीवन में रहकर ही तुम्हें अपनेको रूपांतरित करना चाहिये। इस पृथ्वीपर ही तुम उन्नति कर सकते हो और इस पृथ्वीपर ही तुम अपने जीवनके उच्चतम उद्देश्यको प्राप्त कर सकते हो। बस, इस शरीरमें ही तुम विजयश्रीको अधिकृत कर सकते हो।

(क्रमशः)

---*****---

शारीरिक पीड़ासे मुक्ति

संभव है कि तुमसे यह कहा गया हो कि किन्हीं शारीरिक व्याधियोंसे तुम्हें बहुत अधिक पीड़ा भोगनी होगी। ऐसी बातें प्रायः ही कही जाती हैं। फिर तुम एक भयकी रचना करते हो और पीड़ाके आनेकी आशा बनाये रखते हो। फिर पीड़ाके आनेका कोई कारण न होने-पर भी वह आ जाती है।

परंतु जब वह वास्तवमें हो तो उस हालतमें भी मैं तुमसे एक बात कह सकती हूं। यदि चेतनाको ऊपरकी ओर मोड़ लिया जाय तो दर्द दूर हो जाता है। यदि चेतनाको नीचेकी ओर मोड़ा जाय तो दर्द महसूस होता है और बढ़ भी जाता है। जब कोई चेतनाको ऊपर और नीचेकी ओर मोड़नेका प्रयोग करता है तो वह देखता है कि शारीरिक रोगका वास्तवमें दर्दके साथ कोई सरोकार नहीं। शरीर चाहे बहुत अधिक दुःख भोग सकता है अथवा बिलकुल ही नहीं भोगता फिर भी उसकी अवस्था एकदम एक जैसी बनी रहती है। सच पूछा जाय तो चेतनाके मोड़के कारण ही यह सब अंतर आ जाता है।

मैं "ऊपरकी ओर मोड़ने" की बात कहती हूं, क्योंकि भगवान्‌की ओर मुड़ना ही सबसे उत्तम तरीका है, परंतु सामान्य रूपमें यह भी कहा जा सकता है कि यदि चेतनाको दर्दसे दूर हटाकर अपने काममें मोड़ दिया जाय या जिस चीजमें विशेष रुचि हो उसमें लगा दिया जाय तो दर्दका होना बंद हो जाता है।

और केवल दर्द ही नहीं, बल्कि किसी अंग-विशेषको चाहे जो भी हानि पहुंची हो उसे भी बहुत अधिक आसानीसे ठीक किया जा सकता है यदि चेतनाको उस क्लेशसे दूर हटा लिया जाय और अपनेको भगवान्‌की ओर उद्घाटित कर दिया जाय। भगवान्‌का एक सत्-भाव है— विशुद्ध परात्पर सत् जो विश्वके ऊपर, परे या पीछे विद्यमान है। यदि तुम इसके साथ संपर्क बनाये रखो तो सब प्रकारकी शारीरिक व्याधियां दूर की जा सकती हैं।

२५. ११. १९६२

—श्रीमां

मनुष्य

बद्ध है या मुक्त ?

दास है या स्वामी ?

***

"अब प्रायः वह समय आ गया है जब भारत केवल अपने तईं ही अपनी ज्योतिको अब और सुरक्षित नहीं रख सकता, बल्कि अब उसे उस ज्योतिको संसारके ऊपर उंडेल देना होगा। सारी मनुष्यजातिके सामने योगको प्रकट कर देना होगा, क्योंकि उसके विना मनुष्यजाति मानवीय विकास-धारामें और आगे पग नहीं बढ़ा सकती।"

* * *

साधारणतया लोग योगका अभ्यास करनेके लिये भौतिक या मानसिक रूपसे संसारके संपर्कसे बिलकुल अलग किसी एकांत स्थानमें चले जाते हैं और वहां ऐकांतिक रूपसे उसीका अभ्यास करते हैं। इस कारण समाजमें इस विज्ञानके विषयमें एक भ्रांत धारणा उत्पन्न हो गयी है। प्रायः ऐसा समझा जाता है कि योग कोई रहस्यमय, बड़ी दूरकी और असत्य वस्तु है। फिर यौगिक अभ्यासोंके विषयमें जो छिपानेकी प्रवृत्ति देखी जाती है—अवश्य ही मानवीय विकास-क्रमकी प्राथमिक अवस्थाओंमें छिपानेकी यह प्रवृत्ति आवश्यक रही है—उसने इस भ्रांतिको और भी पक्का बना दिया है। इसके अलावा कुछ लोग जो साधना करनेके लिये एक गुप्त दल बना लेते हैं और कठोरतापूर्वक केवल उन्हीं लोगोंको इन रहस्योंकी शिक्षा देते हैं जिनमें एक विशिष्ट प्रकारकी प्रारंभिक योग्यता होती है, उससे भी वाहरी जगत्के लिये उसपर अनिवार्य रूपसे गुह्यवादकी मुहर लग जाती है।

पर सच पूछा जाय तो योगसे संबंधित कोई ऐसी चीज नहीं है जो यथार्थमें प्रच्छन्न, गुह्य या रहस्यमय हो। योग मानवीय मनोविज्ञानके कतिपय नियमोंपर आधारित है, शरीरके ऊपर मनके तथा मनके ऊपर आंतरिक आत्माके आधिपत्यकी जो शक्ति है उससे संबंधित एक विशेष ज्ञानपर अवलंबित है। उन नियमों और उन शक्तियोंका ज्ञान साधारणतया उपलब्ध नहीं होता और उनके रहस्योंको जाननेवाले लोगोंकी अबतक यह मान्यता रही है कि जबतक मनुष्यको ठीक-ठीक इन्हें प्रयुक्त करनेका प्रशिक्षण नहीं मिल जाता तबतक इनका रहस्य खोल देनेसे इनका परिणाम अत्यंत गुरुतर होता है। जिन लोगोंने 'मेस्मेरिज्म' (वशीकरण-विद्या) और 'हिप्नोटिज्म' (सम्मोहन-विद्या) की अत्यंत चरम संभावनाओंको खोज निकाला है और उनका परीक्षण किया है वे लोग जिस तरह अपने ज्ञानको संसारके सामने खुले आम प्रचारित करनेमें हिचकिचा सकते हैं, क्योंकि सम्मोहन-शक्तिका लोग अपने अज्ञानवश या विकृत स्वभाववश दुरुपयोग कर सकते हैं अथवा अपनी स्वार्थपरता और पापकर्मकी सिद्धिके लिये कुव्यवहार कर सकते हैं, ठीक उसी तरह योगियोंने भी अपने अंदर निहित इन अधिक महान् शक्तियोंके ज्ञानको साधारणतया गुप्त रूपसे सुरक्षित रखा और केवल तभी इस नियमको भंग किया जब

उन्हें यह विश्वास हो गया कि इससे पूर्व शिक्षार्थीको नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षण प्राप्त हो चुका है और यौगिक साधनाओंके लिये उसमें शारीरिक और नैतिक योग्यता है। इसलिये शिक्षार्थीके लिये यह एक पक्का नियम बन गया कि योगके अपने आंतरिक अनुभवोंको वह कठोरतापूर्वक गुप्त रखे तथा विकसित या सिद्ध योगियोंके लिये यह नियम बन गया कि जहां-तक संभव हो वे अपनेको छिपाकर रखें। अवश्य ही इस बातके कारण ऐसा तो नहीं हुआ कि योगके भौतिक या नैतिक और बौद्धिक पक्षका वर्णन करनेवाली हस्तपुस्तिकाएं और ग्रंथ न लिखे गये हों। और न इस कारण ऐसी ही कोई बाधा हुई जिससे कि महान् आत्मागण, जिन्होंने न केवल साधारण अवहित और वैज्ञानिक पद्धतियोंसे वरन् अपनी निजी शक्ति-सामर्थ्य तथा भगवान्की विशेष कृपासे अपनी योग-सिद्धि प्राप्त की, स्वयं अपने-आपको तथा अपने आध्यात्मिक ज्ञानको मनुष्यजातिके सामने प्रकट न किया हो तथा मनुष्यजातिके प्रति अपने तीव्र प्रेमके वश अपनी शक्तिका कुछ अंश संसारको न दिया हो। ऐसे ही महान् आत्मा थे बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और चैतन्य, और ऐसे ही महान् आत्मा हो गये हैं रामकृष्ण और विवेका-नंद। आज भी परंपरागत दृष्टिकोण यही है कि योगकी अनुभूतियोंको उन लोगोंके सामने व्यक्त नहीं करना चाहिये जिन्हें योगकी दीक्षा प्राप्त नहीं है। पर एक नया युग हमारे सामने उदित हो रहा है जिसमें पुराने नियमोंका सुधार करना होगा। आज पश्चिमने योगके रहस्यों-का अनुसंधान करना आरंभ कर दिया है। उसके कुछ नियमोंका पता यूरोपके वैज्ञानिकोंको मिल गया है भले ही वह अभी अस्पष्ट और अपूर्ण ही क्यों न हो, और दूसरे नियम भी प्रेत-विद्या, ईसाई-विज्ञान (ईसाई विश्वासोंके अनुसार रोग-चिकित्सा), अतिदृष्टि (clairvoyance), विचारसंक्रमण (telepathy) तथा गुह्यविद्याके अन्यान्य आधुनिक रूपोंके द्वारा संयोगवश ही प्रायः आविष्कृत हो रहे हैं मानो मनुष्य अंधकारमें हाथ टटोल रहे हों तथा ऐसे सत्योंको हस्तगत कर रहे हों जिन्हें समझ न पाते हों। अब प्रायः वह समय आ गया है जब भारत केवल अपने तईं ही अपनी ज्योतिको अब और सुरक्षित नहीं रख सकता बल्कि अब उसे उस ज्योतिको संसार-के ऊपर ऊंडेल देना होगा। सारी मनुष्यजातिके सामने योगको प्रकट कर देना होगा, क्योंकि उसके बिना मनुष्यजाति मानवीय विकासधारामें और आगे पग नहीं बढ़ा सकती।

मनुष्यजातिके मनोविज्ञानको अभीतक विज्ञानने आविष्कृत नहीं किया है। समस्त सृष्टि मूलतः एक जैसी है और यद्यपि अभिन्न नहीं पर एक समान नियमोंसे उत्पन्न तथा चालित होती है। अतएव हम यदि बाहरी स्थूल जगत्में यह देखते हैं कि सभी दृश्य वस्तुएं एक ही कारण-रूप पदार्थसे उद्भूत होती हैं तथा जिस पदार्थसे उत्पन्न हुई हैं, जिसमें वे चलती-फिरती तथा जिसमें वे वापस लौटती हैं उसीमें फिर परिवर्त्तित की जा सकती हैं, तो यही सत्य आंतरिक जगत्के विषयमें भी लागू हो सकता है। यूरोपकी वैज्ञानिक बुद्धिने जड़-भौतिक विश्वके एकत्व-को अब स्वीकार कर लिया है तथा जर्मनीके नास्तिकवाद तथा जड़वादके बड़े-बड़े पुरोहितोंने बिना किसी हिचकिचाहटके जड़-तत्त्वको 'एकमेवाद्वितीयम्' घोषित कर दिया है। ऐसा करके उन्होंने महज यौगिक विज्ञानके महान् भारतीय गुरुओंके उस आविष्कारको ही फिरसे प्रस्थापित किया है जिसे उन्होंने (भारतीय योगियोंने) हजारों वर्ष पूर्व प्रस्थापित किया था। परंतु यूरो-

पियन वैज्ञानिकोंने आंतरिक व्यापारोंकी खोज करनेके लिये कोई ऐसी सुनिश्चित और अचूक पद्धति नहीं ढूंढ़ निकाली है जैसी कि उन्होंने स्थूल जड़तत्त्वके संबंधमें खोज निकाली है। वे लोग केवल कर्मके अंदर मनकी अत्यंत बाहरी अभिव्यक्तियोंका ही निरीक्षण कर सकते हैं। परंतु इन सब अभिव्यक्तियोंमें मन बाह्य वस्तुओंकी क्रियासे इतना अधिक घिरा रहता तथा उनपर इतना अधिक निर्भर प्रतीत होता है कि निरीक्षकको उसकी क्रियाके मूल स्रोतको ढूंढ़ निकालना या उसकी क्रियाओंमें कोई नियमितताका पता लगाना बड़ा कठिन हो जाता है। अतएव यूरोपिय वैज्ञानिक इस निष्कर्षपर आ पहुंचे हैं कि बाह्य वस्तुओंके उद्दीपनके कारण ही आंतरिक व्यापार घटित होते हैं और जब यह प्रतीत होता है कि मन अपने-आप तथा अपनी निजी सामग्रीपर कार्य करता है तब भी वह केवल बाहरी वस्तुओंसे प्राप्त अनुभवोंको ही जोड़ता, एक साथ एकत्र करता तथा काममें लाता है। उनके मतानुसार मनका स्वभाव ही है वंशपरंपरासे प्राप्त विगत भौतिक अनुभवकी रचना करना और इतने सतत रूपमें करते रहना कि जिसके फलस्वरूप अविकसित मन रखनेवाले बर्बर मनुष्यकी स्थितिसे निरंतर विकसित होकर हम बीसवीं सदीके सभ्य मनुष्य बन गये हैं। जड़वादके इन सिद्धांतोंके स्वाभाविक परिणामके रूपमें विज्ञानको मनके बहुविध व्यापारोंके लिये किसी सच्चे आंतरिक केंद्रका पता लगा पाना कठिन हो गया है और इसलिये उसने मस्तिष्कको, चिंतनकी स्थूल इंद्रियको ही एकमात्र सच्चा केंद्र मान लिया है। इस जड़वादी दर्शनमें कुछ ऐसे सिद्धांत उत्पन्न हुए हैं जो नैतिक दृष्टिसे मनुष्यजातिके भविष्यके लिये बहुत खतरनाक हैं। सबसे प्रथम सिद्धांत है—मनुष्य जड़तत्त्वकी एक सृष्टि है और उसका दास है। वह जड़तत्त्वका अनुगत बनकर ही उसपर प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है।

दूसरा है : स्वयं मन भी स्थूल जड़तत्त्वका ही एक रूप है और वह इंद्रियोंसे स्वतंत्र तथा उनका स्वामी नहीं है।

तीसरा है : स्वतंत्र इच्छा नामकी कोई सच्ची चीज नहीं है, क्योंकि हमारे सभी कर्म दो महान् शक्तियोंद्वारा निर्धारित होते हैं; वे शक्तियां हैं, वंशपरंपरा और परिवेश। हम अपनी प्रकृतिके गुलाम हैं, और जब हम उसके आधिपत्यसे स्वतंत्र प्रतीत होते हैं तब उसका कारण यह होता है कि हम अभी भी अपने परिवेशके बहुत बुरे गुलाम होते हैं, उस समय हमारे चारों ओरकी शक्तियां हमारे ऊपर कार्य करती हैं और हमारा उपयोग करती हैं।

जड़वादके ये मिथ्या और भयावह सिद्धांत मनुष्यके भविष्यका विध्वंस करने तथा उसके क्रमविकासको रोक देनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इनसे बचनेका उपाय हमें योग ही प्रदान करता है। विज्ञानके विरुद्ध योग यह प्रस्थापित करता है कि मनुष्य जड़तत्त्वसे स्वतंत्र है और मनुष्यको उसकी स्वतंत्रता स्थापित करनेका एक तरीका भी प्रदान करता है। योगियोंका सबसे पहला महान् मौलिक आविष्कार है वह उपाय जिसकी सहायतासे मन और हृदयके अनुभवोंका विश्लेषण किया जा सकता है। योगके द्वारा मनुष्य अपने मनको अलग कर सकता है, जिस तरह अनुवीक्षण-यंत्रकी सहायतासे छोटी-छोटी चीजें देखी जाती हैं उसी तरह मनकी क्रियाओंका निरीक्षण किया जा सकता है, अंतःकरणके विभिन्न भागोंकी, प्रत्येक मानसिक और नैतिक वृत्तियोंकी प्रत्येक क्षणकी क्रियाको अलग किया जा सकता है, उनकी इस तरह पृथक्कृत

क्रियाओंकी परीक्षा की जा सकती है, साथ ही अन्य क्रियाओं और वृत्तियोंके साथके उनके संबंधों-की जांच की जा सकती है, और फिर मनकी क्रियाओंकी सतहमें पैठकर यह पता लगाया जा सकता है कि उनका मूल क्या है, सूक्ष्मसे अधिक सूक्ष्म स्रोतोंका पता लगाते-लगाते अंतमें यौगिक विश्लेषण वैसे ही उस आध्यात्मिक सत्त्वतक पहुंच सकता है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जैसे कि जड़वादी विश्लेषण एक आदिम सत्तत्त्वपर पहुंचता है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है। योग उस आंतर केंद्रका स्थान ढूंढ़ निकालने और उसे पहचाननेमें समर्थ होता है जहां सभी आंतरिक व्यापार इकट्ठे होते हैं और इस तरह व्यक्तित्वकी जड़को स्थापित करनेमें समर्थ होता है। इस विश्लेषणमें उसका पहला आविष्कार यह है कि मन बाह्य विषयोंसे अपनेको पूर्णतः पृथक् कर सकता है और स्वयं अपने अंदर तथा स्वयं अपनेद्वारा कार्य कर सकता है। यह बात अवश्य ही हमें बहुत दूरतक नहीं ले जाती, क्योंकि संभव है कि इस अवस्थामें भी मन अपने विगत अनुभवोंके द्वारा संचित उपादानका ही महज उपयोग करता हो। परंतु दूसरा आविष्कार यह है कि मन अपने विषयसे जितना ही अधिक दूर हटता है उतना ही अधिक शक्तिशालिता, सुनिश्चितता तथा शीघ्रताके साथ वह कार्य कर सकता है, अधिक तीव्र सुस्पष्टताके साथ, विजयिनी और चरम-परम अनासक्तिके साथ कार्य कर सकता है। यह एक ऐसा अनुभव है जो इस वैज्ञानिक सिद्धांतका खंडन करता है कि मन इंद्रियोंको अपने अंदर खींच ले सकता है और उन्हें ऐसे व्यापारोंके एक समूहपर प्रयुक्त कर सकता है जिनके विषयमें वह बाह्य व्यापारोंमें संलग्न रहनेपर एकदम कुछ नहीं जानता। स्वभावतः ही विज्ञान इन सबको मनकी भ्रांति कहनेका दावा करेगा। परंतु इसका उत्तर यह है कि ये सब व्यापार नियमित, सरल और बोधगम्य नियमोंके द्वारा एक-दूसरेके साथ संबंधित होते हैं और इनका अपना एक जगत् होता है जो स्थूल जगत्पर कार्य करनेवाली विचार-शक्तिसे एकदम स्वतंत्र होता है। यहां भी विज्ञान संभवतः यह उत्तर दे सकता है कि यह विशिष्ट जगत् भौतिक जगत्की मस्तिष्कमें उत्पन्न महज एक कल्पनात्मक प्रतिच्छबि है। इन सूक्ष्म व्यापारोंकी सुनिश्चितता तथा अप्रत्याशितता एवं हमारी अपनी इच्छा और कल्पनासे इनकी स्वतंत्रताके आधारपर जो भी तर्क उपस्थित किये जायंगे उनके विरोधमें विज्ञान सर्वदा ही अचेतन मस्तिष्क-क्रिया और हम समझते हैं कि अचेतन कल्पनाके अपने सिद्धांतको ला रखेगा।

यौगिक विश्लेषणका चौथा आविष्कार यह है कि मन बाह्य जड़-तत्त्वसे केवल स्वतंत्र ही नहीं है वरन् उसका स्वामी भी है। यह केवल बाह्य उत्तेजक वस्तुओंका त्याग और उनको संयमित ही नहीं कर सकता बल्कि यह गुरुत्वाकर्षण आदि जैसे जड़तत्त्वके आपाततः सर्वसामान्य नियमोंकी अवज्ञा कर सकता है। यह साथ ही उन सभी चीजोंकी उपेक्षा कर सकता, उन्हें एक किनारे हटाकर रख सकता और व्यर्थ कर सकता है जिन्हें हम प्रकृतिके नियम कहते हैं और जो वास्तवमें केवल स्थूल प्रकृतिके नियम होते हैं, निम्न कोटिके होते हैं तथा आंतरिक नियमोंके अधीन होते हैं, क्योंकि जड़तत्त्व मनसे उत्पन्न हुआ है, मन जड़तत्त्वसे नहीं उत्पन्न हुआ है। यह योगका एक निर्णायक आविष्कार है और इसके द्वारा जड़वादका चरम खंडन होता है।

इस आविष्कारके बाद ही आती है योगकी सर्वश्रष्ठ यह उपलब्धि कि हमारे अंदर ही विद्यमान है अपरिमेय शक्ति, अपरिमित प्रज्ञा और अपार उल्लासका मूल स्रोत जो दुर्बलता, अज्ञान और दुःखशोककी समस्त संभावनासे बहुत ऊपर है। उस स्रोतके साथ हम अपना संपर्क स्थापित कर सकते हैं और स्वाभाविक रूपमें उसका उपयोग या उपभोग कर सकते हैं, भले ही ऐसा करना कठिन ही क्यों न हो पर यह असंभव बिलकुल नहीं है। यही वह चीज है जिसे उपनिषदें ब्रह्मके नामसे पुकारतीं और आदि तत्त्व मानती हैं। इसी ब्रह्मसे सभी वस्तुएं उत्पन्न हुई हैं, इसीमें वे रहती हैं और इसीमें वे वापस चली जाती हैं। यही तत्त्व है भगवान् और इन भगवान्के साथ एकत्व प्राप्त करना ही है योगका उच्चतम लक्ष्य—वह एकत्व जो ज्ञान, कर्म और आनंदके लिये कार्य करता है।

—श्रीअरविन्द

एक पत्र

जिस शांतिको तुम अनुभव करते हो वही आधार है, रूपांतरकी नींव है, बाकी चीजें उसी-पर निर्मित होंगी। स्थिर और प्रबल अभीप्साके साथ भागवत शक्तियोंकी ओर उद्घाटित होना, उनकी क्रियावलीके संबंधमें सचेतन होना, उस क्रियाको चुपचाप होते रहने देना और शांतिपूर्वक उसे धारण करना, अपनी अभीप्साओंके द्वारा उसका समर्थन करते रहना, जैसे-जैसे मनुष्य आगे बढ़ता है वैसे-वैसे जो कुछ किया जा रहा है उसका अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करते रहना और उसका अर्थ समझते रहना—यही योगका पक्का और स्वाभाविक पथ है।

पोस्ट-कार्डोंके विषयमें जो बात घटित हुई (दोनों ओरसे एक साथ पत्रोंका आना) वह बिलकुल ही कोई आकस्मिक घटना नहीं है और साधारण जीवनमें बहुत बार ऐसी बात घटित होती है, पर लोग उसपर ध्यान नहीं देते या उसे कोई महत्त्व नहीं प्रदान करते, संभवतः एक आकस्मिक घटना या दैव-संयोग समझकर उसे उड़ा देते हैं। आजकल इसे अंगरेजीमें टेलिपैथी (telepathy) कहते हैं जिसका अर्थ है दूसरे व्यक्तिके विचार, भावना या अनुभव (किसी घटना या किसी घटनाकी प्रतिक्रिया) को कुछ दूरसे ही अनुभव करना। आजकल पश्चिममें ऐसे लोग हैं जो एक दूरीपरसे विचार-विनिमय करनेका अभ्यास करते हैं। जब यौगिक चेतना विकसित होती है तो इस प्रकारका टेलीपैथीका ज्ञान बहुत अधिक जाग्रत् हो जाता है और बार-बार होता है। इस ज्ञानको एक अभ्यासगत कार्यके रूपमें सुव्यवस्थित किया जा सकता है, चेतनाका एक सुसंयमित यंत्र और प्रकृतिकी एक स्वाभाविक क्रिया बनाया जा सकता है।

१०. ११. १९३२

—श्रीअरविन्द

सांध्य वार्तालापसे :

वैश्व और परात्पर

शिष्य—आजकल मुझमें अनंत परात्परा शक्तिको प्राप्त करनेकी बड़ी प्रबल प्रवृत्ति दिखायी दे रही है। मैं यह जानना चाहता हूं कि अपनी साधनाको वैश्व शक्तिके हाथोंमें छोड़ना अधिक निरापद है या भागवत शक्तिके हाथोंमें।

श्रीअरविंद—परात्पर और वैश्व शक्तियां सर्वदा एक-दूसरीसे पृथक् नहीं होतीं; वे प्रायः परस्पर घुली-मिली होती हैं; जब मनुष्य अपने मनमें परात्परको उपलब्ध करता है तो वह वैश्व होता है। साधकको वह अनुभूति भी प्राप्त करनी होती है।

शिष्य—दोनोंमें क्या भेद है?

श्रीअरविंद—वैश्व सब प्रकारकी चीजोंसे—सत्य और मिथ्या, अच्छी और बुरी, दिव्य और अदिव्य दोनों प्रकारकी चीजोंसे—भरा हुआ है। मनुष्यको ज्ञान प्राप्त करना होता है और उनको पहचानना होता है। जबतक विवेक करनेकी शक्ति नहीं प्राप्त हो जाती तब-तक वैश्वकी ओर अपने-आपको खोलना निरापद नहीं होता, क्योंकि सभी प्रकारकी भावनाएं, शक्तियां, प्रवृत्तियां, यहांतक कि राक्षसिक और पैशाचिक भी मनुष्यके अंदर घुस सकती हैं। कुछ योगपद्धतियां ऐसी हैं जो इस अवस्थाको "स्वातंत्र्य" या मुक्ति समझती हैं और वे इस "वैश्व अभिव्यक्ति"—जैसा कि वे इसे नाम देती हैं—में सुख भी अनुभव करती हैं। परंतु यह अवस्था पूर्णत्व नहीं है। पूर्णत्व केवल तभी प्राप्त होता है जब स्वयं परात्परा शक्ति मानव-जीवनमें अभिव्यक्त होती है, जब अनंत अपने-आपको सांतमें अभिव्यक्त करता है।

शिष्य—जो लोग वैश्वको उपलब्ध करते हैं वे क्या पूर्णत्वको अभिव्यक्त नहीं कर सकते?

श्रीअरविंद—साधारणतया ये वे लोग होते हैं जो मानसिक स्तरपर वैश्वमें, अर्थात् अनंतमें—सच्चिदानंदमें भागकर चले जाना चाहते हैं। वैश्व, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूं, सब प्रकारकी भली-बुरी चीजोंसे पूर्ण होता है। जो साधक इसमें प्रवेश करते हैं और इसे ही अपना लक्ष्य मानते हैं, वे इसमेंसे जो कुछ आता है उसे स्वीकार करते हैं और, कभी-कभी, जीवनमें नैतिकताके प्रति चरम उदासीनताके साथ आचरण करते हैं। परंतु उनकी सत्ता रूपांतरित नहीं होती। हमारे परिचित साधकोंमें 'क' ने अपनेको वैश्वके प्रति उद्घाटित किया था, भली-बुरी शक्तियोंमें विवेक नहीं कर सका था, बल्कि यों कहें कि विवेक करना अस्वीकार कर दिया था और अंतमें पागल हो गया था। अथवा दूसरा उदाहरण 'ख' का लो जो आश्रमसे बाहरका आदमी था। उसने वैश्व चेतनामें रहनेका प्रयास किया पर उसका प्राण-पुरुष सब प्रकारकी गंदगियोंसे भरपूर था। यह कोई पूर्णता नहीं है।

जब भागवत शक्ति—अतिमानसिक शक्ति—कार्य करती है तब वह प्रकृतिके विभिन्न करणोंमें सामंजस्य स्थापित करती है और हमारे समस्त जीवनके अंदर भी समतोलता लाती है। 'ग' और उसकी तरहके अन्य लोग ऐसा समझते हैं कि सत्ताका इस प्रकारका समन्वय-साधन एक प्रकारका सीमाबंधन है। परंतु यह कोई सीमाबंधन नहीं है—क्योंकि वह कार्य हमारे आत्मभाव और हमारे संभूतिभावके सत्यके अनुकूल होता है।

शिष्य—क्या परात्परा शक्ति और अतिमानसिक शक्ति एक ही चीज हैं?

श्रीअरविंद—हां, जब वह शक्ति जागती है तब मनुष्य 'सत्पुरुष' (Being) का ही सत्य नहीं जानता पर अभिव्यक्तिका सत्य भी जानता है। उस स्तरपर सत्य-ज्ञान और सत्य-कर्म-के बीच स्वभावतः ही सामंजस्य बना रहता है।

शिष्य—अभिव्यक्तिका अर्थ सीमित होना हो सकता है: क्या यह ठीक है?

श्रीअरविंद—कोई मानवीय अभिव्यक्ति ऐसी नहीं हो सकती जो सीमित न हो या सीमित न की जा सके। परंतु ससीमके अंदर होनेवाली अभिव्यक्तिमें परात्पर शक्तिकी झलक अवश्य आनी चाहिये। मानवीय अभिव्यक्तिके मूलमें एक सत्य है और अतिमानसिक उस सत्यको दिखाता है जिसे अभिव्यक्त करना है। वास्तवमें पूछा जाय तो यही पूर्णताकी कुंजी है।

शिष्य—जब शक्तिका अवतरण होता है तब मुझे, विशेषकर मस्तकपर, एक प्रकारके दबावका अनुभव होता है।

श्रीअरविंद—दबावका बोध अवश्य दूर होना चाहिये। मस्तक मनका स्थान सूचित करता है और शक्तिको धीरे-धीरे नीचे अवतरित होने देना चाहिये। जब वह नीचे अवतरित होती है तब वह दबावके रूपमें नहीं अनुभूत होती बल्कि ऐसे बलके रूपमें अनुभूत होती है जिसे कोई चीज नष्ट नहीं कर सकती। अपनी सारी सत्ताको, नीचे शरीरके कोषाणुओंतकको, इस प्रकार तैयार करना चाहिये कि जब शक्ति अवतरित हो तब उसे ग्रहण कर सके।

शुद्ध मन और प्राणगत मन

शिष्य—शुद्ध मन और प्राणगत मनमें क्या अंतर है?

श्रीअरविंद—शुद्ध मन महज सत्यका विचार करता या निरीक्षण करता है, उसे व्यवस्थित करता और स्वीकार करता हैं, पर प्राणगत या सक्रिय मन कार्य करता है। शुद्ध मन उस रूपमें कार्य नहीं करता।

शिष्य—उच्चतर शक्तिकी उपस्थितिको मनुष्य प्राण-सत्तामें क्यों नहीं अनुभव करता?

श्रीअरविंद—क्योंकि अभीतक भौतिक-प्राण सत्तापर उच्चतर शक्तिने पूर्ण रूपसे अपना अधिकार नहीं जमाया है। भौतिक प्राण एक बहुत मोटा स्तर है और जब तुम इसपर एक बार कार्य करते हो तो यह फिर प्राण-सत्ताको ढक देता है और फिर उस समय वह ऐसा दिखायी देनेका प्रयास करता है मानों वही प्राणके अंदर होनेवाली पूरी क्रिया हो।

शिष्य—यह कैसे जाना जा सकता है कि कोई क्रिया प्राणगत मनमें हो रही है या भौतिक मनमें ?

श्रीअरविंद—तुम इसे बराबर इस कसौटीके द्वारा परख सकते हो; जब एक ही चीज कोई दूसरी नयी क्रिया उत्पन्न किये बिना प्रायः यंत्रकी भांति बार-बार होती रहे तो समझो कि वह भौतिक मनमें हो रही है।

यदि वह क्रिया भौतिक मनमें बद्धमूल हो तो सबसे उत्तम यह है कि उसे कोई महत्त्व न दिया जाय। भौतिक बड़ा हठी होता है; परंतु जब कोई क्रिया प्राणमें या मनमें होती है तो वह बहुत सूक्ष्म होती है और नये आकारोंकी सृष्टि करती है। ये कठिनाइयां एकदम अंततक बनी रहती हैं। तुम्हें खूब स्पष्ट रूपमें निम्नतर सत्तामें होनेवाली विभिन्न क्रियाओंका भेद समझना चाहिये। हम अपनी साधनामें सामान्य और यहांतक कि तुच्छ चीजोंको भी छोड़ देना नहीं चाहते।

—श्री अम्बालाल पुराणी द्वारा अभिलिखित

हमें अपने अंदर ही असंदिग्ध होना होगा, सभी चीजोंके बावजूद अपनी इस असंदिग्धता-को बनाये रखना होगा और चाहे जो भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े अपने पथपर अंततक चले जाना होगा। विजयमाल उसीके गलेमें पड़ती है जो अपने पथपर सबसे अधिक दृढ़ताके साथ टिका रहता है।

(परंतु) सभी बाधाओंके होते हुए अपने पथपर डटे रहनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य-का आधारबिंदु भी अडिग हो और एकमात्र एक ही आधार-बिंदु अडिग है और वह है दिव्य सद्वस्तुका, परम सत्यका आधार-बिंदु।

अन्य किसी चीजकी ओर ताकना बेकार है। केवल वही एक चीज है जो कभी हमारा त्याग नहीं करती।

—श्रीमां

दिव्य जीवन

भाग २

ज्ञान और अज्ञान–
आध्यात्मिक विकास

खंड १

अनंत चेतना और अज्ञान

अध्याय १

निर्विशेष्य*, निर्विशेष-समूह और विश्वीय विशेष-समूह

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवं.....स आत्मा स विज्ञेयः ।।

---

*डिटरमिनेशन (determination) शब्दका यहां अर्थ है नियत् करनेवाला, अर्थात् गुण या धर्म जिसे भारतीय दार्शनिक भाषामें 'विशेष' कहा जाता है। परब्रह्मकी जो शुद्ध अवस्था है उसमें किसी भी गुण या धर्मका निर्देश नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी वस्तुमें जब कोई गुण बतलाया जाता है तो वह उसे सीमित कर देता है। उदाहरणस्वरूप, जब हम यह कहते हैं कि अग्नि उष्ण है, जल शीतल है तो इसका यह अर्थ हुआ कि अग्नि शीतल नहीं है अतः सीमित है, जल उष्ण नहीं है अतः अपनी शक्तिमें सीमित है। परंतु जिस मूल प्रकृतिसे ये पदार्थ उत्पन्न होते हैं उसे न उष्ण कह सकते हैं न शीतल, कारण यदि उसमें कोई भी ऐसा गुण कहा जायगा तो वह गुण उसकी शक्तिको सीमित कर देगी और फिर प्रकृति उसके विरोधी गुण और उस गुणवाले पदार्थको सृष्ट नहीं कर सकेगी। परब्रह्म अनंत, असीम है, अतः हम उसमें भी किसी भी गुण या धर्मका निर्देश नहीं कर सकते; यदि हम ऐसा करेंगे तो वह इस अनंत-गुण-धर्मवाले विश्वकी सृष्टि नहीं कर सकेगा और इसलिये अनंत, असीम नहीं रहेगा। इसी भावको रखते हुए दार्शनिक भाषामें ब्रह्मको निर्विशेष्य (Indeterminable) या निर्विशेष (Indeterminate) कहा जाता है। परंतु उसे निर्विशेष्य कहनेका यह अर्थ नहीं है—जैसा कि कुछ दार्शनिक भूलसे कहते हैं—कि वह गुण, धर्मों (determinations) को अपनेसे सृष्ट नहीं कर सकता और सगुण, सविशेष (determinate) नहीं बन सकता। यदि ऐसा होता तो इस विश्वकी सृष्टि ही न हुई होती। निर्विशेष्य (Indeterminable) या निर्विशेष (Indeterminate) होते हुए भी ब्रह्ममें अपने-आपको असंख्य गुण और धर्मों (determinations) के रूपमें प्रकट करनेकी शक्ति (force) रहती है, इसलिये वह जब चाहे सगुण, सविशेष (determinate) बन सकता है। और सविशेष (determinate) बन जानेपर भी इस अवस्थाके बंधनसे मुक्त रहता है और अपने शुद्ध स्वरूपमें निर्विशेष्य (Indeterminate) ही बना रहता है। यह परब्रह्मकी माया, अनंतका न्याय (logic) है जिसे पाठक अगले पृष्ठोंमें अवलोकन करेंगे। —अनुवादक

वह ऐसा अदृष्ट है कि जिसके साथ कोई भी व्यावहारिक संबंध नहीं हो सकता; वह अग्राह्य, अचित्य, लक्षणरहित[1] है; किसी भी नामसे उसका निर्देश नहीं किया जा सकता; एकतम आत्माके रूपमें निश्चयता ही उसका सारद्रव्य है; उसमें विश्व निश्चेष्ट अवस्थामें है; वह शांत और आनन्दमय है; .....वह आत्मा है, वही ज्ञातव्य है।

—माण्डूक्योपनिषद् श्लोक ७.

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैवमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

कोई उसे आश्चर्य (मय) के रूपमें देखता है, कोई आश्चर्य (मय) के रूपमें उसका कथन करता है, कोई आश्चर्य (मय) उसे सुनता है, किंतु कोई भी उसे नहीं जानता।

—गीता २-२९.

य त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।
..........सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

जब मनुष्य अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचित्य, कूटस्थ, अचल, नित्यकी, सबके प्रति समवुद्धि रखते हुए, समस्त प्राणियोंके हितमें रत रहते हुए, उपासना करते हैं तो वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।

—गीता १२—३, ४.

..............बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तम्, अव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

वुद्धिसे परे महान् आत्मा है, महान् आत्मासे परे अव्यक्त है, अव्यक्तसे परे पुरुष है। पुरुषसे परे कुछ भी नहीं है। वह पराकाष्ठा है, वह परागति है।

—कठोपनिषद् ३—१०, ११.

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

जिसके लिये सब कुछ भगवान् है ऐसा महात्मा दुर्लभ है।

—गीता ७—१९.

---

[1]गुण, धर्म, आकार, चिह्न आदिसे रहित।—अनुवादक

एक चित्-शक्ति जो सत्में सर्वत्र अंतर्निहित है, छिपी होती हुई भी क्रिया करती रहती है, समस्त लोकोंकी स्रष्ट्री है और इस स्थूल प्रकृतिका गुह्य रहस्यमय स्वरूप है। परंतु हमारे भौतिक जगत्में और स्वयं हमारी सत्तामें चेतनाके दो पक्ष हैं; एक है ज्ञानकी शक्ति और दूसरी है अज्ञानकी शक्ति। ज्ञानस्वरूप अनंत सत्की अनंत चेतनामें ज्ञान उसके कर्मके कण-कणमें अस्पष्ट या स्पष्ट रूपमें विद्यमान रहना चाहिये। परंतु हमें यहां, इस विश्वमें, जो वस्तु समस्त पदार्थोंके प्रारंभमें दिखायी देती है, जो स्रष्ट्री विश्व-ऊर्जाका आधार या स्वभावरूप जान पड़ती है वह है एक निश्चेतना, एक पूरी अविद्या। इसी पूंजीसे भौतिक विश्वका प्रारंभ होता है। इस विश्वमें चेतना और ज्ञान प्रारंभमें अस्पष्ट अत्यणु गतियोंमें, जहां-तहां ऐसे सूक्ष्म ऊर्जाणओंके रूपमें प्रकट होते हैं जो एक साथ संयुक्त हो जाते हैं। फिर मंदगामी और कठिन विकास होता है, चेतनाकी क्रियाओंका धीरे-धीरे बढ़ता हुआ गठन और सुधरता हुआ यंत्र-विन्यास होता है, अविद्याकी कोरी स्लेटपर अधिकाधिक लाभ लिख दिये जाते हैं। परंतु फिर भी वह अज्ञान (अविद्या) ऐसा है जो जानने, समझने, अनुसंधान पाने, धीरे-धीरे और संघर्षके साथ ज्ञानमें परिणत होनेकी चेष्टा करता है और उस अज्ञानकी खोजोंसे एकत्रित हुई अवाप्तियों और रचनाओंकी छाप इन विकास, गठन और यंत्रविन्यासपर रहती है। यहां प्राण, पहले जीवनके अत्यंत सूक्ष्म अणुओंमें, प्राण-रूप और प्राण-ऊर्जाके अणुओंमें, फिर बढ़ते हुए ऐसे समुदायोंमें जो अधिकाधिक जटिल देहोंकी, एक पेचीदे जीवनयंत्रकी सृष्टि करते हैं, सामान्य मृत्युके आधारपर और उसीके परिवेशमें प्रतिष्ठित हो जाता और अपनी क्रियाओंको कठिनाईके साथ चलाता है। तब चेतना भी एक आदि अविद्या और वैश्व अज्ञानके अंधकारमें अपने-आपको प्रतिष्ठित करती और बढ़ते हुए किंतु अस्थिर प्रकाशको बनाये रखती है।

इसके अतिरिक्त हमें जो ज्ञान होता है वह पदार्थोंकी यथार्थताका या सत्ताके आधारोंका नहीं होता अपितु इनके बाहरी, स्थूल रूपोंका होता है। जहां कहीं भी हमारी चेतनाका उस तत्त्वसे संपर्क होता है जो हमें आधार प्रतीत होता है, तो वह आधार यदि शून्य नहीं तो कम-से-कम रिक्त तो प्रतीत होता ही है; यह एक ऐसी आद्या अवस्था है जिसमें कोई भी गुण-धर्म, आकार नहीं है, कुछ भी ऐसा नहीं है जिस कारण यह कहा जा सके कि ये असंख्य परिणाम उसमें अंतर्निहित हैं या जो उनके आविर्भावको न्यायसंगत ठहरा सके अथवा उनकी अवश्यंभाविता दृष्टिगोचर करा सके। वहां अधिरचनाका एक ऐसा पुंज है जो कि मूलभूत सत्तासे कुछ भी स्पष्ट जन्मजात संबंध नहीं रखता। विश्वसत्ताका यह पहला पक्ष एक ऐसा अनंत है जो हमारे प्रत्यक्ष ज्ञानके लिये यदि निर्विशेष्य नहीं तो निर्विशेष तो है ही। इस अनंतमें विश्व चाहे मूल ऊर्जाकी अवस्थामें हो या निर्माणकी अवस्थामें, दोनों अवस्थाओंमें एक निर्विशेष विशेष, एक 'असीम सांत' प्रतीत होता है; ये वचन विरोधाभासी हैं किंतु उनका प्रयोग करना आवश्यक है क्योंकि ये यह संकेत करते हैं कि हम किसी ऐसे अतिबौद्धिक रहस्यके सम्मुख उपस्थित हैं जो समस्त पदार्थोंका आधार है। उस विश्वमें एक विशाल संख्या और विविधताको रखनेवाले सामान्य और विशिष्ट सविशेष (determinates) प्रकट हो जाते हैं; इनके विषयमें यह पता नहीं चलता कि ये कहांसे प्रकट होते हैं, क्योंकि अनंतके स्वभावमें कोई भी

ऐसी वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती जो वहांसे इनके प्रकट होनेका प्रमाण देती जान पड़ती हो; ये उसपर वाहरसे या स्वयं अपने द्वारा अध्यारोपित जान पड़ते हैं। जो ऊर्जा उन्हें उत्पन्न करती है उसे हम प्रकृति नाम देते हैं, परंतु यह शब्द कुछ भी अर्थ नहीं दे सकेगा यदि हम यह न मानें कि पदार्थोंकी जो प्रकृति (स्वभाव) बनी हुई है वह वैसी उस शक्तिके कारण है जो उनके भीतर अंतर्निहित सत्यके अनुसार उन्हें व्यवस्थित करती है; परंतु उस सत्यकी प्रकृति क्या है, ये सविशेष जैसे हैं उनके वैसे होनेका क्या कारण है यह कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। मानव विज्ञानके लिये भौतिक पदार्थोंकी एक प्रक्रिया या अनेक प्रक्रियाओंका ज्ञान प्राप्त करना निःसंदेह संभव हुआ है, परंतु यह ज्ञान मुख्य प्रश्नपर कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। हम आदिम विश्व-प्रक्रियाओंकी युक्तियुक्तताको भी नहीं जानते; कारण हमें उन प्रक्रियाओंके केवल व्यावहारिक और यथाभूत परिणाम ही दिखायी देते हैं, परंतु यह पता नहीं चलता कि उनका होना अवश्यंभावी था। अंतमें हम यह नहीं जानते कि ये सविशेष किस प्रकार अस्तित्वमें आये, अथवा उस आदिम निर्विशेष या निर्विशेष्यसे प्रकट हुए जिसपर कि ये अपने व्यवस्थित रूपमें घटित होनेकी पहेलीको साथमें रखते हुए इस प्रकार खड़े हैं जैसे किसी रिक्त या सपाट पृष्ठ-भूमिपर खड़े हों। पदार्थोंके मूलमें जाते समय हमारे सम्मुख एक ऐसा अनंत उपस्थित होता है जो अव्याख्यात सांतोंके समूहको धारण करता है, ऐसा अविभक्त जो अनंत विभागोंसे भरपूर है, ऐसा अक्षर जो परिवर्तनों और वैलक्षण्योंसे प्रपूर्ण है। एक विश्वीय विरोधाभास समस्त पदार्थोंका आदि है, वह ऐसा विरोधाभास है जिसका तात्पर्य समझनेकी कोई चाभी उपलब्ध नहीं है।

निःसंदेह हम यह जानते हैं कि इस विचारकी कि हमारे निर्मित विश्वको अपने भीतर धारण करनेवाला एक अनंत है, हमारा मन अपने अवधारणोंके रूपमें अनिवार्यतया मांग करता है; कारण मन देश या कालमें अथवा मूल सत्ताके संबंधमें कोई ऐसी सीमा निर्धारित नहीं कर सकता कि जिसके परे अथवा पहले या पीछे कुछ भी न हो। हम यह भी जानते हैं कि इसका दूसरा विकल्प एक शून्यता है जो कि वस्तुतः अनंतकी केवल एक ऐसी अगाधता ही हो सकती है जिसमें दृष्टिपात करना हम अस्वीकार करते हैं। तब भी यह प्रश्न उठ सकता है कि निर्मित विश्वको धारण करनेवाले अनंतको माननेकी क्या आवश्यकता है। क्योंकि जो कुछ भी हमें सत् दिखायी देता है उस सबके आधारके रूपमें अज्ञात अनंतका स्थान असत्‌के एक अनंत रहस्यमय शून्यका एक आवश्यक अभ्युपगम (postulate) ग्रहण कर सकता है। परंतु यदि हम भौतिक विश्वके सीमारहित विस्तारशील सांत और उस (विश्व) के अतिवर्धनशील विशेषोंके सिवाय और किसीको भी यथार्थ मानना अस्वीकार करें तब भी समस्या वही बनी रहती है। अनंत सत्, अनंत असत् या सीमारहित सांत, ये सभी हमारे लिये आदिम निर्विशेष या निर्विशेष्य हैं। हम उन्हें स्पष्ट गुण, धर्म या आकार कुछ भी ऐसा नहीं प्रदान कर सकते जो उनके विशेषोंको पूर्वनिर्धारित करे। विश्वके मूलभूत गुणधर्मके विषयमें यह कहनेसे कि वह देश या काल या देश-काल है हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। कारण ये हमारी बुद्धिकी विविक्तताएं (abstractions) हैं जिन्हें कि हम अपनी मानसिक दृष्टिसे विश्वपर

आरोपित करते हैं, मनके अपने बनाये चित्रणका एक आवश्यक दृश्य हैं; यदि ऐसा न हो तो भी ये दोनों ही निर्विशेष हैं और उनके भीतर कोई भी सूत्र ऐसा नहीं है जो यह बतला सके कि उनमें जो विशेष प्रकट होते हैं उनके प्रकट होनेका उनके भीतर कारण क्या है। जिस रहस्यमयी प्रक्रियासे पदार्थ या उनकी शक्तियां या उनके गुणधर्म धारित होते हैं उसकी उनमें कोई व्याख्या नहीं है, इनके सच्चे स्वभाव, उत्पत्ति-कारण और अर्थवत्ताका कोई प्रकाश नहीं है।

वस्तुतः हमारे भौतिक विज्ञानको इस अनंत या निर्विशेष सत् का ज्ञान एक ऊर्जाके रूपमें होता है; यह ऊर्जा अपने शुद्ध स्वरूपमें हमें ज्ञात नहीं होती अपितु अपने कार्योंके द्वारा ज्ञात होती है। यह ऊर्जा अपनी गतिमें शक्ति (energism) की लहरोंको और उनमें असंख्य सूक्ष्मतम परमाणुओंको उत्पन्न करती है; ये परमाणु एकत्रित होते हुए महदणुओंका रूप धारण करके ऊर्जाकी समस्त सृष्टियोंका आधार होते हैं,; यहांतक कि जो सृष्टियां भौतिक आधारसे अत्यंत दूर हैं, संगठित जड़तत्त्वके जगत्के उन्मज्जनके, प्राणके उन्मज्जनके, चेतनाके उन्मज्जनके, उस सबके जो अभीतक विकासमयी प्रकृतिकी अव्याख्यात क्रियायें हैं, आधार यही परमाणु होते हैं। मूल प्रक्रियासे बहुतसी ऐसी प्रक्रियायें प्रकट होती हैं कि जिनका हम प्रेक्षण कर सकते हैं, अनुसरण कर सकते हैं, जिनमेंसे अनेकसे लाभ उठा सकते हैं, उनका उपयोग कर सकते हैं; परंतु उनमेंसे कोई भी ऐसी नहीं है कि जिसके मूलभूत रहस्यका निर्वचन किया जा सके। हम अब यह जानते हैं कि विद्युत् स्फुल्लिगों (एलैक्ट्रोन-प्रोटोन)के विभिन्न संयोग और संख्यायें, भिन्न-भिन्न स्वभावों, गुणों, शक्तियोंके महदणुओंको उत्पन्न कर सकते हैं अथवा उनके प्रकट होनेमें संघटक सुयोग (occasion) हो सकते हैं; इन्हें हम भूलसे कारण कह देते हैं क्योंकि यहां केवल इतना ही जान पड़ता है कि ये उनके प्रकट होनेकी अवश्य पूर्ववर्त्ती अवस्थायें मात्र हैं। परंतु हम यह नहीं जान पाते कि किस प्रकार ये भिन्न-भिन्न विन्यास (dispositions—संयोग) इन भिन्न-भिन्न परमाणुओंकी रचना कर सकते हैं,—किस प्रकार संघटक सुयोग या कारणमें वैलक्षण्य संघटित परिणाममें वैलक्षण्यको अवश्यंभावी बना देता है। हम यह भी जानते हैं कि कतिपय अदृश्य परमाणुओंके कतिपय संयोग ऐसे नवीन और दृश्य विशेषोंको उत्पन्न करते हैं या उनकी उत्पत्तिमें सुयोग होते हैं जो कि अपने स्वभाव, गुण और शक्तिमें घटक परमाणुओंसे सर्वथा भिन्न होते हैं; परंतु, उदाहरणस्वरूप, हम यह नहीं जान पाते कि किस प्रकार आक्सीजन और हाइड्रोजनके संयोगका एक निश्चित सिद्धांत-सूत्र ऐसे जलके प्रकट होनेको निर्धारित करता है जो कि स्पष्टतया गैसोंके संयोगसे अधिक है, एक नवीन सृष्टि, द्रव्यका एक नवीन रूप, एक सर्वथा भिन्न गुणधर्म रखनेवाली भौतिक अभिव्यक्ति है। हम देखते हैं कि बीज वृक्षके रूपमें परिणत होता है, हम उत्पादनकी क्रम-प्रक्रियाकी दिशाका प्रेक्षणद्वारा अनुसरण करते हैं और उसका उपयोग करते हैं; परंतु हम यह नहीं जान पाते कि वृक्ष बीजसे कैसे उत्पन्न हो सकता है, किस प्रकार वृक्षके प्राण और रूप बीजके द्रव्य या ऊर्जामें अंतर्निहित हो गये हैं अथवा, इसकी अपेक्षा यदि यह तथ्य हो, किस प्रकार बीज वृक्षके रूपमें परिणत हो सकता है। हम यह जानते हैं कि जीन (gene) और क्रोमोजोन (chromosomes) वंशानुगत संचरणोंके कारण हैं, केवल शारीरिक ही नहीं अपितु मानसिक विभिन्नताओंके भी कारण हैं; परंतु

हमें यह पता नहीं चलता कि किस प्रकार मानसिक गुणधर्म इस निश्चेतन जड़वाहनमें धारित और संचारित हो सकते हैं। हम यह देखते या जानते तो नहीं हैं किंतु हमें प्रकृतिकी क्रिया-विधिकी निश्चयात्मक व्याख्याके रूपमें यह बतलाया जाता है कि एलैक्ट्रोनकी, परमाणुओं और उनके बने अणुओंकी, कोषाणुओं, ग्रंथियों, रासायनिक स्रावों और शारीरिक प्रक्रियाओंकी एक क्रीड़ा ऐसी है जो इनकी क्रियाओंके द्वारा शेक्सपीयर या प्लेटोकी तंत्रिकाओं और मस्तिष्कपर ऐसा प्रभाव डालती है कि जो 'हैमलेट'' या 'सिम्पोजियम' या 'रिपब्लिक'की रचना करा देती है अथवा संभवतः रचनाके लिये क्रियात्मक सुयोग बन जाती है। परंतु हमें यह ज्ञान या बोध नहीं होता कि किस प्रकार ऐसी भौतिक गतियोंने इन उच्चतम कोटिके विचार और साहित्य-की रचना कर दी होगी अथवा रचनाको अवश्यंभावी बना दिया होगा। यहां विशेषकों (determinants) और विशेष (determination) में अपसार (divergence) इतना चौड़ा हो जाता है कि हम प्रक्रियाका अनुसरण करनेमें समर्थ नहीं होते, उनका समझना और उपयोग करना तो दूरकी बात रही। विज्ञानके ये सिद्धांतसूत्र व्यवहारमें ठीक और अचूक हो सकते हैं; ये प्रकृतिकी प्रक्रियाओंके स्थूल कारणपर भी नियंत्रण कर सकते हैं, परंतु ये उनके आंतरिक 'क्यों' और 'कैसे' को प्रकट नहीं करते। इसकी अपेक्षा ऐसा प्रतीत होता है कि ये किसी विश्वीय जादूगरके ऐसे सिद्धांतसूत्र हैं जो सुनिश्चित, अरोध्य हैं, इनमेंसे प्रत्येक अपने क्षेत्रमें स्वतः सफल है परंतु इनकी हेतुमत्ता मूलभूत रूपमें अबोध्य है।

इसके अतिरिक्त और भी उलझनमें डालनेवाली बातें हैं। कारण हम देखते हैं कि आद्या निर्विशेष ऊर्जा अपने सामान्य सविशेषोंको प्रकट करती है; इन सविशेषोंके द्रव्यकी समुचित अव-स्थाएं और निर्धारित रूप होते हैं; जब हम इन सामान्य सविशेषोंको इनके विभिन्न उत्पादनोंके संबंधमें देखते हैं तो समान रूपमें इन्हें भी सामान्य निर्विशेष कह सकते हैं। ये सामान्य सविशेष अपनी आधारभूत द्रव्य-ऊर्जापर बहुसंख्यक, कभी-कभी असंख्य विभिन्नताएं हैं, परंतु इन विभिन्नताओंमेंसे कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जान पड़ती जो सामान्य निर्विशेषके स्वभाव-के भीतरके किसी तत्त्वसे पूर्वनियत होती हो। एक ही वैद्युतिक ऊर्जा अपने ऐसे धन, ऋण और उदासीन रूपोंको उत्पन्न करती है जो कि एक साथ तरंगें भी हैं और कण (particles) भी। ऊर्जा-द्रव्यकी एक ही वायवीय (गैसीय) अवस्था बहुतसी भिन्न-भिन्न गैसोंको उत्पन्न कर देती है। ऊर्जा-द्रव्यकी एक ही घनीभूत अवस्था जिसमेंसे भूमि-तत्त्व प्रकट होता है, विभिन्न प्रकारकी मिट्टी, चट्टान, खनिज और धातुओंका रूप धारण कर लेती है। एक ही प्राणतत्त्व अपने ऐसे वनस्पति जगत्‌को उत्पन्न करता है जो असंख्य प्रकारके सर्वथा भिन्न पौदों, वृक्षों, फूलों-से भरपूर है। एक ही प्राणि-जीवन-तत्त्व बहुत प्रकारकी जाति, उपजाति और व्यक्तिगत भेदों-को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार वह प्राणि-जीवन-तत्त्व मानव जीवन और मन और उसके मानसिक प्ररूपों (types) की रचना करता हुआ उस असमाप्त विकासमान अध्यायके अभी-तक अलिखित अंत अथवा संभवतः अभीतक गुह्य उत्तर भागकी ओर गति कर रहा है। वहां सर्वत्र यह नियम अविच्छिन्न रूपमें दिखायी देता है कि आदि सविशेषकी एक सामान्य एकरूपता (sameness) विद्यमान है और इस आधारभूत द्रव्य और स्वभावकी द्रव्यगत एकरूपताके

आधीन, जातीय और व्यक्तिगत सविशेषोंमें एक अत्यधिक विभिन्नता है। असंख्य विभिन्नताओं-को और वहुधा व्यक्तिमें अत्यधिक सावधान विवरणको रखनेवाली जाति या उपजातिमें एक-रूपता या सदृशतासे एक सर्वसम (identical) नियम प्राप्त होता है। परंतु हम किसी भी सामान्य या जातीय सविशेषमें कोई भी ऐसी बात नहीं पाते जो यह बतला सके कि उन विभिन्न विशेषोंका परिणत होना अवश्यंभावी था। अपरिवर्तनीय एकरूपताकी एक अवश्यं-भाविता का आधारमें होना और स्वतंत्र एवं दुर्ज्ञेय विभिन्नताओंका उत्तलपर होना नियम जान पड़ता है, परंतु कौन या क्या इन्हें अवश्यंभावी वनाता या निर्धारित करता है? निर्विशेषसे सविशेषके प्रकट होनेकी हेतुमत्ता (rationale) क्या है, उसका मूल सत्य या सार्थकता क्या है? जो विभिन्न संभावनाएं जो कि सृष्टिके सौंदर्य या आनंदके सिवाय और कुछ भी लक्ष्य या अर्थ रखती नहीं जान पड़तीं, उनकी इस उल्लासपूर्ण क्रीड़ाको कौन विवश या प्रेरित करता है? कोई मन, कोई खोजक और कुतूहली आविष्कार-कुशल बुद्धि, कोई निभृत नियामिका इच्छा वहां हो सकती है, परंतु भौतिक प्रकृतिके सर्वप्रथम और मूलभूत रूपमें इनका कुछ भी चिह्न नहीं है।

इन कठिनाइयोंका सर्वप्रथम संभव समाधान यह संकेत करता है कि इस समस्त सृष्टिके मूलमें कोई आत्म-संगठनकारिणी क्रियात्मक यदृच्छा (dynamic chance) क्रिया कर रही है; निःसंदेह यह एक विरोधाभास है किंतु इसकी आवश्यकता इस कारण हुई है कि जिस विश्व-प्रपंचको हम प्रकृति कहते हैं, उसकी एक ओर एक अनिवार्य व्यवस्था दिखायी देती है और दूसरी ओर रहस्यमयी सनक (freak) और कपोल-कल्पना (fantasy)। हम यह कह सकते हैं कि कोई निश्चेतन और क्रमविहीन शक्ति जो किसी भी नियामक सिद्धांतके बिना ऊटपटांग क्रिया करती हुई एक सामान्य यदृच्छासे कभी इस पदार्थकी और कभी दूसरेकी सृष्टि कर देती है; केवल यह शक्ति प्रकृतिकी ऊर्जा है। उसकी क्रियाके एकरूप (same) छंदकी निरंतर आवृत्तिके परिणामस्वरूप ही विशेष प्रकट होते हैं; और चूंकि यह पुनरावर्तन-शील छंद पदार्थोंके अस्तित्व वनाये रखनेमें सफल हो जाता है केवल इस कारण ही ये एक-दूसरेके अनुवर्त्ती होते हैं। परंतु इस व्याख्यासे यह सूचित होता है कि पदार्थोंके मूलमें कहीं-न-कहीं एक असीम संभावना है अथवा ऐसी असंख्य संभावनाओंका गर्भाशय है जो मूल ऊर्जाके द्वारा उस गर्भाशयसे अभिव्यक्त होती हैं,—यह मूल ऊर्जा कोई ऐसी अमेय निश्चेतना है कि जिसे सत् या असत् दोनोंमेंसे कुछ भी निश्चित रूपसे कहनेमें हमें कठिनाई होती है। कारण बिना किसी ऐसे मूल या आधारके यह बोधगम्य होना संभव नहीं कि किस प्रकार यह ऊर्जा प्रकट होती है और कर्म करती है। तब भी विश्व-प्रपंचको जिस रूपमें हम देखते हैं उसके स्वभाव-का एक विपरीत पक्ष होता है जो हमें इस मतको माननेसे रोकता है कि कोई यादृच्छिक (random) कर्म स्थायी व्यवस्थाको उत्पन्न कर देता है। वहां हम देखते हैं कि व्यवस्था पर, संभावनाओंके आधारभूत नियमके ऊपर अत्यधिक कठोर आग्रह है। इस आग्रहको देखते हुए यह कल्पना करना न्यायोचित होगा कि पदार्थोंका कोई ऐसा अंतर्निहित नियोजक सत्य है जिसे हम नहीं देखते, किंतु वह विविध प्रकारकी अभिव्यक्तिमें समर्थ है; वह सत्य अपनी ऐसी असंख्य संभावनाओं और विभिन्नताओंको प्रकट कर रहा है जिन्हें कि सृष्टिकारिणी ऊर्जा अपने

कर्मके द्वारा वहुत-सी संसिद्ध वास्तविकताओंके रूपमें परिणत कर देती है। यह हमें दूसरी व्याख्या प्रदान करता है; वह व्याख्या यह है कि पदार्थोंमें एक यांत्रिक अवश्यंभाविता है जिस-की क्रियाओंको हम प्रकृतिके अनेक यांत्रिक नियमोंके रूपमें मानते हैं; उस अवश्यंभाविताके विषयमें हम यह कह सकते हैं कि वह पदार्थोंके किसी ऐसे अंतर्निहित सत्यकी अवश्यंभाविता है, जैसा कि हमने माना हुआ है, जो सत्य विश्वमें होनेवाले कर्ममें दृष्टिगोचर होनेवाली प्रक्रियाओंका स्वयमेव नियंत्रण करता है। परंतु केवल यांत्रिक अवश्यंभाविताका सिद्धांत उन अनंत रहस्यमयी विभिन्नताओंकी स्वतंत्र क्रीड़ाका स्पष्टीकरण नहीं करता जो कि हमें विकासमें दृष्टिगोचर होती है। अवश्यंभाविताके पीछे या भीतर ऐक्यका एक ऐसा नियम होना चाहिये जो अपने साथ सहवर्त्ती किंतु अपने ऊपर आश्रित वहुत्वके नियमसे जुड़ा हुआ हो, और ये दोनों अभिव्यक्तिपर आग्रह करते हों। परंतु प्रश्न होता है कि किसका ऐक्य और किसका वहुत्व ? यांत्रिक अवश्यंभाविता इसका कुछ भी उत्तर नहीं दे सकती। इसके अतिरिक्त इस सिद्धांतके मार्गमें निश्चेतनासे चेतनाका उन्मज्जन एक वाधा है; कारण वह एक ऐसी घटना है जो नि-श्चेतन यांत्रिक अवश्यंभाविताके सर्वव्यापी सत्यमें कुछ भी स्थान नहीं रख सकती। यदि कोई ऐसी अवश्यंभाविता है जो चेतनाके उन्मज्जनको विवश करती है तो वह केवल यही हो सकती है कि निश्चेतनामें पहलेसे ही छिपी हुई एक ऐसी चेतना है जो विकासकी प्रतीक्षा कर रही होती है और जव परिस्थितियां तैयार हो जाती हैं तो दिखावटी अविद्याकी जेवसे वाहर निकल आती है। निःसंदेह, हम पदार्थोंकी अनिवार्य क्रम-व्यवस्थाकी कठिनाईसे यह मानकर पीछा छुड़ा सकते हैं कि इस अनिवार्य क्रम-व्यवस्थाका अस्तित्व ही नहीं है; प्रकृतिके नियतवादको हमारे विचारने उस प्रकृतिपर इस कारण आरोपित किया हुआ है कि उस विचारको अपने परिपार्श्वोंसे व्यवहार करनेके लिये समर्थ वनानेमें उसकी आवश्यकता पड़ती है, परंतु यथार्थमें नियतवाद जैसी कोई वस्तु नहीं है; केवल एक शक्ति है जो अपने अत्यणुओंके यादृच्छिक कर्मके द्वारा परीक्षण कर रही है; ये अत्यणु अपने कर्मसमूहमें क्रिया करनेवाले आवर्त्तनशील अनुलंवके द्वारा अपने सामान्य परिणामोंके रूपमें भिन्न-भिन्न नियतकारी विशेषोंका निर्माण करते हैं। इस प्रकार हम अपनी सत्ताके आधारके रूपमें अवश्यंभावितासे फिर यदृच्छापर जा पहुंचते हैं। परंतु यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि यह मन, यह चेतना क्या है जो अपने-आपको उत्पन्न करने-वाली ऊर्जासे इतनी अधिक आमूल-चूल भिन्न है कि उस ऊर्जाने जिस जगत्को वनाया है और जिसमें उसे (मन, चेतनाको) विवश होकर रहना होता है उस जगत्पर, अपने कर्मके लिये उसे अपने विचार और क्रम-व्यवस्थाकी आवश्यकताको थोपना पड़ता है। इस प्रकार यहां दो विरोध आ जाते हैं; पहला यह कि मूलतः निश्चेतनासे चेतना उन्मज्जित होती है; दूसरा यह कि अचेतन यदृच्छासे सृष्ट जगत्के देदीप्यमान अंतिम परिणामस्वरूप एक व्यवस्था और विवेक रखनेवाला मन अभिव्यक्त होता है। ये वस्तुएं संभव हो सकती हैं, परंतु इससे पहले कि हम इन्हें अपनी स्वीकृति प्रदान करें, ये अभीतक दी गयी व्याख्याकी अपेक्षा किसी अच्छी व्याख्याकी मांग करती हैं।

यह प्रश्न दूसरी ऐसी व्याख्याओंके मार्गको खोल देता है जो यह वतलाती हैं कि वह चेतना है जो आपाततः आद्या निश्चेतनाके भीतरसे इस जगत्की सृष्टि करती है। ऐसा प्रतीत

होता है कि किसी मनने, किसी इच्छाने विश्वकी कल्पना की और उसका गठन किया है, परंतु उसने अपने-आपको अपनी सृष्टिके पीछे छिपा लिया है; उसका सबसे पहला उच्छ्रयण (erection) होता है यह निश्चेतन ऊर्जा-रूप पर्दा और द्रव्यका एक भौतिक रूप; यह एक ओर तो उसकी विद्यमानताको छिपाता है और दूसरी ओर ऐसा नमनशील सृजनक्षम आधार होता है जिसपर कि वह कार्य कर सके, जैसे कि कोई कुंभकार जैसा शिल्पी अपने रूपों और प्रतिमानोंको उत्पन्न करनेके लिये एक मूक और आज्ञापालक मृत्तिका-जैसे पदार्थका उपयोग करता है। इस प्रकार हम अपने चारों ओर जिन पदार्थोंको देखते हैं वे सब एक विश्व-बाह्य ईश्वरके विचार हैं; वह ऐसा पुरुष है जो सर्वशक्ति और सर्वज्ञानसे संपन्न मन और इच्छाको रखता है; वह भौतिक विश्वके गणितीय नियमके लिये, उसके सौंदर्यके कला-कौशलके लिये उत्तरदायी है; वह उसकी एकरूपता (sameness) और विभिन्नताकी, संगति और असंगतिकी, संयुक्त होने और परस्पर मिश्रित होनेवाले विरोधियोंकी क्रीड़ाके लिये उत्तरदायी है; वही चेतनाके उस नाटकके लिये उत्तरदायी है जिसमें वह अचेतन विश्वव्यापी व्यवस्थाके भीतर अपना अस्तित्व रखनेके लिये संघर्ष करती है और अपने-आपको प्रतिष्ठित करनेके लिये चेष्टा करती है। यह तथ्य कि यह ईश्वर हमें दिखायी नहीं देता, हमारे मन और इन्द्रियोंसे ज्ञात नहीं होता, हमारे सामने कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करता, क्योंकि विश्व-बाह्य स्रष्टाके स्वप्रकाश अथवा प्रत्यक्ष चिह्नकी आशा ऐसे विश्वमें नहीं की जा सकती जो उसकी उपस्थितिसे रहित है। उसकी प्रज्ञाके कार्यों, नियम, अभिकल्प (design), सिद्धांतसूत्र, उद्देश्यके अनुकूल साधन, अविच्छिन्न और निःसीम आविष्कार, व्यवस्थापिका बुद्धिसे नियंत्रित कपोलकल्पना (fantasy) के कार्योंके सुस्पष्ट संकेत जो सर्वत्र दिखायी देते हैं, वे पदार्थोंके मूल कारणके लिये पर्याप्त प्रमाण माने जा सकते हैं। अथवा यदि यह स्रष्टा सर्वथा विश्वसे बाहर न हो अपितु अपने कार्योंमें अंतःस्थ भी हो, तब भी उसका कोई दूसरा चिह्न होना आवश्यक नहीं है, उसका कोई दूसरा चिह्न केवल किसी ऐसी चेतनाके लिये हो सकता है जो इस निश्चेतन जगत्‌में विकसित हो रही है, किंतु यह तभी हो सकता है जब कि उसका विकास एक ऐसी भूमिकापर पहुंच जाय जहांपर कि वह अंतःस्थ भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त कर सके। इस विकासमान चेतनाका बीचमें आ जाना कठिन नहीं होगा, क्योंकि उसके प्रकट होनेमें पदार्थोंके आधारभूत स्वभावका व्याघात नहीं होगा; सर्वशक्तिमान् मन अपने एक अंशको अपने जीवोंमें सरलतापूर्वक भर सकता है। एक कठिनाई शेष रह जाती है; वह है सृष्टिके स्वभावकी स्वेच्छाचारिता, उसके उद्देश्यकी अबोध्यता, उसके अनावश्यक अज्ञान, संघर्ष और दुःखके नियमकी भद्दी निरर्थकता, उसका बिना किसी परिणाम या फलके अंत हो जाना। यह कहा जा सकता है कि यह उसकी लीला, क्रीड़ा है। परंतु जिसका स्वभाव दिव्य माना जाना चाहिये उसकी क्रीड़ामें इतने अधिक अदिव्य तत्त्वों और गुण-धर्मोंकी छाप क्यों है? परंतु इस विषयमें जो यह सुझाव दिया जा सकता है कि जो कुछ हमें विश्वमें दिखायी देता है वह सब ईश्वरके विचारोंका परिणाम है, और उसके ही विचार रहें, इस विषयमें हमें प्रश्न नहीं करना चाहिये, इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि ईश्वर इनकी अपेक्षा उत्तम विचार भी तो रख सकता था और सर्वोत्तम विचार तो यही होता कि

वह ऐसे दुःखमय और अबोध्य विश्वकी सृष्टि ही न करता। विश्व-वाह्य स्रष्टाको माननेपर विश्व-सत्ताकी जितनी भी ईश्वरवादी व्याख्याएं दी जाती हैं वे सब इस कठिनाईके सामने लड़-खड़ा जाती हैं और केवल इसकी टालमटोल ही कर सकती हैं। यह कठिनाई केवल तभी दूर हो सकती है जब कि स्रष्टा, सृष्टिसे अतीत होते हुए भी उसमें अंतःस्थ हो, स्वयं ही किसी-न-किसी प्रकार क्रीड़क और क्रीड़ा, अभिनेता और अभिनय हो, ऐसा अनंत हो जो अनंत संभावनाओंको विकासमान विश्व-व्यवस्थाके सुनिर्धारित रूपमें ढाल रहा हो।

उस प्राक्कल्पना (hypothesis)के अनुसार, भौतिक ऊर्जाके कर्मके पीछे एक ऐसी निगूढ़ अंतर्भूत वैश्व, अनंत चेतना विद्यमान होनी चाहिये जो उस ऊर्जाको सामने रखकर उसके कर्मके द्वारा अपनी विकासशील अभिव्यक्तिके साधनोंका निर्माण कर रही है; इस प्रकार यह अभिव्यक्ति उस अनंत चेतनाकी भौतिक विश्वके सीमारहित सांतमें अपनेसे सृष्टि है। भौतिक ऊर्जाकी जो यह आपातदृष्ट निश्चेतना है वह भौतिक जगत्-द्रव्यके निर्माणके लिये अपरिहार्य अवस्था होगी; कारण इसमें चेतना अपने-आपको अंतर्भूत करना चाहती है जिससे कि वह अपने आपाततः विरोधीमेंसे विकासके द्वारा प्रकट हो सके। क्योंकि किसी ऐसी योजना-युक्तिके बिना पूर्ण अंतर्भाव असंभव होगा। यदि अनंतके द्वारा अपनेसे कोई ऐसी सृष्टि हो तो वह एक भौतिक छद्मवेशमें, उसके अपने स्वरूपके सत्यों या शक्तियोंकी अभिव्यक्ति होनी चाहिये। इन सत्यों और शक्तियोंके रूप या वाहन वे सामान्य या मूलभूत सविशेष होंगे जो हमें प्रकृतिमें दिखायी देते हैं; विशिष्ट सविशेष उन संभावनाओंके समुपयुक्त रूप या वाहन होंगे जिन्हें (संभावनाओंको) कि इन मूलभूत सविशेषोंके भीतर निवास करनेवाले सत्यों या शक्तियोंने अपने भीतर धारण किया; ऐसा माने विना इस बातका कोई हेतु नहीं ज्ञात होगा कि ये विशिष्ट सविशेष जो कि इतनी भिन्नता रखते हैं अस्पष्ट सामान्य उपादानसे किस प्रकार उत्पन्न हो गये। संभावनाओंकी स्वतंत्र विभिन्नताका तत्त्व जो कि अनंत चेतनाके लिये स्वाभाविक है प्रकृतिकी क्रियाओंमें दृष्टिगोचर होनेवाली निश्चेतन यदृच्छाके पक्षकी व्याख्या होगा। यह यदृच्छा आपाततः ही निश्चेतन है और ऐसी इस कारण प्रतीत होती है क्योंकि अंतर्गूढ़ चेतनाने अपने-आपको भौतिक तत्त्वमें पूरी तरह अंतर्भूत किया है, और क्योंकि उस चेतनाने अपनी उपस्थितिको निश्चेतनाके पर्देसे छिपाया है। इस यदृच्छाके विपरीत प्रकृतिमें जो हमें यांत्रिक अवश्यंभाविता दिखलायी देती है उस पक्षकी व्याख्या होगी अनंतके उन सत्यों, यथार्थ शक्तियोंका तत्त्व जो अनिवार्यतया अपने-आपको परिपूर्ण कर रहे हैं; यह अवश्यंभाविता केवल आपाततः ही यांत्रिक है और ऐसी इस कारण प्रतीत होती है कि चेतनाने अपने-आपको निश्चेतनाके उसी पर्देसे छिपाया है। ऐसी दशामें यह पूरी तरह बोधगम्य हो जायगा कि निश्चेतन प्रकृति अपने कार्यों-को क्यों गणितीय वास्तुकला (architecture) के नियमके अनुसार करती है; क्योंकि उसके कार्योंमें अभिकल्प (design), संख्याओंका कार्यसाधक विन्यास, साध्योंके प्रति साधनोंका अनु-कूलन, असीम योजना-युक्ति और आविष्कार, दूसरे शब्दोंमें निरंतर परीक्षणात्मक कुशलता और उद्देश्यकी स्वतःक्रिया (automatism) विद्यमान है। तब आपाततः निश्चेतनासे चेतनाकी अभिव्यक्ति अव्याख्येय नहीं रह जायगी।

यदि यह प्राक्कलन युक्तियुक्त (tenable) सिद्ध हो जाता है तो प्रकृतिकी समस्त अव्याख्यात प्रक्रियाएं अपने अर्थ और यथातथ स्थानको प्राप्त कर लेंगी। ऐसा प्रतीत होता है कि ऊर्जा द्रव्यको सृष्ट करती है, परंतु यथार्थमें, जैसे सत्ता (सत्) चित्-शक्तिके भीतर अंतर्निहित है, वैसे ही द्रव्य भी ऊर्जामें अंतर्निहित होगा; अतः जैसे ऊर्जा शक्तिकी एक अभिव्यक्ति है, वैसे ही द्रव्य अंतर्गूढ़ सत् (सत्ता) की एक अभिव्यक्ति है। परंतु, वह चूंकि आध्यात्मिक द्रव्य है, इस कारण वह भौतिक इंद्रियोंसे तबतक गृहीत नहीं होगा जबतक कि वह ऊर्जाके द्वारा इन्द्रियग्राह्य भौतिक द्रव्यके रूपोंमें परिणत नहीं कर दिया जाता। तब हम यह भी समझने लगते हैं कि किस प्रकार अभिकल्प, परिमाण और संख्याका विन्यास गुण और धर्मकी अभिव्यक्तिका आधार हो सकता है; कारण, अभिकल्प, परिमाण और संख्या सत्-द्रव्यकी उपशक्तियां हैं, गुण और धर्म सत्में रहनेवाली चेतना और उसकी शक्तिकी उपशक्तियां हैं; वे द्रव्यकी क्रियाके छंदके द्वारा अभिव्यक्त और सक्रिय बनायी जा सकती हैं। बीजसे वृक्षकी उत्पत्तिकी व्याख्या तत्सदृश दूसरी समस्त घटनाओंके समान, जिसे हमने सत्य संकल्प (Real-Idea) कहा है उसकी अंतःस्थ उपस्थितिके द्वारा की जा सकती है; अनंत जो अपनी दृष्टिमें किसी विशिष्ट रूपको प्रत्यक्ष करता है वह प्रत्यक्ष, अर्थात् अनंतकी सत्ताकी उपशक्तिकी वह सजीव देह जिसे ऊर्जा-द्रव्यके भीतर अपनी आत्म-संयोजित अवस्थासे उन्मज्जित होना है, अंतरंगतया बीजके रूपके भीतर ले जायी जायगी, उस रूपके भीतर अंतर्भूत गुह्य चेतनामें ले जायी जायगी, और स्वभावतः उससे विकसित होगी। इसी प्रकार इस सिद्धांतके आधारपर यह समझनेमें भी कोई कठिनाई न होगी कि किस प्रकार जीन (gene) और क्रोमोजोम (पित्र्यसूत्र–chromosome) जैसे भौतिक स्वभाव रखनेवाले अत्यणु अपने भीतर उन मानसिक तत्त्वोंको ले जा सकते हैं जिन्हें मानव बीजसे प्रकट होनेवाले दैहिक रूपमें संचारित होना है। हम यह देखते हैं कि अवचेतन देह अपनेमें मानसिक मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंको अतीत घटनाओंके संस्कारों, चिर-अभ्यासों, सुस्थिर मानसिक और प्राणिक विरचनाओं, चरित्रके सुस्थिर रूपोंको अपने भीतर धारण करती है और एक गुह्य प्रक्रियाके द्वारा जागृत चेतनामें भेजती है और इस प्रकार हमारे स्वभावकी अनेक क्रियाओंको उत्पन्न या प्रभावित करती है। इस प्रकार जैसा हम अपने आंतरिक अनुभवमें पाते हैं, मूलतः उसी सिद्धांतके आधारपर बाहरी भौतिक द्रव्यमें भी संचार संभव है।

इसी आधारपर यह समझनेमें कोई कठिनाई न होगी कि किस प्रकार देहकी शरीरक्रियात्मक क्रियाएं मनके मनोवैज्ञानिक कर्मोंके निर्धारित होनेमें सहायता करती हैं। कारण शरीर केवल अचेतन भौतिक द्रव्य नहीं है; वह एक ऐसी ऊर्जाकी रचना है जिसके भीतर चेतना छिपी है और जिसने वह रूप धारण किया है। शरीर गुह्य रूपमें सचेतन होते हुए साथ ही उस सुव्यक्त चेतनाकी अभिव्यक्तिका वाहन है जो हमारे शारीरिक ऊर्जा-द्रव्यमें प्रकट हुई है और आत्मज्ञान रखती है। शरीरकी क्रियाएं इस मनोमय निवासी (पुरुष) की क्रियाओंके लिये आवश्यक यंत्र या उपकरण हैं; देहरूप उपकरणमें उन्मज्जन करता हुआ, विकास करता हुआ, चेतन पुरुष उसे गति देकर ही अपनी मानसिक विरचनाओं और इच्छा विरचनाओंका उसमें संचार

कर सकता है और इस प्रकार उन्हें देहके द्वारा प्रकट करता हुआ अपने-आपको भौतिक द्रव्यमें अभिव्यक्त कर सकता है। उपकरणकी क्षमता, प्रक्रियामें कुछ सीमातक मानस-विरचनाओंको जब कि वे मानस-आकारसे दैहिक अभिव्यक्तिमें संक्रांत होती हैं, नवीन आकार प्रदान कर देती हैं; इससे पहले कि वह अभिव्यक्ति वास्तविक रूप धारण करे उपकरणकी क्रियाएं अनिवार्य हैं और उन्हें अपना प्रभाव डालना ही चाहिये। देहरूप उपकरण कुछ दिशाओंमें अपने उपयोगकर्त्तापर प्रभुत्व भी कर सकता हैं; इससे पहले कि क्रियाशील मन और इच्छा उसपर नियंत्रण या उसमें हस्तक्षेप कर सकें देह चिरअभ्यासकी शक्तिके द्वारा अपने भीतर निवास करनेवाली चेतनाकी अनैच्छिक प्रतिक्रियाओंका संकेत कर सकता है या उन्हें सृष्ट कर सकता है। यह सब इस कारण संभव है कि शरीर स्वयं अपनी ऐसी अवचेतन चेतना रखता है जो हमारी समग्र अभिव्यक्तिमें स्थान रखती है। यदि हम केवल इस बाहरी उपकरणपर ही ध्यान दें तो हम इस परिणामपर पहुंच सकते हैं कि शरीर मनको नियत करता है; परंतु यह केवल गौण सत्य है, मुख्य सत्य यह है कि मन ही शरीरको नियत करता है। इस दृष्टिके अनुसार एक अधिक गंभीर सत्य बोधगम्य हो जाता है; एक अध्यात्म पुरुष जो अपने-आपको आवृत करनेवाले द्रव्यको आत्मवान् करता है, मूलतः मन और शरीर दोनोंका नियामक है। दूसरी ओर, प्रक्रियाकी विपरीत व्यवस्थामें, जिस प्रक्रियाके द्वारा मन अपने विचारों और आदेशोंका शरीरमें संचार कर सकता है, उसके ही द्वारा वह उसे नवीन कर्मका उपकरण होनेके लिये भी शिक्षित कर सकता है; उस प्रक्रियाके द्वारा वह अपनी चिर-अभ्यस्त मांगों और आज्ञाओंसे शरीरको इस प्रकार प्रभावित कर सकता है कि शारीरिक सहज-प्रवृत्ति उनका स्वतः ही पालन करती है, भले ही मन अब उनकी सचेतन भावसे इच्छा न भी करता हो। और भी ऐसी असाधारण किंतु भली-भांति अभिप्रमाणित (attested) प्रक्रियाएं हैं जिनके द्वारा मन एक अद्‌भुत और कठिनाईसे सीमाबद्ध होनेवाले विस्तारतक शरीरकी प्रतिक्रियाओंको नियत करना सीख सकता है, यहांतक कि कर्मके सामान्य नियम या अवबंधोंका अतिक्रमण करके भी। हमारी सत्ताके इन दो तत्त्वोंके बीचके संबंधके ये और दूसरे अबोध्य पक्ष बोधगम्य हो जाते हैं। कारण सजीव भौतिक द्रव्यके भीतर रहनेवाली वह निगूढ़ चेतना है जो अपने महत्तर साथीसे आदेश ग्रहण करती है; शरीरके भीतर यही चेतना है जो अपने निजी अंतर्भूत और गुह्य ढंगमें अपनेसे की जानेवाली मांगको प्रत्यक्ष या संप्रतीत करती है और शरीरपर अधिष्ठित उन्मज्जित या विकसित चेतनाका आदेश-पालन करती है। अंतमें, विश्वकी सृष्टि करनेवाले दिव्य मन और दिव्य इच्छाका विचार न्यायसंगत हो जाता है; इसके साथ-साथ इस विचारमें जो उलझनमें डालनेवाले तत्त्व हैं, जिन्हें हमारा युक्तिप्रिय मन स्रष्टा के स्वच्छंद आदेशके मत्थे मढ़ना अस्वीकार करता है, अपनी व्याख्याएं प्राप्त कर लेते हैं: वह व्याख्या यह है कि जो चेतना कठिनाईके साथ अपने विरोधी तत्त्वमेंसे उन्मज्जित हो रही है, उसका उद्देश्य इन विपरीत घटनाओंका अतिक्रमण कर जाना और मंदगामी और कठिन विकासके द्वारा अपनी महत्तर यथार्थता और सच्ची प्रकृतिको अभिव्यक्त करना है, अतः उसके लिये वे घटनाएं अनिवार्य हैं।

परंतु सत्ताके अंतिम छोर जड़तत्त्वसे जब हम जाननेका प्रयत्न करते हैं तो हमें इस

प्राक्कल्पना (hypothesis) के लिये कोई भी निश्चित प्रमाण नहीं मिलता और न प्रकृति और उसकी प्रक्रियाके लिये कोई दूसरी व्याख्या मिलती है; आद्या निश्चेतनाने जो पर्दा डाला है वह इतना अधिक मोटा है कि मन उसे भेद करके भीतर नहीं प्रवेश कर सकता और उस पर्देके पीछे ही अभिव्यक्त पदार्थोंका रहस्यमय कारण छिपा रहता है; प्रकृतिके भौतिक अग्रभागमें जो घटनाएं और प्रक्रियाएं हमें दृष्टिगोचर होती हैं उनमें अंतर्निहित सत्य और शक्तियां उस पर्देके पीछे ही स्थित रहती हैं। महत्तर निश्चयताके साथ जाननेके लिये हमें विकासशील चेतनाकी टेढ़ी रेखाका उस समयतक अनुसरण करना होगा जबतक कि वह आत्मप्रकाशकी उस उच्चता और विशालतापर नहीं पहुंच जाती जिसमें कि आद्य रहस्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है; कारण हम यह प्रकल्पना कर सकते हैं कि गुह्य आद्या चेतनाने प्रारंभसे ही जो कुछ पदार्थोंके भीतर निहित था और जिसकी कि वह विकासशील चेतना एक क्रमिक अभिव्यक्ति है उसे उस चेतनाको विकसित करना चाहिये और अंततोगत्वा वह प्रकट करेगी। यह स्पष्ट है कि प्राण (वनस्पति) में सत्यको खोजना व्यर्थ होगा। कारण, प्राण अपनी ऐसी रचनासे प्रारंभ होता है जिसमें कि चेतना अभीतक अवमानस है और इसलिये हमारे जैसे मनोमय प्राणियोंको निश्चेतन या अधिक-से-अधिक अवचेतन प्रतीत होती है, और प्राणकी इस भूमिकामें, जब कि हम बाहरसे इसका अध्ययन करते हैं, हमारी निगूढ़ सत्यकी खोज भौतिक द्रव्यकी परीक्षासे अधिक फलप्रद नहीं हो सकती। जब प्राणमें मन विकसित हो जाता है तो वहां (पशुमें) उसका प्रथम क्रियाशील रूप होता है एक ऐसा मन जो क्रियामें, अर्थात् प्राणिक और दैहिक आवश्यकताओं एवं भोगोंमें, अंतर्वेगों, कामनाओं, संवेदनों, आवेगोंमें ग्रस्त होता है; वह इन वस्तुओंसे तटस्थ खड़ा होकर इनका प्रेक्षण करने और इन्हें जाननेमें असमर्थ होता है। मानवीय मनमें समझने, आविर्ज्ञान करने और स्वतंत्रतापूर्वक बोध करनेकी पहली आशा विद्यमान है; यहां हम आत्मज्ञान और विश्व-ज्ञानकी संभावनापर आते प्रतीत होते हैं। परंतु वास्तवमें हमारा मन प्रारंभमें तथ्य और युक्तियों-का केवल प्रेक्षणमात्र कर सकता है और शेषके लिये उसे निगमन और अनुमान करने पड़ते हैं, प्राक्कल्पनाएं करनी पड़ती हैं, तर्क करना और चिंतन करना पड़ता है। चेतनाके रहस्य-को जाननेके लिये उसे अपने-आपको जानना होगा और अपनी सत्ता और प्रक्रियाकी यथार्थता-का निर्णय करना होगा; परंतु जैसे पशुजीवनमें उन्मज्जमान चेतना प्राणिक क्रिया और गतिमें अंतर्ग्रस्त रहती है, इसी प्रकार मनुष्यमें मनोमयी चेतना स्वयं अपनी ही विचारधाराके भंवरमें फंसी रहती है; यह विचारधारा एक ऐसी क्रिया है जिसमें कि मानस-चेतना अविरत भावसे बहायी ले जायी जाती है; इस धारामें मानस-चेतनाके तर्क और परिकल्पनाओंकी प्रवृत्ति, झुकाव, अवस्थाओंका निर्धारण होता है उस चेतनाके ही अपने स्वभाव, मानसिक घुमावके द्वारा, अपनी अतीत कालमें बनी रचना और ऊर्जाकी दिशाके द्वारा, अपनी प्रवणता, अभिरुचिके द्वारा, एक सहज-स्वाभाविक निर्वाचन के द्वारा—हम अपनी विचारणाको स्वाधीनतापूर्वक पदार्थोंके सत्यके अनुसार निर्धारित नहीं करते, वह हमारी प्रकृतिके द्वारा हमारे लिये निर्धारित की जाती है। निःसंदेह हम एक प्रकारकी तटस्थताके द्वारा पृथक् खड़े हो सकते हैं और अपने भीतर मानस-ऊर्जाकी क्रियाओंका प्रेक्षण कर सकते हैं: परंतु हम उसकी केवल प्रक्रियाको ही

देखते हैं, अपने मानसिक निर्धारणोंके किसी भी मूल कारणको नहीं देखते; हम मनकी प्रक्रिया-के सिद्धांतों और प्राक्कल्पनाओंकी रचना कर सकते हैं, किंतु हमारे स्वरूपके, हमारी चेतनाके, हमारी समग्र प्रकृतिके भीतरी रहस्यके ऊपर अभीतक पर्दा पड़ा रहता है।

जिस समय हम मनको निश्चल करनेकी यौगिक प्रक्रियाका अनुसरण करते हैं, केवल तभी हमारे प्रेक्षणके गंभीरतर परिणाम संभव होते हैं। कारण सबसे पहले हमें यह ज्ञात होता है कि मन एक सूक्ष्म द्रव्य, एक सामान्य (general) सविशेष (determinate) अथवा जातीय निर्विशेष (generic indeterminate) है; जिस समय मानस-ऊर्जा सक्रिय होती है उस समय यह मन या मानस सूक्ष्म द्रव्य अपने-आपको अपने रूपोंमें अर्थात् अपने विशिष्ट विशेषोंमें, जैसे, विचारों, अवधारणों, प्रत्ययों, मानस-भावरसों (sentiments), इच्छाकी क्रियाओं और संप्रतीतिकी प्रतिक्रियाओंके रूपमें प्रकट करता है; परंतु जब मानस-ऊर्जा निश्चल होती है तो मन या तो निश्चेष्ट अवसन्नताकी अवस्थामें रहता है अथवा आत्म-सत्ताकी अचल निश्चलनीरवता और शांतिमें रहता है। इसके अनंतर हम यह देखते हैं कि हमारे मनके सभी विशेष (determinations) स्वयं मनसे ही उद्भूत नहीं होते; कारण मानस-ऊर्जाकी तरंगें और धाराएं उसमें बाहरसे प्रवेश करती हैं: ये किसी वैश्व मनसे अथवा दूसरे मनोंसे आकर उसके भीतर आकार धारण करती हैं अथवा आकार धारण किये हुए ही आकर प्रकट होती हैं और हम उन्हें अपनी ही विचारणा मानते हैं। हम अपने भीतर एक ऐसे गुह्य या अंत-स्तलीय मनको भी देख सकते हैं जिसमें कि विचार, प्रत्यक्ष, इच्छा-अंतर्वेग और मानसिक भाव-नाएं उत्पन्न होते हैं; हम चेतनाके ऐसे उच्चतर स्तरोंको भी देख सकते हैं जिनसे कि एक उत्कृष्ट मन-ऊर्जा हमारे द्वारा अथवा हमपर क्रिया करती है। अंतमें हमें यह ज्ञात होता है कि जो इस सबका प्रेक्षण करता है वह एक ऐसा मनोमय पुरुष है जो मन-द्रव्य और मन-ऊर्जा-का अवलंब है। यही उन्हें धारण करता है और कर्म करनेके लिये अनुमति देता है, इसकी उपस्थितिके बिना वे न अस्तित्व रख सकते हैं न क्रिया कर सकते हैं। यह मनोमय पुरुष पहले शांत साक्षीके रूपमें ज्ञात होता है और, यदि साक्षीरूप ही पुरुषका संपूर्ण स्वरूप हो तो तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि मनके विशेषकरण एक ऐसी प्रपंचात्मक क्रिया हैं जो प्रकृति-के द्वारा पुरुषपर आरोपित की जाती है, अथवा एक ऐसी सृष्टि है जो प्रकृतिके द्वारा पुरुषके सम्मुख उपस्थित की जाती है, एक ऐसा विचारमय जगत् है जिसका प्रकृति निर्माण करती है और प्रेक्षक पुरुषको भेंट कर देती है। परंतु इसके अनंतर हमें यह ज्ञात होता है कि पुरुष, मनोमय पुरुष निश्चल या गृहीता साक्षीकी स्थितिका परित्याग कर देता है; यह प्रतिक्रियाओंका जनक हो सकता है, उन्हें स्वीकार, परित्याग कर सकता है, उनपर शासन, नियंत्रण कर सकता है, उन्हें व्यवस्थित कर सकता है, आदेशका देनेवाला और ज्ञाता हो सकता है। एक ऐसा ज्ञान भी आ सकता है कि जिसके अनुसार यह मन-द्रव्य ही मनोमय पुरुषको अभिव्यक्त करता है, स्वयं अपना ही अभिव्यंजक द्रव्य है और मानस-ऊर्जा इसकी अपनी चित्-शक्ति है; इस ज्ञानके अनुसार इस निष्कर्षपर पहुंचना युक्तिसंगत है कि समस्त मानस-निर्धारण पुरुषकी सत्तासे उद्-भत होते हैं। परंतु यह निष्कर्ष इस तथ्यसे पेचीदा बन जाता है कि एक दूसरे दृष्टिकोणसे

हमारा व्यक्तिगत मन वैश्व मनकी एक रचनासे अधिक नहीं जान पड़ता; ऐसा जान पड़ता है कि यह वैश्व-विचारतरंगों, विचार-धाराओं, इच्छा-प्रेरणाओं, भावना-तरंगों, संवेदन-प्रेरणाओं, रूप-प्रेरणाओंके ग्रहण, परिवर्तन और प्रसारणका यंत्र है। निःसंदेह, इस मनकी अपनी पहलेसे ही प्राप्त अभिव्यक्ति, पूर्वप्रवणता, नैसर्गिक प्रवृत्ति, निजी स्वभाव और प्रकृति होते हैं; वैश्व मनसे जो कुछ आता है वह तभी स्थान ग्रहण कर सकता है जब कि वह व्यक्तिगत मनोमय पुरुषकी आत्माभिव्यक्तिमें, पुरुषकी व्यक्तिगत प्रकृतिमें स्वीकृत और आत्मसात् हो सके।

परंतु फिर भी, इन जटिलताओंको सामने रखते हुए, यह प्रश्न पूरी तरह बना रहता है कि क्या यह विकास और कर्म एक प्रपंचात्मक सृष्टि है जो किसी वैश्व ऊर्जाके द्वारा मनोमय पुरुषके सम्मुख उपस्थित की गयी है? अथवा क्या यह कोई ऐसी क्रिया है जिसे मन-ऊर्जाने पुरुषकी निर्विशेष (indeterminate), संभवतः निर्विशेष्य (Indeterminable) सत्तापर आरोपित किया है? अथवा क्या यह संपूर्ण ही कोई ऐसा पदार्थ है जो भीतरी आत्माके किसी क्रियात्मक सत्यके द्वारा पहलेसे निर्धारित था और मानस उत्तलपर केवल अभिव्यक्त हुआ? इसे जाननेके लिये हमें सत्ता और चेतनाकी उस वैश्व अवस्थाका स्पर्श करना या उसमें प्रवेश करना होगा जिसमें समग्र पदार्थ और उनके समग्र तत्त्व हमारे सीमित मानस अनुभवकी अपेक्षा उत्तम रूपमें प्रकट होंगे।

अधिमन-चेतना व्यक्तिगत मनसे परे, अज्ञानगत वैश्व मनसे भी परे एक ऐसी ही अवस्था या तत्त्व है। यह अपने भीतर वैश्व सत्यका पहला प्रत्यक्ष और प्रभुत्वसंपन्न परिज्ञान रखती है; यहां हम पदार्थोंकी मूलभूत क्रियाके कुछ अंशको समझनेकी, विश्व-प्रकृतिकी मूलभूत गतियोंमें कुछ अंतर्दृष्टि प्राप्त करनेकी आशा कर सकते हैं। निःसंदेह यहां एक वस्तु स्पष्ट हो जाती है; यहां यह स्वतःस्पष्ट है कि व्यक्ति और विश्व दोनों एक ऐसे विश्वातीत तत्त्वसे आते हैं जो उनके अंदर रूप ग्रहण करता है। इसलिये व्यक्तिके मन और प्राण, उसके प्रकृतिस्थ आत्मा (पुरुष) को वैश्व सत्ताकी आंशिक आत्माभिव्यक्ति होना चाहिये, और उस वैश्व सत्ताके द्वारा और सीधे दोनों प्रकारसे, उस परमार्थ-तत्त्वकी एक आत्माभिव्यक्ति होना चाहिये; यह अभिव्यक्ति सोपाधिक और अर्धआवृत हो सकती है, परंतु फिर भी इसकी अर्थवत्ता यही है। परंतु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि होनेवाली अभिव्यक्तिका निर्धारण स्वयं व्यक्तिके द्वारा भी होता है; वह अपनी प्रवृत्तिमें वैश्व सत्ता या परमार्थ-तत्त्वके जिस अपने भागको ग्रहण, आत्मसात्, रूपान्वित कर सकता है, वही उसके मन, प्राण और दैहिक अंगोंमें रूपवान् हो सकता है: वह किसी ऐसे पदार्थको अभिव्यक्त करता है जो परमार्थ-तत्त्वसे आता है, जो वैश्वमें है, परंतु वह अपनी आत्माभिव्यक्तिके अवबंधोंके आधीन, अपनी प्रकृतिके अवबंधोंके आधीन करता है। परंतु विश्व-प्रपंचके द्वारा हमारे लिये जो मूल प्रश्न उपस्थित किया गया है वह अधिमानस-ज्ञानसे हल नहीं होता; वह प्रश्न इस प्रसंगमें यह है कि क्या मनोमय पुरुषके विचार, अनुभव, प्रत्यक्षोंका निर्माण सच्चे अर्थमें ऐसी आत्माभिव्यक्ति और आत्मनिर्धारण हैं जो उसकी ही अपनी अध्यात्मसत्ताके किसी सत्यसे उद्भूत होते हैं, उस सत्यकी क्रियात्मक संभावनाओंकी अभिव्यक्ति हैं? अथवा क्या यह नहीं हो सकता कि वे ऐसी सृष्टि या रचना हों जिन्हें प्रकृतिने उसके

सामने उपस्थित किया है, और केवल इस अर्थमें ही उसकी अपनी या उसपर आश्रित कही जा सकती हैं कि उस प्रकृतिने उस व्यक्तिके प्रति वह रूप धारण किया है; अथवा, फिर, वह वैश्व कल्पनाकी एक क्रीड़ा, अनंतके द्वारा अपनी सनातन शुद्ध सत्ताके कोरे निर्विशेष्यपर आरोपित की गयी अपनी कपोल-कल्पना हो? सृष्टि-विषयिणी ये तीन दृष्टियां हैं जो ठीक होनेकी समान संभावना रखती हैं और मन यह सुनिश्चित रूपसे निर्णय करनेमें असमर्थ है कि इनमेंसे कौन एकमात्र यथार्थ है; कारण प्रत्येक दृष्टि अपने मानसिक तर्कसे सज्जित है और अपने अनुकूल अंतर्भास और अनुभवका समर्थन उपस्थित करती है। अधिमन जटिलताको बढ़ाता प्रतीत होता है, कारण पदार्थोंके संबंधमें जो अधिमानस दृष्टि है वह प्रत्येक संभावनाको यह अनुमति प्रदान करती है कि वह स्वाधीनतापूर्वक अपने-आपको रूपान्वित करे और अपनी सत्ताको परिज्ञानमें, क्रियात्मक आत्म-उपस्थापनमें, ठोस, प्रमाणित करनेवाले अनुभवमें प्रकट करे।

अधिमनमें, मनके समस्त उच्चतर स्तरोंमें हमें बार-बार दो तत्त्वोंका विभाग दिखायी देता है; इनमें एक है शुद्ध शांत निश्चल आत्मा जो आकारचिह्नोंसे रहित (अलक्षणम्), गुणरहित (निर्गुण), संबंधोंसे रहित (अव्यवहार्य), स्वयंभू, आत्मनिष्ठ, स्वयंपूर्ण है; दूसरा तत्त्व है ऐसी बलशाली शक्ति जो अपने भीतर सविशेषकरणकी ज्ञान-सामर्थ्यको, सृष्टिकारिणी चेतना एवं सामर्थ्यको रखती है और अपने-आपको विश्वके रूपोंमें अवक्षिप्त करती है। ये दो तत्त्व आपाततः एक-दूसरेके विरोधी प्रतीत होते हैं परंतु उनका यह विरोध वस्तुतः एक प्रकारका ऐसा विन्यास है मानो ये एक-दूसरेके संबंधी और पूरक हों; यह विरोध उन दो तत्त्वोंके सह-अस्तित्वमें परिष्कृत हो जाता है जिनमें एक है निर्गुण ब्रह्म, अर्थात् वह मूलभूत परमार्थ तत्त्व जो समस्त गुणों, संबंधों या विशेषोंसे रहित है, दूसरा है सगुण ब्रह्म अर्थात् वह मूलभूत दिव्य परमार्थ-तत्त्व जो अनंत गुणोंको रखता है, समस्त संबंधों और विशेषोंका उद्गम, धारण करनेवाला और प्रभु है—निर्गुण, सगुण। यदि हम निर्गुणका आत्मानुभूतिमें अधिकतम संभव दूरीतक अनुसरण करते जायं तो हम एक ऐसे परम निरपेक्षपर पहुंचते हैं जो समस्त संबंधों और विशेषोंसे शून्य, सत्ताका आदि और अंतिम अनिर्वाच्य स्वरूप है। यदि हम सगुणके द्वारा किसी चरम संभव अनुभवमें प्रवेश करें तो हम एक ऐसे दिव्य निरपेक्षपर पहुंचते हैं जो परम पुरुष और सर्वव्यापी ईश्वर, एक साथ ही विश्वातीत और विश्वात्मक, समस्त संबंधों और विशेषोंका अनंत प्रभु है, जो अपनी सत्तामें लाखों विश्वोंको धारण कर सकता है और अपनी आत्मज्योतिकी एकमात्र किरणसे और अपनी अनिर्वाच्य सत्ताकी एकमात्र मात्रासे प्रत्येकमें व्याप्त हो सकता है। अधिमन-चेतना ब्रह्मके इन दो सत्योंको जो कि मनको एक-दूसरेके व्यावर्तक विकल्प जान पड़ते हैं, समानताके साथ बनाये रखती है; वह दोनोंको एकतम परमार्थ-तत्त्वके उच्चतम पक्ष मानती है। ऐसी दशामें कहीं कोई इन दोनोंसे भी महत्तर परात्पर तत्त्व होना चाहिये जो इन दोनोंको आविर्भूत करता है अथवा अपने परम सनातन स्वरूपमें धारण करता है। परंतु जिसके ऐसे विरोधी समान सत्य हैं वह सिवाय इसके और क्या हो सकता है कि वह एक ऐसा आद्य निर्विशेष्य रहस्य हो कि जिसका मनके द्वारा कोई भी ज्ञान, कोई भी बोध असंभव है? निःसंदेह हम उसे कुछ अंशमें, एक विशेष प्रकारकी अनुभूतिमें उसके ऐसे मूलभूत भावात्मक और निषेधात्मक पक्षों और सामर्थ्योंकी अविच्छिन्न परंपराके द्वारा जान सकते हैं जिनमें कि हमें उसकी खोज करनी

होगी, चाहे इनमेंसे किसी एकमें खोजें अथवा समग्रतया एक साथ दोनोंमें खोजें। परंतु अंतमें वह उच्चतम मनकी पहुंचसे परे ही रह जाता है और अज्ञेय ही बना रहता है।

परंतु उच्चतम निरपेक्ष यदि सर्वथा निर्विशेष्य ही हो तो कोई भी सृष्टि, अभिव्यक्ति, विश्व संभव नहीं है। और फिर भी विश्व है ही। तव वह क्या है जो इस विरोधको उत्पन्न करता है, असंभवको संभव वनाता है, आत्मविभाजनकी इस असमाधेय पहेलीको अस्तित्वमें लाता है? वह एक प्रकारकी शक्ति होनी चाहिये। और चूंकि निरपेक्ष ही एकमात्र परमार्थ-तत्त्व है, समस्त पदार्थोंका एकतम उपादान है, इसलिये यह शक्ति उससे निःसृत होनी चाहिये, इसका उसके साथ कोई संवंध, कोई संपर्क होना चाहिये, इसका वह आश्रय होना चाहिये। कारण, यदि यह शक्ति परमार्थ-तत्त्वसे सर्वथा भिन्न हो, कोई ऐसी वैश्व कल्पना-शक्ति हो जो अपने विशेषों (determinations) को निर्विशेष्यकी सनातन रिक्ततापर आरोपित करती है, तो निरपेक्ष परब्रह्म ही एकमेवाद्वितीय सत् है इस सिद्धांतका परित्याग हो जाता है। ऐसी दशामें पदार्थोंके मूलमें एक ऐसा द्वैत आ जाता है जो सांख्यके पुरुष और प्रकृतिके द्वैतसे सारा-त्मना भिन्न नहीं है। यह यदि निरपेक्षकी शक्ति, एकमात्र शक्ति है तो हमारे सामने यह यौक्तिक असंभवता उपस्थित हो जाती है कि परम पुरुषकी सत्ता और उसकी सत्ताकी शक्ति एक-दूसरेके सर्वथा विपरीत, दो उच्चतम विरोधी हैं; कारण ब्रह्म संवंधों और विशेषोंकी समस्त संभावनाओंसे रहित है, परंतु माया एक सृष्टिकारिणी कल्पना-शक्ति है जो इन्हीं वस्तुओं-को उसपर आरोपित करती है; वह ऐसे संबंधों और विशेषोंकी जननी है जिनका कि ब्रह्मको अनिवार्यतया अनुमंता और साक्षी होना चाहिये; इस सिद्धांतको युक्तिशील बुद्धि अस्वीकार करती है। इसे तभी स्वीकार किया जा सकता है जब कि यह कोई अतियौक्तिक रहस्य हो, कोई ऐसा पदार्थ हो जो न सत् है न असत्, अपने स्वभावमें अनिर्वचनीय है। इस मतमें इतनी भारी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं कि इसे तभी स्वीकार किया जा सकता है जब कि यह दार्श-निक अनुसंधान और आध्यात्मिक अनुभवका दुर्निवार और अनिवार्य चरम, अन्त और शिखर हो। कारण, यदि समस्त वस्तुएं मिथ्या सृष्टियां हों, तो कम-से-कम उनका अस्तित्व किसी ज्ञातामें तो होना ही चाहिये, और वे एकमेवाद्वितीय सत्‌की चेतनाको छोड़कर और कहीं भी अस्तित्व नहीं रख सकतीं, (क्योंकि दूसरा तो कोई है ही नहीं)। तब वे निर्विशेष्यकी विषयी-गत (आत्मनिष्ठ) विशेष हो जाती हैं। इसके विपरीत, यदि इस शक्तिकी विशेष यथार्थ सृष्टियां हैं तो किससे उनकी उत्पत्ति होती है, उनका उपादान द्रव्य क्या है? यह संभव नहीं कि वे निरपेक्षसे भिन्न किसी शून्यसे, किसी असत्‌से बने हों। क्योंकि यह एक नवीन द्वैतको, जिस महत्तर निर्विशेष्यको हमने एकतम परमार्थ-तत्त्व माना है उसके विरुद्ध एक बड़े भावात्मक शून्यको खड़ा कर देगा। अतः यह स्पष्ट है कि परमार्थ-तत्त्व अनम्य निर्विशेष्य नहीं हो सकता। जो कुछ भी सृष्ट होता है वह उसका और उसमें ही होना चाहिये, और जो पूर्णतया यथार्थके द्रव्यका बना है वह स्वयं भी यथार्थ होना चाहिये; जो सनातन सत्य, अनंत सत् है उसका एकमात्र उत्पादन कोई ऐसा विशाल आधाररहित मिथ्या नहीं हो सकता जिसका अभि-प्राय अपने-आपको सत्य प्रतीत कराना हो। यह पूरी तरह बोधगम्य है कि निरपेक्ष इस अर्थमें

निर्विशेष्य है और होना चाहिये कि वह किसी भी विशेषसे अथवा विशेषोंके किसी भी समूहसे परिच्छिन्न नहीं किया जा सकता, परंतु इस अर्थमें निर्विशेष्य नहीं है कि वह अपने-आपको सविशेष बनानेमें असमर्थ है। परम सत् अपनी सत्ताके सच्चे आत्म-विशेषोंको सृष्ट करनेमें असमर्थ, यथार्थ सृष्टि या अभिव्यक्तिको अपने आत्म-सत् अनंत स्वरूपमें धारण करनेमें असमर्थ नहीं हो सकता।

अतः अधिमन हमें कोई भी अंतिम और सुनिश्चित समाधान नहीं देता; अतः इससे ऊपर अतिमानस परिज्ञान (cognition) में हमें उत्तर खोजना होगा। अतिमानस ऋत-चित् जहां अनंत और सनातन ब्रह्मका आत्मज्ञान है, इसके साथ-साथ वह उस आत्म-ज्ञानमें अंतर्निहित आत्म-विशेषीकरणकी शक्ति भी है; इनमें पहला पक्ष अतिमानस ऋत-चित्का आधार और स्व-रूप-स्थितिरूप है, दूसरा उसकी सत्ताकी शक्ति, उसकी आत्मसत्ताकी क्रियात्मक शक्तिरूप है। आत्मज्ञानकी कालरहित नित्यता जो कुछ अपने भीतर सत्ताके सत्यके रूपमें देखती है उसे उसकी सत्ताकी चेतन शक्ति कालिक नित्यतामें अभिव्यक्त करती है। अतः अतिमनके लिये परम तत्त्व कोई अनम्य निर्विशेष्य, सर्वप्रतिषेधक निरपेक्ष नहीं है; उसकी दृष्टिमें ऐसा अनंत सत् जो अपनी सत्ताकी स्वयं अपनी अपरिवर्तनीय शुद्धिमें अपने-आपमें पूर्ण हो, जिसकी एक-मात्र शक्ति हो एक ऐसी शुद्ध चेतना जो सत्की केवल परिवर्तनरहित नित्यतामें, उसकी आत्म-सत्ताके अचल आनंदमें ही समाहित हो, परमार्थ-तत्त्वका पूर्ण स्वरूप नहीं है। जो सत्तामें अनंत है वह शक्तिमें भी अनंत होना चाहिये। अपने भीतर सनातन विश्रांति और निश्चलताको रखते हुए उसे सनातन कर्म और सृष्टि करनेमें भी समर्थ होना चाहिये; परंतु यह कर्म उसके अपने ही भीतर होना चाहिये, यह सृष्टि उसके अपने सनातन और अनंत स्वरूपसे होनी चाहिये, क्योंकि उससे भिन्न दूसरा कुछ भी ऐसा नहीं हो सकता जिससे कि वह सृष्टि कर सके; यदि सृष्टिका कोई आधार उस अनंत सत्से भिन्न जान पड़ता हो तो फिर भी वह यथार्थमें उसके ही भीतर और उसका ही होगा और उसकी सत्तासे कोई वाह्य पदार्थ नहीं हो सकता। अनंत शक्ति केवलमात्र ऐसी शक्ति नहीं हो सकती जो शुद्ध एकरूपतामें अपरिवर्तनीय प्रशांतिमें नि-श्चेष्ट पड़ी रहती हो। उसके भीतर अपनी सत्ता और ऊर्जाकी अनंत सामर्थ्य होनी चाहियें; अनंत चेतनाको अपने भीतर आत्मज्ञानके अनंत सत्योंको धारण करना चाहिये। ये सत्य जब सक्रिय अवस्थामें होंगे तो हमारे मानस-परिज्ञानको उसकी सत्ताके पक्ष, हमारे अध्यात्म ज्ञानको उसकी क्रियात्मक शक्तिकी सामर्थ्य और गतियां, हमारे सौन्दर्य-प्रत्यक्षको उसकी सत्ताके आनंदके उपकरण और रूप जान पड़ेंगे। ऐसी दशामें सृष्टि अनंतकी आत्माभिव्यक्ति होगी; वह अनंत-की अनंत संभावनाओंकी एक व्यवस्थित प्रसृति होगी। परंतु प्रत्येक संभावना यह सूचित करती है कि उसके पीछे एक सत्य है, एक यथार्थता है जो सत्में है। कारण उस आधारभूत सत्यके विना कुछ भी संभाव्य नहीं हो सकता। अभिव्यक्तिमें जो कोई सत्की मूलभूत यथार्थता हमारे परिज्ञानको ज्ञात होगी वह निरपेक्ष ब्रह्मके एक मूलभूत अध्यात्म पक्षके रूपमें दिखायी देगी; निरपेक्ष ब्रह्मके उस मूलभूत अध्यात्मपक्षसे ही उसकी समस्त संभव अभिव्यक्तियां, उसकी सहज क्रियात्मक शक्तियां उन्मज्जित होंगी; और ये फिर अनभिव्यक्त अवस्थासे अपने विशिष्ट रूपों,

अभिव्यंजक शक्तियों, सहज प्रक्रियाओंको सृष्ट या प्रकट करेंगी; उनके अपने स्वरूप अपने-अपने स्वभावको विकसित करेंगे। अतः यह सृष्टिकी पूरी प्रक्रिया होगी; परंतु अपने मनमें हम पूरी प्रक्रियाको नहीं देखते, हम केवल ऐसी संभावनाओंको देखते हैं जो अपने-आपको वास्तविकताओंमें परिणत करती हैं; और यद्यपि हम उनके पीछे एक ऐसी अवश्यंभाविताका, ऐसे पूर्वनियामक सत्यका, एक नियोगका जो संभावनाओंको सामर्थ्य प्रदान करते हैं, वास्तविकताओंको निश्चित करते हैं, अनुमान करते या अटकल लगाते हैं, किंतु हम उनके विषयमें सुनिश्चित नहीं होते। हमारा मन वास्तवोंका प्रेक्षक है, संभावनाओंका आविष्कारक या आविर्ज्ञाता है, किंतु उन नियोगोंका द्रष्टा नहीं है जो सृष्टिकी गतियों और रूपोंको अवश्यंभावी वनाते हैं; कारण विश्वसत्ताके ऊपरी भागमें केवल ऐसी शक्तियां हैं जो अपनी उपशक्तियोंके संयोगसे प्राप्त संतुलनके द्वारा परिणामोंको निर्धारित करती हैं; इन सबके मूलमें यदि कोई एक या अनेक नियामक हैं तो वे हमारे अज्ञानके द्वारा हमसे छिपे रहते हैं। परंतु अतिमानस ऋत-चित्के लिये ये नियोग स्पष्ट होंगे, उसके प्रत्यक्ष दर्शन और अनुभवके सारद्रव्य होंगे। अतिमानसकी स्रष्ट्री प्रक्रियामें नियोग, संभावनाओंका संयुक्त समूह, परिणमित वास्तविकताएं, ये सब एकाकी समग्र, एक अविभक्त गति होंगे। संभावनाएं और वास्तविकताएं अपने भीतर अपने उत्पादक नियोगकी अनिवार्यताको धारण करेंगी; उनके समस्त परिणाम, उनकी समस्त सृष्टियां उस सत्यके मूर्त्त रूप होंगी जिसे वे सर्वसत्तामयके पूर्वनियत विशिष्ट रूपों और शक्तियोंमें अभिव्यक्त करती हैं।

निरपेक्षके विषयमें हमारा मूलभूत परिज्ञान (cognition), उसके सारतत्त्वसे संवंध रखनेवाला हमारा आध्यात्मिक अनुभव यह है कि हमें ऐसा अंतर्भास या साक्षात् अनुभव होता है कि वह एक अनंत और सनातन सत्ता (सत्), अनंत और सनातन चेतना (चित्), अनंत और सनातन आनंद है। अधिमानस और मानस-परिज्ञानमें यह संभव है कि इस मूल ऐक्यको तीन स्वयं-सत्-पक्षोंमें विविक्त (अंतरित) और यहांतक कि पृथक्-पृथक् कर दिया जाय; कारण हम एक शुद्ध निष्कारण सनातन आनंदको इतनी प्रगाढ़तामें अनुभव कर सकते हैं कि हम केवल वही हो जाते हैं; सत्ता और चेतना उसमें लीन हुई प्रतीत होती हैं, स्पष्ट भासित नहीं होतीं; शुद्ध और निरपेक्ष चेतनाका भी वैसा ही अनुभव और उसके साथ वैसा ही अनन्य तादात्म्य संभव है, और शुद्ध एवं निरपेक्ष सत्ताका भी वैसा ही तादात्म्यकारी अनुभव संभव है। परंतु अति-मन-परिज्ञानके लिये ये तीन सर्वदा अपृथक्करणीय त्रयैक (trinity) हैं, यद्यपि इनमेंसे प्रत्येक दूसरोंकी अपेक्षा प्रमुख स्थान ग्रहण कर सकता है और अपने आध्यात्मिक सविशेषों (determinates) को अभिव्यक्त कर सकता है; कारण, इनमेंसे प्रत्येक अपने प्रमुख पक्षोंको अथवा अपनी अंतर्निहित आत्म-विरचनाओंको रखता है, परंतु त्र्येक (triune) निरपेक्षके मूल स्वरूपमें ये एक साथ संयुक्त रहते हैं, अथवा दूसरे शब्दोंमें, इन तीनोंका संयुक्त रूप त्र्येक (triune) निरपेक्षका मूल स्वरूप है। प्रेम, हर्ष और सौन्दर्य सत्के दिव्य आनंदके मूलभूत सविशेष हैं, और हम तुरंत यह देख सकते हैं कि ये उस आनंदके सारद्रव्य और स्वभावभूत हैं; ये निरपेक्षके स्वरूपपर किसी दूसरेके द्वारा आरोपित किये हुए नहीं हैं और न ऐसी सृष्टियां हैं जो

उससे अनुमोदित या उसपर आश्रित हों किंतु वाहर हों; ये उसके स्वरूपके सत्य, उसकी चेतना-के सहजभाव, उसकी सत्ताकी शक्तिकी उपशक्तियां हैं। ऐसा ही निरपेक्ष चेतनाके जो मूल-भूत सविशेष-ज्ञान और इच्छा हैं उनके विषयमें भी है; वे आद्या चित्-शक्तिके सत्य और उप-शक्तियां हैं और उसके स्वभावमें अंतर्निहित हैं। यह सत्यता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब कि हम निरपेक्ष सत्के मूलभूत आध्यात्मिक सविशेषोंपर ध्यान देते हैं; वे हैं उसकी त्र्येक (triune) शक्तियां, जो कि उसकी समस्त आत्मसृष्टि या अभिव्यक्तिके लिये आवश्यक सर्व-प्रथम आधारतत्त्व हैं—आत्मा, ईश्वर, पुरुष।

यदि हम आत्माभिव्यक्तिकी प्रक्रियाका अनुसरण करते हुए और आगे बढ़ें तो हम देखेंगे कि इनमेंसे प्रत्येक पक्ष या शक्ति अपने सर्वप्रथम कर्ममें एक त्रित्व (triad) का आश्रय ग्रहण करती है; कारण, ज्ञान अनिवार्यतया अपने-आपको ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानके त्रित्वमें उप-स्थित करता है; प्रेम अपने-आपको प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेमके त्रित्वमें पाता है; इच्छा इच्छाके प्रभु, इच्छाके विषय और कार्यकारिणी शक्तिके त्रित्वमें अपने-आपको परिपूर्ण करती है; हर्ष भोक्ता, भोग्य और उन्हें एक करनेवाले आनंदके त्रित्वमें अपने मौलिक और पूर्ण आह्लादको रखता है; आत्मा अपने-आपको विषयीरूप आत्मा, विषयरूप आत्मा और विषयी-विषयरूप आत्माको एक साथ मिलानेवाले आत्मज्ञानके त्रित्वमें अनिवार्यतया प्रकट करता है और अपनी अभिव्यक्तिको प्रतिष्ठित करता है। ये और दूसरी आद्य शक्तियां और पक्ष अनंतके मूलभूत अध्यात्म आत्म-विशेषोंमें अपना स्थान ग्रहण करते हैं। दूसरे सब मूलभूत आध्यात्मिक सवि-शेषोंके सविशेष हैं, सत्ता, चेतना, शक्ति, आनंदके विशिष्ट संवंध, विशिष्ट शक्तियां, विशिष्ट रूप हैं,—सनातन ब्रह्मकी चित्शक्तिकी सत्य-प्रक्रियाकी ऊर्जाएं, अवस्थाएं, प्रकार, दिशाएं हैं, उस-की अभिव्यक्तिके नियोग (imperatives), संभावनाएं, वास्तविकताएं हैं। शक्तियों, संभावनाओं और उनके अंतर्निहित परिणामोंके इस समस्त प्रसारणको अतिमानस-परिज्ञान एक अंतरंग एकत्वमें एक साथ संयुक्त रखता है। वह परिज्ञान उन्हें सचेतन भावसे आद्य सत्यपर प्रतिष्ठित रखता है और जिन सत्योंको वे अभिव्यक्त करते हैं और जो सत्य कि वे अपने स्व-भावमें हैं, उन सत्योंके सामंजस्यमें बनाये रखता है। इस अतिमानस-परिज्ञानमें ब्रह्मपर कोई कल्पनाओंका आरोपण नहीं है, स्वच्छंद सृष्टिका भाव भी नहीं है, न कोई विभाजन, विखंडन, असमाधेय विरोध या विसंवाद (disparateness) है। परंतु अज्ञानयुक्त मनमें ये वस्तुएं प्रकट हो जाती हैं; कारण वहां एक ऐसी परिच्छिन्न चेतना है जो प्रत्येक पदार्थको इस प्रकार देखती है और उसके साथ इस प्रकार व्यवहार करती है मानो सभी पृथक्-पृथक् ज्ञेय विषय या पृथक्-पृथक् सत्ताएं हों और इस भावनासे ही वह उन्हें जानने, प्राप्त करने, भोगने, उनपर प्रभुत्व करने या उनके प्रभुत्वके अधीन होनेकी चेष्टा करती है; परंतु मनके अज्ञानके पीछे उसके भीतरका अंतरात्मा जिसे खोज रहा है वे हैं परमार्थ-तत्त्व, सत्य, चित्, शक्ति, आनंद जिनके द्वारा वे सव मानस-प्रपंच अस्तित्व रखते हैं; मनको इस सच्ची खोज और सच्चे ज्ञानके प्रति जो उसके भीतर आवृत दशामें हैं, जागृत होना सीखना होगा; उसे अपने भीतर यह जागृति करनी होगी कि वह उस परमार्थ-तत्त्वको खोजे और जाने जिससे समस्त पदार्थ अपने सत्य-

को ग्रहण करते हैं, उस चेतनाको खोजे जिसकी समस्त चेतनाएं अंश हैं, उस शक्तिको खोजे जिससे समस्त पदार्थ अपनी सत्ताकी उस शक्तिको प्राप्त करते हैं जिसे वे अपने भीतर रखते हैं, उस आनंदको खोजे जिसके समस्त आनंद आंशिक रूप हैं। चेतनाकी यह परिच्छिन्नता और चेतनाकी समग्रताके प्रति यह जागृति भी आत्माभिव्यक्तिकी एक प्रक्रिया, ब्रह्मका एक आत्म-विशेषीकरण हैं, परिच्छिन्न चेतनाकी वस्तुएं अपने आपातदृष्ट रूपमें सत्यके विपरीत होती हुई भी अपने गहरे अर्थ और स्वरूपमें एक दिव्य सार्थकता रखती हैं; वे भी अनंतके एक सत्य या संभावनाको अभिव्यक्त करती हैं। पदार्थोंके विषयमें अतिमानस-परिज्ञान जो सर्वत्र एकतम सत्यको देखता है वह, जहांतक मनोमयी भाषामें व्यक्त किया जा सकता है, किसी ऐसे ही स्व-भावका होगा और वह हमारी सत्ताके संबंधमें अपनी व्याख्याको, सृष्टिके रहस्य और विश्वकी अर्थवत्ताके विषयमें अपने प्रतिवेदनको हमारे लिये किसी ऐसे ही रूपमें व्यवस्थित करेगा।

इसके साथ-साथ निरपेक्ष के संबंधमें जो हमारी अवधारणा और आध्यात्मिक अनुभव है उसमें अनिर्विशेष्यता एक आवश्यक अंश भी है; यह सत् और पदार्थोंके विषयमें अतिमानस-दृष्टिका दूसरा पक्ष है। निरपेक्ष किसी एक विशेषसे या विशेषोंके किसी भी समूहसे परिच्छेद्य या निर्देश्य या निर्वाच्य (definable) नहीं है; दूसरी ओर, वह शुद्ध सत्ताकी निर्विशेष्य रिक्ततासे भी बंधा हुआ नहीं है। इसके विपरीत, वह सभी विशेषोंका उद्‌गम हैं; उसकी निर्विशेष्यता उसके स्वरूपकी अनंतता और उसके स्वरूपकी शक्तिकी अनंतताका स्वाभाविक, अवश्यंभावी अवबंध है। वह (अनंत) अनंत रूपोंमें समस्त पदार्थ इस कारण हो सकता है कि वह कोई भी विशिष्ट पदार्थ नहीं है और जिनका हम किसी भी रूप, गुण या धर्मके द्वारा निर्देश कर सकते हैं उन सबसे वह अतीत है। निरपेक्षकी यह सारभूत निर्विशेष्यता ही है जो अपने-आपको हमारी चेतनामें हमारे आध्यात्मिक अनुभवके मूलभूत निषेधक भावों (positives) में रूपांतरित करती है; वे मूलभूत निषेधक भाव हैं— अचल, अक्षर आत्मा, निर्गुण ब्रह्म, शुद्ध आकारचिह्नरहित (अलक्षण) एकतम सत्, निर्व्यक्तिक, समस्त क्रियाओंसे रहित शान्त-निश्चल-नीरव, असत्, अनिर्वाच्य और अज्ञेय। दूसरी ओर, वह समस्त विशेषोंका सार और उद्‌गम हैं, और यह क्रियात्मक सारतत्त्व ऐसे मूलभूत स्वीकारात्मक भावों (affirming positives) के द्वारा हमारे सामने अपने-आपको अभिव्यक्त करता है जिनमें कि निरपेक्ष समान भावसे हमें मिलता है; कारण, वह आत्मा ही है जो समस्त पदार्थ (**आत्मैवाभूत सर्वभूतानि**) होता है, वह सगुण ब्रह्म है, वह एकतम है जो बहु होता है, ऐसा अनंत पुरुष है जो समस्त पुरुषों और व्यक्तित्वोंका उद्‌गम और आधार है, सृष्टिका ईश्वर, शब्द-ब्रह्म, समस्त कर्मोंका प्रभु है; यही वह है जिसे जाननेसे सब कुछ ज्ञात हो जाता है; ये स्वीकारात्मक भाव (positives) निषेधात्मकोंके अनुरूप हैं। कारण, अतिमानस-परिज्ञानमें एकतम सत्‌के दो पक्षोंको पृथक्-पृथक् विभक्त करना संभव नहीं है, यहांतक कि उन्हें पक्ष कहना भी अत्युक्ति करना है, कारण वे एक-दूसरेमें हैं, उनका सह-अस्तित्व या एक-अस्तित्व नित्य है और उनकी एक-दूसरीको धारण करनेवाली शक्तियां अनंतकी आत्माभिव्यक्तिके आधारकी प्रतिष्ठा करती हैं।

परंतु सगुण और निर्गुणका पृथक् परिज्ञान सर्वथा भ्रम अथवा अज्ञानजन्य पूरा मिथ्या ज्ञान

नहीं है; यह पृथक् परिज्ञान भी आध्यात्मिक अनुभवके लिये अपनी प्रामाणिकता रखता है। कारण, निरपेक्षके ये आद्य पक्ष मूलभूत आध्यात्मिक सविशेष या निर्विशेष हैं; ये यह बतलाते हैं कि ऊपरसे नीचेको अवतरण करती हुई अभिव्यक्तिके जो अंत भौतिक तत्त्वके सामान्य सविशेष हैं उनका आध्यात्मिक प्रारंभ यही सविशेष हैं, और नीचेसे ऊपरको आरोहण करती हुई अभिव्यक्तिके जो प्रारंभ निश्चेतनाके सामान्य निर्विशेष हैं उनका आध्यात्मिक अंत यही निर्विशेष हैं। जो हमें निषेधात्मक प्रतीत होते हैं वे यह सूचित करते हैं कि अनंत अपने विशेषोंसे परिच्छिन्न नहीं है: उनकी अनुभूति हमारे भीतरी आत्माको बंधनसे वियुक्त करती है, हमें मुक्त करती है और इस परम स्थिति (मुक्तावस्थामें) भाग लेनेके लिये समर्थ बनाती है; इस प्रकार जब हम अक्षर आत्माके अनुभवमें पहुंचते हैं या इसके मध्यसे होते हुए चलते हैं तो हम अपनी सत्ताकी आंतरिक अवस्थामें प्रकृतिसे उत्पादित विशेषों या सृष्टियोंसे बद्ध या परिच्छिन्न नहीं रहते। दूसरी ओर, क्रियात्मक दिशामें, यह आद्या स्वतंत्रता चेतन पुरुषको विशेषोंके जगत्की, उससे बंधे बिना, सृष्टि करनेमें समर्थ बनाती है; यह उसे यह भी सामर्थ्य प्रदान करती है कि जो कुछ उसने सृष्ट किया है उससे विलग हो जाय और उसे उच्चतर सत्य-व्यवस्थामें पुनः सृष्ट करे। इस स्वतंत्रतापर ही ब्रह्मकी वह शक्ति आधारित है जो सत्ताकी सत्य-संभावनाओंको अनंत विभिन्नता प्रदान कर सकती है और साथ ही वह सामर्थ्य आधारित है जो अपनी क्रियाओंसे अपने-आपको बद्ध किये बिना अनिवार्यताके किसी भी रूपको या व्यवस्थाके किसी भी संस्थानको सृष्ट कर सकती है। व्यक्ति (जीव) भी इन निषेधात्मक निरपेक्षोंके अनुभवसे उस क्रियात्मक स्वतंत्रतामें भाग ले सकता है, आत्माभिव्यक्तिकी एक व्यवस्थासे उच्चतर व्यवस्थामें जा सकता है। ऐसी भूमिकापर जब कि व्यक्ति मानस-अवस्थासे अतिमानस-अवस्थाकी ओर गति करता है तो, एक अत्यंत मोक्षप्रद रूपसे सहायक अनुभव जो बीचमें आ सकता है, यद्यपि उसका आना अपरिहार्य नहीं है, वह है मन और मानस अहंका पूर्णतया निर्वाणमें प्रवेश कर जाना, ब्रह्मकी शांत निश्चलतामें पहुंच जाना। हर दशामें, शुद्ध आत्माकी अनुभूति सर्वदा चेतनाकी उस मध्यवर्ती उच्च स्थितिमें परिवर्तित होनेसे पहले आनी चाहिये जहांपर अभिव्यक्त सत्ताके आरोहण और अवरोहण करते हुए सोपानका स्पष्ट दर्शन आयत्ताधीन हो जाता है और आरोहण एवं अवरोहण करनेकी स्वतंत्र सामर्थ्यकी प्राप्तिपर एक आध्यात्मिक परमाधिकार हो जाता है। आद्य पक्षों और शक्तियोंमेंसे प्रत्येकके साथ स्वतंत्रतापूर्वक पूर्णतया तादात्म्य करनेकी सामर्थ्य अनंतकी चेतनामें अंतर्निहित है; और यहां किसी एक पक्ष या शक्तिके साथ तादात्म्यमें अनंतकी चेतना हमारे मनके समान इस प्रकार संकीर्णतया तल्लीन नहीं हो जाती कि उसे ही एकमात्र अंतिम और समग्र अनुभव मान बैठे, कारण, यह सत्ताके समस्त पक्षों और शक्तियोंके तादात्म्यकी अनुभूतिके साथ असंगत होगा। अधिमानस-परिज्ञानका और प्रत्येक पक्ष, प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक संभावनाको उसकी स्वतंत्र पूर्णतातक ले जानेकी उसकी इच्छाका यही आधार और औचित्य है। परंतु अतिमन सर्वदा और प्रत्येक अवस्थामें समस्तके ऐक्यकी आध्यात्मिक अनुभूतिको बनाये रखता है; जब वह किसी एक पदार्थको पूर्णतम रूपमें जानता है तो उस ज्ञानके भीतर भी समस्त दूसरोंके साथ ऐक्यकी घनिष्ठ उपस्थिति रहती है, प्रत्येक

अवस्थाको उसका अपना आनंद, शक्ति और मूल्य प्रदान किया जाता है; यहांतक कि जब निषेधकके सत्यको पूरी तरह स्वीकार किया जाता है तब भी उससे स्वीकारात्मक पक्षको दृष्टिसे ओझल नहीं किया जाता। अधिमन इस अंतःस्थ ऐक्यके भावको बनाये रखता है; वह उसके लिये प्रत्येक पक्षको स्वतंत्रतापूर्वक अनुभव करनेके लिये सुरक्षित आधार है। मनमें समस्त पक्षोंके ऐक्यका ज्ञान उत्तलपरसे लुप्त हो जाता है, चेतना ऐसे पृथक्-पृथक् स्वीकरणोंमें निमग्न हो जाती है जो दूसरोंका व्यावर्तन करके उसे एकमात्र अपनेमें ही तल्लीन करते हैं; परंतु वहां भी अर्थात् मनके अज्ञानमें भी, चेतनाकी किसी एक स्वीकरणमें तल्लीन हो जानेके पीछे समग्र यथार्थता विद्यमान रहती है और यह यथार्थता एक गंभीर मानस-अंतर्भासके रूपमें अथवा समग्र एकत्वके अंतःस्थ सत्यके विचार या भावरसके रूपमें पुनः प्राप्त की जा सकती है। अध्यातम मनमें यह सर्वदा उपस्थित अनुभवके रूपमें विकसित की जा सकती है।

सर्वव्यापी परमार्थ-तत्त्वके समस्त पक्ष अपने मूलभूत सत्यको परम सत्में रखते हैं। इस प्रकार निश्चेतना-रूप पक्ष या निश्चेतना-रूपा शक्ति जो कि सनातन परमार्थ-तत्त्वके विरोधी, निषेधक प्रतीत होते हैं, वे भी एक ऐसे सत्यके अनुरूप हैं जिसे ज्ञान-स्वरूप और चित्स्वरूप अनंतने स्वयं अपने भीतर धारण किया हुआ ह। जब हम गहराईमें दृष्टिपात करके देखते हैं तो ज्ञात होता है कि वह सत्य है अनंतकी वह शक्ति जिसके द्वारा वह अपनी चेतनाको आत्मान्तर्भावकी निद्रामें निमग्न कर देता है; इस शक्तिके द्वारा ब्रह्म अपने-आपको अगाध तलोंमें आवृत्त करके आत्म-विस्मृत हो जाता है और वहां कुछ भी अभिव्यक्त नहीं है, सब कुछ ऐसी अवस्थामें है जिसे हम केवल अचिंत्य कह सकते हैं और उस अनिर्वाच्य प्रसुप्त या अव्यक्त अवस्थासे उन्मज्जित हो सकता है। ब्रह्मके उच्च स्तरोंमें विश्वीय या अनंत निद्राकी यह अवस्था हमारे परिज्ञानको एक ज्योतिर्मयी चूडांत अतिचेतना ज्ञात होती है; सत्ताके दूसरे सिरेपर यह निद्रा हमारे परिज्ञानको ब्रह्मकी अपने सामने अपने सत्योंके विरोधी रूपोंको उपस्थित करनेकी शक्तिके रूपमें ज्ञात होती है; ये विरोधी रूप हैं निःसत्ताकी अगाधता, निश्चेतनाकी गहरी रात्रि, निःसंवेदनाकी अगाध मूर्छा जिससे कि सत्ता, चेतना और आनंदके समस्त रूप अपने-आपको प्रकट कर सकते हैं; परंतु ये सीमित रूपोंमें, धीरे-धीरे उन्मज्जन और वर्धन करते हुए आत्म-रचनाओंमें, यहांतक कि स्वयं अपने विरोधी रूपोंमें प्रकट होते हैं; यह एक अंतर्गूढ़ सर्वसत्तामय, सर्व-आनन्दमय, सर्व-ज्ञानमय क्रीड़ा है, परंतु यह क्रीड़ा अपनी आत्म-विस्मृति, आत्मविरोध, आत्मपरिच्छिन्नताके नियमोंका तबतक पालन करती है जबतक कि वह उसका अतिक्रमण करनेके लिये तैयार नहीं हो जाती। यही वह निश्चेतना और अविद्या (अज्ञान) है जिसे कि हम भौतिक विश्वमें क्रिया करती हुई देखते हैं। यह अनंत और सनातन सत्का निषेध नहीं है अपितु उसका ही एक रूप, एक अवस्था है।

विश्व-सत्ताके इस समग्र परिज्ञानमें अज्ञानका व्यापार जो अर्थ रखता है, विश्वकी आध्यात्मिक व्यवस्थामें जो स्थान उसे सौंपा गया है उसका यहां प्रेक्षण करना महत्त्वपूर्ण है। जो कुछ हम अनुभव करते हैं वह सब यदि ब्रह्मपर अध्यारोप (imposition) ही हो, निरपेक्षमें मिथ्या सृष्टि हो तो विश्व और व्यक्ति (जीव) दोनों ही स्वरूपतः अज्ञानरूप (अविद्या)

होंगे; ऐसी दशामें एकमात्र यथार्थ ज्ञान होगा निरपेक्षका अपने विषयमें यह ज्ञान कि वह निर्विशेष्य है। यदि सब कुछ साक्षी कालरहित ब्रह्मकी यथार्थताके सम्मुख प्रकृतिद्वारा कालगत और प्रपंचात्मक सृष्टिकी उपस्थिति हो, यदि सृष्टि परमार्थ-तत्त्व (ब्रह्म) की अभिव्यक्ति न हो, अपितु (प्रकृति या मायाद्वारा) कोई स्वच्छंद स्वयं-परिणामी विश्वीय रचना हो तो यह भी एक प्रकारका अध्यारोप ही होगा। सृष्टिके विषयमें हमारा ज़ो ज्ञान होगा वह यह होगा कि वह (सृष्टि) क्षणभंगुर चेतना और सत्ताकी क्षणिक रचना है, ब्रह्मकी दृष्टिके सामने आनेवाली भ्रांत संभूति (भ्रम) है, यह ज्ञान नहीं होगा कि सृष्टि यथार्थ है; यह ज्ञान भी एक अज्ञान-रूप ही होगा। परंतु यदि सब कुछ परमार्थ-तत्त्वकी अभिव्यक्ति है और उसकी अंतःस्थितिसे रचित होने, उसकी उपस्थिति और उसके सारतत्त्वसे धारित और पोषित होनेके कारण यथार्थ है तो हमें व्यक्तिगत सत्ता (जीव) और विश्व-सत्ताका जो भी ज्ञान होगा वह अपने आध्यात्मिक मूल और स्वभावमें अनंत आत्मज्ञान और सर्वज्ञानकी एक क्रीड़ारूप होगा। हमारा अज्ञान केवल एक ऐसी अधीनस्थ गति, एक दबा हुआ या रुका हुआ परिज्ञान अथवा एक आंशिक और अपूर्ण विकासमान ज्ञान ही हो सकता है जिसके भीतर और पीछे सच्चा और समग्र आत्मज्ञान और सर्वज्ञान छिपा हुआ है। यह अज्ञान एक स्वल्पकालीन व्यापार होगा, विश्व-सत्ताका कारण और सार नहीं होगा; इस अज्ञानकी अनिवार्यतया परिपूर्ण अवस्था होगी आत्माकी एक ऐसी निवृत्ति जो विश्वसे बाहर एकमात्र विश्वातीत आत्मज्ञानमें नहीं होगी अपितु स्वयं विश्वके भीतर भी समग्र आत्मज्ञान और सर्वज्ञानमें होगी।

यहां यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि यह सब होनेपर भी अतिमानस-परिज्ञान पदार्थोंका अंतिम सत्य नहीं है। चेतनाका जो अतिमानस-स्तर है वह मन और अधिमनसे सच्चिदानंदके पूर्ण अनुभवमें जाते समय एक बीचकी अवस्था है; इस अतिमानस-स्तरसे ऊपर अभिव्यक्त ब्रह्मकी उच्चतम ऊंचाइयां हैं। यहां सत्ता निश्चय ही एकतमके बहुत्वमें विशेषीकरणपर प्रतिष्ठित नहीं होगी, अपितु वह केवल और एकमात्र एकत्वके शुद्ध ऐकात्म्यको अभिव्यक्त करेगी। परंतु अतिमानस ऋत-चित्का उन उच्चतम उच्चताओंमें अभाव नहीं होगा, कारण वह सच्चिदानंदकी अंतर्निहित शक्ति है; भेद केवल यह होगा कि उन उच्चतम उच्चताओंमें जो विशेष (determinations) होंगे वे उनमें सीमानिर्धारण नहीं होंगे, वे होंगे नमनशील, एक-दूसरेके भीतर प्रविष्ट, प्रत्येक सीमारहित सांत। कारण वहां सब प्रत्येकमें और प्रत्येक सबमें आमूलचूल और पूर्णतया है; वहां तादात्म्यके एक मूलभूत ज्ञानकी पराकाष्ठा, चेतनाओंका परस्परमें एक-दूसरीका अपने भीतर समावेश और एक-दूसरीमें प्रवेशकी परमावस्था होगी। ज्ञानका जो रूप हमारी दृष्टिमें है वह वहां नहीं होगा, कारण वहां उसकी आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि वहां सब कुछ स्वयं सत्ताके भीतर चेतनाका साक्षात् कर्म, तादात्म्य-रूप, घनिष्ठ, अंतरंगतया आत्मज्ञान और सर्वज्ञानरूप होगा। परंतु फिर भी चेतनाके संबंधों, सत्ताके पारस्परिक आनंदके संबंधों, सत्ताकी एक आत्मशक्तिके दूसरी आत्मशक्तिके साथ संबंधोंका निराकरण नहीं होगा, ये उच्चतम आध्यात्मिक स्तर रिक्त निर्विशेष्यताका क्षेत्र, शुद्ध सत्की रिक्तता न होंगे।

यह सब होनेपर भी यह कहा जा सकता है कि सच्चिदानंदका जो स्वरूप अभिव्यक्त लोकोंसे ऊपर है, कम-से-कम उसमें शुद्ध सत्ता और चेतना और शुद्ध आनंदके आत्म-ज्ञानके सिवाय और कुछ भी नहीं होगा अथवा, निःसंदेह, यह त्र्येक (triune) सत् ही अनंतके आदिम आध्यात्मिक आत्म-विशेषोंका त्रित्व (trinity) हो सकता है; ये भी समस्त विशेषोंके समान अनिर्वाच्य निरपेक्षमें लुप्त हो जायंगे। परंतु हमारा मत यह है कि ये परम सत्के भीतर निहित सत्य होने चाहियें; अध्यात्म-मनके उच्चतम संभव अनुभवमें जैसे ये हैं उससे चाहे ये निरपेक्षमें अनिर्वाच्यतया भिन्न हों तब भी इनकी चरम यथार्थता निरपेक्षमें पहले-से ही विद्यमान होनी चाहिये। निरपेक्ष अनंत रिक्तताका रहस्य नहीं है और न निषेधोंका उच्चतम योगफल है; कुछ भी ऐसा अभिव्यक्त नहीं हो सकता जो कि मूल और सर्वव्यापी परमार्थ-तत्त्वकी अपनी आत्म-शक्तिमें औचित्य न रखता हो।

अध्याय २

ब्रह्म, पुरुष, ईश्वर–माया, प्रकृति, शक्ति

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

वह समस्त भूतोंमें अविभक्त है और फिर भी विभक्त जैसा है।

—गीता १३-१६

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनंत है।

—तैत्तिरीय उपनिषद् २-१

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ।

प्रकृति और पुरुष दोनोंको नित्य अनादि जानो।

—गीता १३-१९

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

मायाको प्रकृति और मायाके प्रभुको सबका महान् ईश्वर जानो।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४-१०

....देवस्यैषं महिमा तु ब्रह्मलोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्म चक्रम् ।
तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ॥
................विदाम.......।
.....पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः......साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।

यह विश्वमें उस परम देवकी शक्ति है जो कि ब्रह्मके चक्रको घुमाती है। उसे समस्त ईश्वरोंका महेश्वर, समस्त देवताओंसे ऊपर परम देव जानना चाहिये। उसकी शक्ति भी परा है और उस शक्तिके ज्ञान एवं बलकी स्वाभाविक क्रिया विविध प्रकारकी है। एक परमदेव समस्त भूतोंके भीतर गुह्य रूपमें छिपकर स्थित है, वह समस्त भूतोंका अंतरात्मा,' सर्वव्यापी, गुणोंसे रहित निरपेक्ष, समस्त कर्मोका अध्यक्ष है, साक्षी ज्ञाता है।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६-१, ७, ८, ११

अतः एक परमार्थ-तत्त्व है जो कि नित्य, निरपेक्ष और अनंत है। चूंकि वह निरपेक्ष और अनंत है, अतः वह अपने स्वरूपमें निर्विशेष्य है। वह सांत और निर्वचन करनेवाले मनके द्वारा अनिर्वाच्य और अचिंत्य है। वह मानस-निर्मित भाषासे अकथनीय है। उसका वर्णन हमारी निषेधोक्तियों (**नेति नेति**) से नहीं हो सकता,—कारण हम यह कहकर कि वह न यह है न वह है, उसे सीमित नहीं कर सकते। और न उसका वर्णन हमारी स्वीकारोक्तियोंसे हो सकता है, कारण हम यह कहकर कि वह यह है वह है (**इति इति**), उसे सीमित रूपमें निर्धारित नहीं कर सकते। और यद्यपि वह इस प्रकार हमारे लिये अज्ञेय है तथापि वह सर्वथा और हर प्रकार-से अज्ञेय नहीं है; वह अपने प्रति स्वयं प्रकाशित है और, यद्यपि हम उसका वर्णन नहीं कर सकते तथापि उस तादात्म्य ज्ञानके द्वारा जिसके लिये कि हमारे भीतरका आत्मा समर्थ होना चाहिये, हमारे प्रति भी स्वयं प्रकाशित है। कारण हमारा वह आत्मा अपने सारतत्त्व, अपने मूल एवं अंतरंग स्वरूपमें उस परम सत्से भिन्न नहीं है।

परंतु, वह यद्यपि मनके लिये इस प्रकार निर्विशेष्य है, क्योंकि वह निरपेक्ष और अनंत है, तथापि हमें यह अनुभव होता है कि यह परम और नित्य अनंत अपनी सत्ताके यथार्थ और मूल-भूत सत्योंके द्वारा विश्वमें हमारी चेतनाके लिये अपने-आपको सविशेष बनाता है; ये सत्य विश्व-से अतीत हैं और विश्वमें भी हैं और विश्वकी सत्ताके आधार हैं। ये सत्य हमारे अवधारणा-त्मक परिज्ञान (cognition) के सामने ऐसे मूलभूत पक्षोंके रूपमें उपस्थित होते हैं जिनमें कि हम सर्वव्यापी परमार्थ-तत्त्वको देखते और अनुभव करते हैं। इनके स्वरूपका प्रत्यक्ष ग्रहण बौद्धिक ज्ञानके द्वारा नहीं होता, अपितु आध्यात्मिक अंतर्भासके द्वारा, अर्थात् हमारी चेतनाके सारद्रव्यमें रहनेवाले अध्यात्म-अनुभवके द्वारा होता है। परंतु एक विशाल और नमनशील विचारके द्वारा अवधारणामें भी उनका ग्रहण हो सकता है तथा एक ऐसी नमनशील भाषाके द्वारा उनका वर्णन भी हो सकता है जो कि कठोर लक्षणपर अत्यधिक आग्रह नहीं करती अथवा विचारकी व्यापकता और सूक्ष्मताको सीमित नहीं करती। इस अनुभव या इस विचारको इस प्रकार अभिव्यक्त करनेके लिये कि जिससे यह अभिव्यक्ति उसके अधिकसे अधिक अंतरंग हो सके, ऐसी भाषाकी रचना करनी होगी कि जो अंतर्भाससे युक्त दार्शनिक हो और अंतःप्रकाश-युक्त काव्यमयी हो; वह ऐसे सार्थक और सजीव रूपकोंको अंगीकार करती हो जो कि अंत-रंग, सूचक और स्पष्ट संकेतके वाहन हों; ऐसी भाषा वेद और उपनिषदोंके सूक्ष्म और अर्थ-पूर्ण विशाल समूहमें ठूंस-ठूंसकर भरी हुई दिखलायी देती है। दार्शनिक विचारकी साधारण भाषामें हमें इतनेपर ही संतोष करना होगा कि वह दूरका (बहिरंग) संकेत दे सके, विविक्त विचारों (abstractions) के द्वारा यह बतला सके कि वे सत्य लगभग ऐसे हैं, कुछ-कुछ ऐसे हैं; क्योंकि यह संकेत, यह लगभगता भी हमारी बुद्धिके लिये कुछ सहायक हो सकते हैं, कारण हमारी न्याय और युक्तिके द्वारा समझनेकी प्रक्रियाके लिये इसी प्रकारकी भाषा अनु-कूल होती है। परंतु इस भाषाको यदि सच्चे अर्थमें सहायक होना है तो बुद्धिको सांत न्याय-की सीमाओंका अतिक्रमण करके अनंतके न्यायमें अभ्यस्त होना चाहिये। केवल इस अवबंध-पर ही, इस प्रकार देखने और विचार करनेसे ही, वह भाषा अकथनीयका कथन करनेमें, अनि-

वाच्यका निर्वचन करनेमें विरोधाभासमयी या निरर्थक नहीं रहती। परंतु हम यदि अनंतके विषयमें सांत न्यायका प्रयोग करनेपर आग्रह करते रहेंगे तो सर्वव्यापी परमार्थ-तत्त्व हमारे हाथ-से निकल जायगा और हम उसके वजाय एक सीमारहित छायाको, एक ऐसे मृत रूपको जो भाषामें पथरा गया है, अथवा ऐसे कठोर तीखे रेखाचित्रको जो परमार्थ-तत्त्वका कथन तो करता है किंतु उसे अभिव्यक्त नहीं करता, पकड़ पायंगे। हमारी जाननेकी विधि ज्ञेयके अनुरूप होनी चाहिये; अन्यथा हम ज्ञेय पदार्थकी केवल एक दूरवर्ती कल्पना (speculation) को, ज्ञानके एक वाहरी आकारको प्राप्त कर पायेंगे और यथार्थ ज्ञानसे वंचित रह जायंगे।

वह परम सत्य-पक्ष जो इस प्रकार हमारे सामने प्रकट होता है वह है एक नित्य, अनंत और निरपेक्ष आत्म-सत् (सत्ता), आत्मचेतना (चित्—Self-awareness), आत्मानंद। यह समस्त पदार्थोंका आधार है और गूढ़ रूपसे उनका अवलंब है और उनमें व्याप्त है। यह सत् (Self-existence) अपने-आपको फिर अपने स्वभावभूत तीन रूपोंमें प्रकाशित करता है—आत्मा (Self), पुरुष और ईश्वर। दूसरे शब्दोंमें ब्रह्म जो एकतम परमार्थ-तत्त्व है वह आत्मा, पुरुष, ईश्वर है। भारतीय भाषाके इन शब्दोंकी उत्पत्तिके मूलमें एक अंतर्भास है और जहां एक ओर इन-में व्यापकतया ठीक-ठीक निर्देश करनेकी सामर्थ्य है, दूसरी ओर इनका नमनशीलताके साथ प्रयोग हो सकता है; इस कारण इनके उपयोगमें अस्पष्टता नहीं आती और अत्यधिक सीमाबंध-कारी अवधारणाके कठोर जालमें भी नहीं फंसना पड़ता। पर ब्रह्म वह है जिसे पाश्चात्य दर्शनोंमें निरपेक्ष (absolute) कहा गया है। परंतु ब्रह्म साथ ही वह सर्वव्यापी परमार्थ-तत्त्व भी है जिसके भीतर वह सब जो सापेक्ष है, उसके रूपों या गतियोंके रूपमें स्थित है; यह ऐसा निरपेक्ष है जो समस्त सापेक्षताओंका परिग्रहण किये हुए है। उपनिषदें कहती हैं कि यह सब ब्रह्म है (**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**); मन ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, भौतिक तत्त्व ब्रह्म है। प्राणके देवता वायुको संबोधन करते हुए कहा गया है कि "हे वायो! तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो"; और मनुष्य, पशु, कीट, पक्षीकी ओर निर्देश करते हुए प्रत्येकका उस एकतमके साथ तादात्म्य किया गया है,—"हे ब्रह्म! तुम यह वृद्ध मनुष्य, कुमार, कुमारी, यह पक्षी, यह कीट हो।"[1]

ब्रह्म वह चेतना (चित्) है जो कि उन सभी पदार्थोंमें जो अस्तित्व रखते हैं, अपने-आपको जानती है; ब्रह्म वह शक्ति है जो कि देव, असुर और राक्षसके बलका आश्रय है। यही वह शक्ति है जो कि मनुष्य और पशुमें और प्रकृतिके रूपों और ऊर्जाओंमें क्रिया करती है। ब्रह्म आनंद है, सत्ताका वह गूढ़ आनंद है जो कि हमारी सत्ताका आकाश है और जिसके बिना कुछ भी न श्वास ले सकता है न जीवन धारण कर सकता है।[2] ब्रह्म सबके भीतर विद्यमान अंतरात्मा है; वह अपने द्वारा सृष्ट प्रत्येक रूपमें रहता है और उस प्रत्येक रूपके अनुरूप उसने रूप धारण किया है। वह समस्त भूतोंका ईश्वर है; वह चेतनोंमें चेतन है (**चेतनश्चेतनानां**);

---

[1]त्वं जीर्णो त्वं कुमार उत वा कुमारी, नीलः पतंगो हरितो लोहिताक्षः।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४-३,४

[2]कोह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनंदो न स्यात्। —तैत्तिरीयोपनिषद् २-७॥

वह साथ ही अचेतन पदार्थोंमें भी चेतन है। वह ऐसा एकतम है जो कि उन बहुका जो कि शक्ति-प्रकृतिके हाथोंमें निश्चेष्ट हैं, प्रभु और नियंता है। वह कालरहित है और काल भी है; वह देश है और देशमें जो कुछ है वह सब भी है। वह कारण है, कार्य है और कार्य-कारण-संबंध (causality) भी है। वह मनीषी और उसका मनन, योद्धा और उसका साहस, द्यूतकार और उसका द्यूत है। समस्त यथार्थताएं, समस्त पक्ष और समस्त प्रतीतियां ब्रह्म हैं; ब्रह्म निरपेक्ष, परात्पर और अव्यवहार्य है; ब्रह्म वह विश्वातीत सत् है जो विश्वको धारण करता है, वह विश्वात्मा (Cosmic Self) है जो समस्त भूतोंको धारण करता है, परंतु वह प्रत्येक व्यक्तिका भी आत्मा है; अंतरात्मा अथवा चैत्य पुरुष ईश्वरका सनातन अंश[1] है। यह उसकी पराप्रकृति या चित्-शक्ति है जो जीवलोकमें जीवभूत हो गयी है (**पराप्रकृतिर्जीव-भूताम्**)। केवल ब्रह्म ही है और उसके ही कारण सब हैं, क्योंकि सब ब्रह्म हैं। जीव और प्रकृतिमें जो कुछ भी हम देखते हैं उस सबका यथार्थ स्वरूप यह परमार्थ-तत्त्व ही है। ब्रह्म, ईश्वर अपनी योगमायाके द्वारा, अर्थात् आत्माभिव्यक्तिमें बाहर उपस्थित की गयी अपनी चित्-शक्तिकी शक्तिके द्वारा यह सब हुआ है। वह पुरुष है, और अपनी प्रकृतिके द्वारा, अर्थात् अपनी चेतन आत्मसत्ताकी शक्तिके द्वारा समस्त पदार्थ हो गया है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वशासक ईश्वर है, और वह अपनी चेतन शक्तिके द्वारा कालमें अपने-आपको व्यक्त करता है और विश्वका शासन करता है। इन और इसी प्रकारके दूसरे वचनोंको एक साथ लेनेपर इनमें सभी भाव आ जाते हैं। हमारे मनके लिये यह संभव है कि वह इनमेंसे कुछ भावोंको काट ले और चुन ले, उनके आधारपर किसी एक शास्त्रका निर्णय कर ले और जिसका उसके भीतर मेल न खाये उसकी मनमानी व्याख्या करके उसका निराकरण कर दे। परंतु यदि हम समग्र ज्ञानको प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें पूर्ण और बहुमुखी वचनोंको अपना आधार बनाना होगा।

अतः अध्यात्म-अनुभवका सर्वप्रथम सत्य यह है कि एक निरपेक्ष, नित्य और अनंत आत्म-सत्ता (सत्) आत्म-चेतना (चित्), आत्मानंद (आनंद) है जो विश्वसे अतीत होते हुए भी उसे गुह्य रूपसे धारण करता है और उसमें व्याप्त है। परंतु सत्का यह स्वरूप दो पक्ष रखता है, निर्व्यक्तिक और सव्यक्तिक; यह केवल सत्ता नहीं है, यह ऐसा एकतम सत् है जो निरपेक्ष, नित्य और अनंत है। जिस प्रकार इस परमार्थ-तत्त्वसे हम इसके तीन मूलभूत पक्षोंमें मिलते हैं—दूसरे शब्दोंमें निरपेक्ष और सर्वव्यापी परमार्थ-तत्त्व ब्रह्म तीन रूपोंमें —आत्मा, पुरुष, ईश्वरके रूपमें—हमारे सामने प्रकट होता है उसी प्रकार चेतनाकी शक्ति भी हमारे सामने तीन पक्षोंमें प्रकट होती है। प्रथम, वह उस चेतनाकी वह आत्मिक शक्ति है जो संकल्पन (Conceptivity) के द्वारा समस्त पदार्थोंकी सृष्टि करती है और जिसका नाम माया है। दूसरे, वह प्रकृति है जो क्रियात्मक रूपसे कार्यकारिणी बनकर पुरुषके उपद्रष्ट्रा चक्षुकी अध्यक्षतामें संपूर्ण पदार्थोंको कार्यान्वित करती है। तीसरे, यह ईश्वरकी चेतन शक्ति है जो कि संपूर्ण दिव्य क्रियाओंकी संकल्पन (Conceptivity) के द्वारा स्रष्ट्री और क्रियात्मक रूपसे कार्यकारिणी

---

[1]ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। —गीता १५-७॥

दोनों है। ब्रह्मके ये तीन पक्ष और उनकी शक्तियां संपूर्ण विश्वसत्ता और समस्त प्रकृतिके आधार हैं और उन सबको अपने भीतर समाविष्ट करते हैं; इन तीन पक्षों और इनकी शक्तियोंको एक साथ मिलाकर दृष्टिमें लानेपर इससे, विश्वातीतकी परात्परता, विश्वकी विश्वात्मकता और हमारी व्यक्तिगत सत्ताकी पृथक्कारितामें जो हमें आपाततः विसंवादिता और असंगति दिखायी देती हैं उनमें संगति हो जाती है। एकतम परमार्थ-तत्त्वके इन तीन पक्षोंसे निरपेक्ष, विश्व-प्रकृति और हम एकत्वके सूत्रमें बद्ध हो जाते हैं। कारण स्वतंत्र रूपमें लेनेपर निरपेक्ष, परब्रह्मकी सत्ता सापेक्ष विश्वके विरुद्ध होगी और हमारी यथार्थ सत्ता उसके एकमात्र अव्यवहार्य स्वरूपके साथ असंगत होगी। परंतु साथ ही साथ ब्रह्म संपूर्ण सापेक्षताओं-में सर्वव्यापी भी है; वह ऐसा निरपेक्ष है जो संपूर्ण सापेक्षसे स्वतंत्र है, उनका आधार, शासक, उनमें व्याप्त, उनकी रचना करनेवाला है; कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो सर्वव्यापी परमार्थ-तत्त्व न हो। इस त्रिविध पक्ष और त्रिविध शक्तिका प्रेक्षण करनेपर हम देख सकते हैं कि यह किस प्रकार संभव है।

यदि हम सत् (self-existence) और उसके कार्योंके इस चित्रको एकात्मिका सीमा-रहित समग्र दृष्टिसे अवलोकन करें तो ऐसा दिखायी देता है कि यह एक साथ खड़ा है, इसमें कहीं भी असंबद्धता या विच्छेद नहीं है और यह दृढ़ताके साथ यह निश्चय कराता है कि यह पूर्ण है। परंतु न्यायशील बुद्धिके विश्लेषणके लिये यह बहुत-सी कठिनाइयां उपस्थित करता है, जैसा कि असीम सत्ताके प्रत्यक्षको न्यायशास्त्रका रूप देनेके सभी प्रयत्नोंमें होना अनिवार्य है। कारण इस प्रकारके किसी प्रयत्नमें तर्कशील बुद्धिको या तो पदार्थोंके संकुलित (complex) सत्यमेंसे इच्छानुसार कुछ अंशको काटकर और शेषका परित्याग करके संगति करनी होगी अथवा यह कहना होगा कि उसका ऐसा संकुलित व्यापक स्वरूप तर्कसंगत नहीं है। कारण हम देखते हैं कि निर्विशेष्य अपने-आपको अनंत और सांतके रूपमें निर्धारित करता है, अक्षर निरंतर परि-वर्तन और अनंत भेदोंको अंगीकार करता है, एकतम असंख्य बहु हो जाता है, निर्व्यक्तिक व्य-क्तित्वकी सृष्टि करता और उसका आश्रय होता है, और वह स्वयं भी एक व्यक्ति, एक पुरुष है। आत्मा प्रकृतिको रखता है और फिर भी अपनी प्रकृतिसे भिन्न है; सत् (being) भूत-भाव हो जाता है और फिर भी सर्वदा अपने स्वरूपमें और अपने भूतभावों (भूतानि) से भिन्न रहता है। वैश्व व्यक्तित्वभावको धारण करता है और व्यक्ति वैश्वभावको प्राप्त करता है; ब्रह्म एक साथ ही गुणोंसे रहित और अनंत गुणोंको धारण करनेमें समर्थ है, कर्मोंका प्रभु और कर्ता है और साथ ही अकर्त्ता और प्रकृतिकी क्रियाओंका शांत निश्चल द्रष्टा है। पदार्थोंकी क्रिया-विधियोंपर बिना गंभीर विचार किये हम यह मानते हैं कि वे स्वाभाविक हैं, क्योंकि वे सदा वैसी ही होती दिखायी देती हैं। यदि हम अपनी परिचितताके इस आवरणको दूर हटा-कर प्रकृतिकी क्रियाओंका सावधानतापूर्वक निरीक्षण करें तो हमें ज्ञात होता है कि जो कुछ भी वह पूर्ण रूपमें या अंशतः करती है वह एक चमत्कार है, किसी दुर्बोध जादूका कार्य है। सत्-का स्वरूप और उसमें जो जगत् प्रकट हुआ है इनमेंसे प्रत्येक पृथक्-पृथक् और दोनों मिलकर, एक ऐसा रहस्य है जो बुद्धिसे परे है। पदार्थोंमें हमें एक युक्तियुक्तता (reason)

दिखायी देती है, कारण भौतिक सांत पदार्थोंकी क्रियाविधियां हमारी दृष्टिमें संगत जान पड़ती हैं और उनका नियम निर्धारित किया जा सकता है; परंतु जब पदार्थोंकी इस युक्तियुक्तताकी गहराईके साथ परीक्षा की जाती है तो प्रतिक्षण हमें ऐसी अयौक्तिक अथवा अवयौक्तिक या अतियौक्तिक वस्तुएं मिलती हैं जिनके विरोधमें यह युक्तियुक्तता डगमगाती प्रतीत होती है। जब हम भौतिक द्रव्यसे प्राणकी ओर और प्राणसे मनपर जाते हैं तो पदार्थोंकी क्रियाविधियों-की संगति (consistency), निर्धार्यता बढ़नेकी अपेक्षा कम होती प्रतीत होती है। यदि सांत कुछ सीमातक युक्तियुक्त होता दिखायी देता है तो अत्यणु उन नियमोंमें बद्ध होना अस्वी-कार करता है और अनंत अग्राह्य है। जहांतक विश्वके कर्म और उसकी अर्थवत्ताका संबंध है, ये तो सर्वथा हमारी पहुंचसे बाहर हैं; यदि आत्मा, ईश्वर या ब्रह्म है तो विश्वसे और हमसे उसके जो भी व्यवहार हैं वे हमारे लिये दुर्ज्ञेय हैं; कोई भी ऐसा सूत्र नहीं जिसे पकड़कर हम उन व्यवहारोंके ज्ञानमें पहुंच सकें। ईश्वर और प्रकृति और यहांतक कि हम सब भी किसी ऐसी रहस्यमयी विधिसे गति कर रहे हैं कि जो केवल आंशिक रूपमें और कुछ ही स्थलों-पर बुद्धिगम्य होती है, उसका पूर्ण रूप हमारे बोधसे बाहर ही है। मायाके संपूर्ण कर्म किसी अतिभौतिक जादूभरी शक्तिकी रचना जैसे प्रतीत होते हैं, और ऐसा जान पड़ता है कि यह शक्ति पदार्थोंकी व्यवस्था अपनी प्रज्ञता (wisdom) या कपोल-कल्पना (Fantacy) के अनुसार करती है; परंतु यह प्रज्ञता ऐसी है जो हमारी नहीं है, और यह कपोल-कल्पना हमारी कल्पनाशक्तिको कुंठित कर देती है। ब्रह्म जो पदार्थोंको अभिव्यक्त करता है अथवा जो उनके अंदर अपनेको इतने अस्पष्ट रूपमें व्यक्त करता है, वह हमारी यौक्तिक बुद्धिको एक जादूगर (मायावी) के समान और उसकी शक्ति या माया एक सृष्टिकारी जादूके समान प्रतीत होते हैं। परंतु जादू भ्रमोंकी भी सृष्टि कर सकता है अथवा आश्चर्यमयी यथार्थताओंकी सृष्टि कर सकता है, और हमारे लिये यह निश्चय करना कठिन होता है कि इन अतियौक्तिक क्रिया-विधियोंमेंसे कौनसी विधि विश्वमें हमारे सामने है।

परंतु, वास्तवमें, हमारी इस धारणाका कारण यह नहीं है कि परम या वैश्व आत्मसत्ता (सत्) में कोई मिथ्या या कपोल-काल्पनिक तत्त्व विद्यमान है; इसके विपरीत वह हमारी ही असामर्थ्य है जिस कारण हम उस सत्की विविध सत्ताके परम संधान-सूत्रको नहीं पकड़ पाते अथवा उसके कर्मकी रहस्यमयी योजना और विधिको नहीं खोज पाते। यह सत् अनंत है और उसकी सत्ता और कर्मकी विधि भी अनंतकी ही विधि होनी चाहिये; परंतु हमारी चेतना सीमित है और हमारी बुद्धि या विचारशक्ति सांत पदार्थोंके आधारपर बनी है। अतः यह मानना युक्ति-विरुद्ध है कि सांत चेतना और बुद्धि अनंतके मापक हो सकते हैं: ये लघु-लघु वस्तुएं उस अतिविशाल पदार्थका निर्णय नहीं कर सकतीं, ये दरिद्र वस्तुएं जो कि अपने स्वल्प साधनोंके कारण सीमित उपयोगमें ही लायी जा सकती हैं, उन समृद्धियोंकी वैभवशाली व्यवस्थाकी कल्पना नहीं कर सकतीं, अज्ञानयुक्त अर्द्धज्ञान सर्वज्ञानमयकी गतिका अनुसरण नहीं कर सकता। हमारी युक्ति भौतिक प्रकृतिकी सांत क्रियाओंसे संबंध रखनेवाले हमारे अनुभवपर, एक ऐसी वस्तुके, जो कुछ सीमाओंके भीतर क्रिया करती है, अपूर्ण प्रेक्षण और अनिश्चित बोधपर आधारित

अदिति

सह

भारत माता

श्रीअरविंदकी विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टिसे प्रेरित

त्रैमासिक पत्रिका

चौरासीवीं कला

श्रीअरविंदके सिद्धि-दिवस २४ नवंबर १९६३ के उपलक्ष्यमें

अदिति कार्यालय, श्रीअरविंद आश्रम

पांडिचेरी-२

विषय-सूची

अदिति सह भारतमाता, २४ नवंबर १९६३

विषय		पृष्ठ
१. संदेश	(श्रीमां)	३
२. कुंडलिनी-शक्ति	(श्रीअरविंद)	४
३. प्रार्थना	(श्रीमां)	५
४. पत्रावली (२)	(श्रीअरविंद)	७
५. भागवत मुहूर्त (११) : पूर्णयोग	(श्रीअरविंद)	९
६. श्रीअरविंदके पत्र		१३
७. त्रिविध रूपांतर	(श्रीअरविंद)	१७
८. रूपांतर	(श्रीअरविंद)	२५
९. हृदय-चक्र	(श्रीअरविंद)	२७
१०. भागवत प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो ?	(श्रीमां)	२८
११. चिंतन-धारा और सूत्रावली—(स्पष्टीकरण)	(श्रीमां)	३१
१२. धम्मपदं (४)—(व्याख्या)	(श्रीमां)	४३
१३. श्रीअरविंदके साथ बातचीत	(डा. नीरदवरण)	४६
१४. दिव्य जीवन	(श्रीअरविंद)	३३–४८

संपादक और प्रकाशक : चंद्रदीप, श्रीअरविंद आश्रम, पांडिचेरी

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी।

728/8/63/600

श्रीअरविंद (कलकत्तेमें)

Whatever is done here, must be done in a spirit of complete collaboration with one single aim in view — the Service of the Divine.

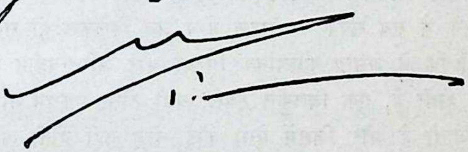

जो कुछ यहां किया जाता है उसे महज एक उद्देश्य--भगवान्‌की सेवा--को अपनी दृष्टिके सामने रखकर पूर्ण सहयोगकी भावनाके साथ करना चाहिये ।

—श्रीमां

दिव्य जीवनमें प्रवेश

अच्छे और बुरे, शुभ और अशुभ, उच्चतर और निम्नतर इत्यादिकी ये सभी धारणाएं, इनमेंसे प्रत्येक ही, मानव मनके अज्ञानकी चीज है; और, तुम यदि वास्तवमें भागवत जीवनके साथ अपना संबंध स्थापित करना चाहो तो तुम्हें इस अज्ञानसे संपूर्णतः मुक्त हो जाना चाहिये, तुम्हें ऊपर उठकर चेतनाके एक ऐसे क्षेत्रमें चले जाना चाहिये जहां ये चीजें जरा भी सत्य नहीं होतीं। वहां उच्चतर और निम्नतरका भाव संपूर्ण रूपमें विलीन हो जाता है, उसके स्थानमें एक ऐसी चीज आ जाती है जिसका स्वभाव बहुत भिन्न प्रकारका होता है। उस समय एक ऐसी क्षमता आ जाती है जिसके द्वारा तुम बाह्य रूपोंकी असलियतको छान लेते हो, छद्मवेशके परे जाकर देखते हो, अपने दृष्टिकोणको एकदम बदल लेते हो।

ये महज शब्द नहीं हैं; यह एकदम सत्य है कि ये चीजें अपने आकारमें, पूर्ण रूपसे बदल जाती हैं; जीवन और वस्तुएं जो कुछ ऊपरसे दिखायी देती हैं, उससे बिलकुल भिन्न होती हैं। संसारके ये सब संपर्क, साधारण बोध अब बिलकुल ही सत्य नहीं रह जाते। ये सब ऐसे बन जाते हैं कि वे असत्य, काल्पनिक, मिथ्या और अस्तित्वहीन मालूम पड़ते हैं। उस समय एक ऐसी चीज होती है, एक बिलकुल स्थूल, बड़ी ठोस, एकदम भौतिक चीज होती है जो सत्ताका सत्य बन जाती है और जिसमें ऐसी कोई चीज नहीं होती जो साधारण रूपमें देखनेके ढंगके साथ मिलती-जुलती हो। जब तुम्हें वह बोध—कर्मका बोध, दिव्य शक्तिका बोध, बाह्य रूपके पीछे चलनेवाली क्रियाका, बाह्य रूपके अंदर और बाह्य रूपके द्वारा, बोध—प्राप्त हो जायगा तब तुम सामान्य मानवीय मिथ्यात्वसे कहीं अधिक सत्य किसी वस्तुमें निवास करनेके योग्य प्रस्तुत होने लगोगे। परंतु उससे पहले नहीं।

*

श्रीअरविंद कहते हैं कि एक सच्चा समाज (जिसे वह विज्ञानमय या अतिमानसिक जाति कहते हैं) केवल तभी अस्तित्व रख सकता है जब कि उसके प्रत्येक सदस्यको आंतरिक उपलब्धि प्राप्त होगी, समाजके अन्य सदस्योंके साथ प्राप्त एक सच्चे, ठोस एकत्व और तादात्म्यके द्वारा वह प्राप्त होगी अर्थात् जब प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करेगा कि वह एक ऐसा सदस्य नहीं है जो दूसरोंके साथ किसी प्रकार जोड़ दिया गया है, बल्कि एकमें, स्वयं अपने अंदर सब वही है। प्रत्येक व्यक्तिके लिये दूसरे वैसे ही आत्मरूप होने चाहियें जैसे कि उसका स्वयं शरीर है और वह भी किसी मानसिक और कृत्रिम तरीकेसे नहीं वरन् चेतनाके एक तथ्यके द्वारा, एक आंतरिक अनुभूतिके द्वारा। अतएव इस अतिमानसिक समाजकी प्रतिष्ठा करनेकी आशा करनेसे पहले सर्वप्रथम प्रत्येक व्यक्तिको अतिमानसिक पुरुष बन जाना होगा अथवा कम-से-कम बनना आरंभ कर देना होगा।

—श्रीमां

श्रीमां

प्रार्थना

तू ही एकमात्र सद्वस्तु है, हे भगवान्, तू ही सर्वशक्तिमत्ता और शाश्वतता है। जो अपनी सत्ताकी गहराईमें तेरे साथ युक्त हो जाता है वह शाश्वत और अक्षर सर्वशक्तिमत्तासे युक्त तेरा सच्चा स्वरूप बन जाता है। परंतु दूसरे लोगोंके लिये यह आदेश है कि तेरे साथ संस्पर्श बनाये रखते हुए उन्हें अपनी दृष्टि और क्रियावलीको पृथ्वीकी ओर मोड़ना होगा; यही महान् कार्य तूने उन्हें सौंपा है।

* * *

अब समस्त अंधकार विलीन हो गया है, और बस तू ही विभिन्न लोकोंमें, विभिन्न रूपोंमें निवास कर रहा है, सबमें एकरूप, अक्षय और अनंत जीवन है।

विशुद्ध प्रेम तथा अखंड एकत्वके तेरे अक्षय राज्यके इस दिव्य जगत्को हमें अन्यान्य सभी राज्योंके दिव्य जगत्के साथ घनिष्ठ रूपमें जोड़ देना चाहिये---यहांतक कि अत्यंत भौतिक राज्यतकको जहां तू ही प्रत्येक अणु-परमाणुका केंद्र तथा उनका पूर्ण संगठित रूप है। इन सभी दिव्य जगतोंकी क्रम-परंपराके बीच पूर्ण चेतनाका मिलन-सूत्र स्थापित करना ही वह एकमात्र साधन है जिसकी सहयातासे सर्वदा एक समान तेरे अंदर निवास किया जा सकता है तथा जो कार्य तूने इस समस्त सत्ताको सौंपा है उसे भी इसकी चेतनाकी सभी स्थितियोंमें एवं उसकी सभी कार्यधाराओंमें संपूर्ण रूपमें सिद्ध किया जा सकता है।

* * *

हे प्रेमके दिव्य स्वामी! हे शाश्वत गुरु! ......तू हमारी चेतनाको प्रकाशित कर, हमारे पगोंको ठीक रास्तेपर चला और ऐसी कृपा कर कि हम अपने लिये संभव सभी कर्मोंको अधिक-से-अधिक कर सकें और अपनी शक्तियोंको केवल तेरी सेवामें प्रयुक्त करें।

* * *

हे नाथ! हे स्वामिन्! ऐसी कृपा कर कि तेरी सर्वोच्च शक्ति अभिव्यक्त हो; ऐसी कृपा कर कि तेरा कार्य पूरा हो और तेरी सेविका एकमात्र तेरी ही सेवामें समर्पित हो जाय।

(प्रार्थना और ध्यान)

आध्यात्मिक अनुभूतिकी दृष्टिसे कालकी कोई ठोस वास्तविकता नहीं है; सब कुछ निर्भर करता है अभीप्साकी सच्चाई और तीव्रताके ऊपर, प्रयासके दृढ़तापूर्वक होते रहनेपर। जिस कामको करनेमें दूसरोंको वर्षों लग जाते हैं उसे कोई-कोई कुछ सप्ताहोंमें और यहांतक कि कुछ दिनोंमें भी कर सकते हैं। और इसके अतिरिक्त जब हम आध्यात्मिक और बौद्धिक उन्नतिकी चर्चा करते हैं तब आयुका प्रश्न अपना सारा महत्त्व खो देता है, क्योंकि प्रगतिके जो दो मुख्य साधन मन और प्राण हैं वे ह्रासके उसी नियमके आधीन नहीं हैं जिसके आधीन भौतिक शरीर है। मानसिक प्रगतिके लिये न तो समयकी कोई सीमा है न आयुकी; मानसिक प्रगति तो सैकड़ों वर्षोंतक एक-जैसी अनवरत होती रह सकती है।

दूसरे, असफलता कोई असमर्थताका चिह्न नहीं है—ये दोनों एक-दूसरीसे कोसों दूर हैं।

बार-बार असफलताएं उन लोगोंके पास आती रहती हैं जिन्हें कोई असाधारण कार्य करना होता है; जो लोग किसी तुच्छ और सामान्य सिद्धिसे संतुष्ट हो जाते हैं केवल वे ही लोग जो कुछ प्रयास करते हैं उसमें आसानीसे सफल होते हैं। विशिष्ट मूल्य रखनेवाले स्वभाव-वालोंको सर्वदा ही अगणित अग्निपरीक्षाओंका सामना करना पड़ता है।

और, तीसरे, जब मैं भागवत प्रेमकी शरण लेनेको कहती हूं तब मेरा आशय यह नहीं होता कि वह अपने-आपमें पूर्णतः पर्याप्त है। नहीं, ऐसी बात नहीं है; व्यक्तिगत प्रयास एवं अनुकूल परिस्थितियां भी क्षिप्रताके साथ प्रगति करनेके लिये आवश्यक होती हैं। परंतु जो लोग भागवत प्रेमका आश्रय ले पाते हैं उन्हें एक आधार, एक संरक्षण और एक प्रकारका हर्ष प्राप्त हो जाता है जो उन्हें सभी अग्निपरीक्षाओंका सामना करने तथा सभी कठिनाइयों-को पार कर जानेकी शक्ति-सामर्थ्य प्रदान करता है।

३१ जनवरी १९६१

***

कठिनाइयोंके कारण हतोत्साह मत हो जाओ—जब कभी मनुष्य जीवन-में कोई वस्तु उपलब्ध करना चाहता है तब कठिनाइयां आती ही हैं—उन्हें एक ऐसी तपस्या समझो जो तुम्हें शक्तिशाली बनायगी और फिर तुम उन्हें कहीं अधिक आसानीसे अतिक्रम कर जाओगे।

१० मार्च १९५९

श्रीमाताजी

पत्रावली

(२)

बंगला :

बाधा सकलेर हय—जारा काज करे ना, तादेरओ विशेष जोरे बाधा आसे।

*

वहिःप्रकृति छाड़छे ना वले बाधा हयेछे, वहिःप्रकृतिर जखन नव जन्म हवे तखन आर बाधा थाकवे ना।

*

आमि एइ सम्बन्धे बार-बार तोमाके बुझिये दियेछि जे बाधा एक मुहूर्त्ते जाय ना—बाधा हच्छे से-मानुषेर बहिःप्रकृतिर स्वभावेर फल—से स्वभाव एकदिने वा अल्पदिने बदलाय ना—श्रेष्ठ साधकेरओ नय। तवे मायेर उपर सम्पूर्ण निर्भर करे शान्त धीर भावे उत्कंठित ना हये यदि मांके सर्वदा डेके एगिये चलो, बाधा एलेओ किछु करते पारवे ना—समये तार जोर कमे जावे, नष्ट हये जावे, आर थाकवे ना।

*

एइ बाधा सकलेर आछे। प्रति मुहूर्त्त युक्त हउया सहजे हय ना। धीर भावे साधना करते करते हये जाय।

*

बाधा त विशेष किछु नय, मानुषेर बहिः-प्रकृतिते जा थाके ताइ—सेगुलो मायेर शक्तिर working द्वारा क्रमे दूरीकृत हवे। तार जन्य चिन्तित वा दुःखित हवार कोनो कारण नाइ।

*

हिंदी :

बाधा सवको होती है—जो काम नहीं करते, उनके सामने भी वहुत जोरसे वाधा आती है।

*

वहिःप्रकृति नहीं छोड़ती इसी कारण बाधा आ रही है, वहिःप्रकृतिका जव नवजन्म होगा तव फिर बाधा नहीं रहेगी।

*

मैंने इस संवंधमें तुम्हें समझा दिया है कि बाधा एक क्षणमें नहीं जाती—बाधा है उस मनुष्यकी वहिःप्रकृतिका फल—वह स्वभाव एक दिनमें या थोड़े दिनोंमें नहीं बदलता—श्रेष्ठ साधकका भी नहीं। तव मांके ऊपर संपूर्ण निर्भर करके, शांत-धीर भावसे, उत्कण्ठित न होकर यदि मांको सर्वदा पुकारते हुए आगे बढ़ते चलो तो बाधा आनेपर भी वह कुछ कर नहीं सकेगी—यथासमय उसका जोर कम हो जायगा, वह नष्ट हो जायगी, उसके बाद वह रहेगी ही नहीं।

*

यह बाधा सबको है। प्रति मुहूर्त्त युक्त रहना आसानीसे नहीं होता। धीर भावसे साधना करते-करते हो जाता है।

*

बाधा तो विशेष कोई चीज नहीं—मनुष्य-की बहिःप्रकृतिमें जो कुछ होता है वस वही है—वह सव श्रीमांकी शक्तिकी क्रियाके द्वारा क्रमशः दूर हो जायगा। उसके लिये चिन्तित या दुःखित होनेका कोई कारण नहीं।

*

माके सर्वदा स्मरण करो, माके डाको ता हले बाधा चले जावे। बाधाके भय करो ना, विचलित हयो ना—स्थिर हये माके डाको।

सर्वदा मांका स्मरण करो, मांको पुकारो तो बाधा चली जायगी। बाधासे भय मत करो, विचलित मत होओ—स्थिर होकर मांको पुकारो।

*

बाधा अनन्त appear करे बटे। से appearance सत्य नय, राक्षसी माया मात्र—ठिक पथे चलते चलते शेषे पथ परिष्कार हये जाय।

निश्चय ही बाधा अनंत प्रतीत होती है। वह प्रतीति सत्य नहीं, राक्षसी मायामात्र है—ठीक पथसे चलते रहनेपर अंतमें पथ परिष्कार हो जाता है।

*

कतकटा ताइ, तवे बाधा काउके सहजे छाड़े ना, खूब बड़ो योगीकेओ नय। मनेर बाधा अपेक्षाकृत सहजे छाड़ानो जाय, किन्तु प्राणेर बाधा, शरीरेर बाधा ततो सहजे जाय ना, समय लागे।

बहुत कुछ ऐसा ही है, पर बाधा किसीको आसानीसे नहीं छोड़ती, खूब बड़े-बड़े योगियोंको भी नहीं। मनकी बाधाको अपेक्षाकृत आसानीसे हटाया जा सकता है, किंतु प्राणकी बाधा, शरीरकी बाधा उतनी आसानीसे नहीं जाती, समय लगता है।

*

बड़ो बड़ो साधकेरओ बाधा आक्रमण करते पारे, ताते कि? Psychic अवस्था थाकले, मायेर संगे युक्त थाकले एइ सब आक्रमणेर चेष्टा वृथा हये जाय।

बड़े-बड़े साधकोंपर भी बाधा आक्रमण कर सकती है, इससे क्या? चैत्य अवस्था रहनेपर, मांके साथ युक्त रहनेपर इन सब आक्रमणोंका प्रयत्न वृथा हो जाता है।

*

एइ दुइ बाधा साधकेर प्रायइ थाके। प्रथमटि प्राणेर, द्वितीयटि शरीर-चेतनार—स्वतंत्र हये थाकले कमे गिये शेषे आर थाके ना।

ये दो बाधाएं साधकोंको प्रायः ही रहती हैं। पहली, प्राणकी, दूसरी, शरीर-चेतनाकी —(इनसे) स्वतंत्र होकर रहनेपर धीरे-धीरे कम होकर ये अंतमें फिर नहीं रहतीं।

*

एइ सब बाधा सकलेर आसे, ता ना हले योगसिद्धि अल्पदिनेइ हये जेतो।

ये सब बाधाएं सबको होती हैं, ऐसा न होता तो योगसिद्धि थोड़े दिनोंमें ही हो जाती।

(क्रमशः)

पूर्णयोग

(२)

परब्रह्म, मुक्ति और मानवीय विचारपद्धतियां

परब्रह्म सर्वातीत सत्ता है, और चूंकि वह सर्वातीत है, उसे ज्ञानकी भाषामें बांधा नहीं जा सकता। तुम एक प्रकारसे 'अनंत'को जान सकते हो, किंतु तुम सर्वातीतको नहीं जान सकते।

सारे सत् या असत् पदार्थ सर्वातीतकी आत्मचेतनामें (चिदात्मा) में सृष्ट प्रतीक हैं; अपने प्रतीकोंके द्वारा सर्वातीत उस हदतक जाना जा सकता है, जहांतक कि वे प्रतीक उसे प्रकट करते या उसका संकेत देते हैं, किंतु एक साथ मिलकर सभी प्रतीकोंका ज्ञान भी सर्वातीतके यथार्थ ज्ञानके बराबर नहीं होता। तुम परब्रह्म बन सकते हो; तुम परब्रह्मको जान नहीं सकते, परब्रह्म बननेका अर्थ है आत्म-चेतनाके द्वारा परब्रह्ममें लौट जाना, क्योंकि तुम पहलेसे ही 'वह' (तत्) हो, केवल तुमने आत्मचेतनामें अपने-आपको परब्रह्मकी संज्ञाओं या प्रतीकोंमें, पुरुष और प्रकृतिके रूपोंमें बाहर निक्षिप्त कर दिया है, जिनके द्वारा तुम विश्वको धारण करते हो। अतएव नामों या प्रतीकोंसे रहित परब्रह्म बननेके लिये तुम्हें विश्व-सत्तासे बाहर निकलकर अपना अस्तित्व ही खो देना होगा।

ऐसा परब्रह्म बननेपर, जो अपने आत्म-प्रतीकोंसे रहित है, तुम ऐसी कोई वस्तु नहीं बन जाते जो तुम पहलेसे ही नहीं हो, और न विश्व ही अपनी क्रिया करना बंद कर देता है। इसका अर्थ तो केवल यही होता है कि भगवान् अभिव्यक्त चेतनाके समुद्रमेंसे अपनी निजी एक धारा या गतिको बाहर निकालकर पीछे उस सत्तामें फेंक देते हैं जिसमेंसे कि सारी चेतना प्रवाहित हुई थी।

वे सब (जीव) जो विश्व-चेतनासे बाहर चले जाते हैं, आवश्यक रूपसे परब्रह्ममें ही प्रवेश नहीं करते। कुछ निर्विशेष प्रकृति (अव्याकृत प्रकृति) में चले जाते हैं, कुछ भगवान्में विलीन हो जाते हैं, कुछ विश्वज्ञानसे शून्य एक अंधकारपूर्ण स्थिति ('असत्' 'शून्यम्') में प्रवेश करते हैं, कुछ विश्वज्ञानसे शून्य एक प्रकाशमय स्थिति—विशुद्ध निर्विशेष आत्मा, विशुद्ध सत् या विश्वके सत्तात्मक आधार—में पहुंच जाते हैं, कुछ आनंद, चित् या सत्के नैर्व्यक्तिक तत्त्वोंमें पहुंचकर प्रगाढ़ निद्रा ('सुषुप्ति') की अस्थायी स्थितिमें चले जाते हैं। ये सब मुक्तिके ही रूप हैं और भगवान्से, उनकी माया या प्रकृतिके द्वारा, (जीवका) अहंभाव इनमेंसे किसी भी एककी ओर जानेकी प्रेरणा पाता है, जिधर कि उस अहंभावको प्रेरित करना परम पुरुष पसंद करते हैं; जिन्हें भगवान् मुक्त करके भी जगत्में रखना चाहते हैं, उन्हें वे जीवन्मुक्त बना देते हैं या पुनः अपनी विभूतियोंके रूपमें बाहर भेज देते हैं, और वे जीव भागवत उद्देश्योंके हेतु

कुछ समयके लिये अविद्याका चोला पहनना स्वीकार कर लेते हैं, जो उन्हें जरा भी नहीं बांधता और जिसे वे बड़ी आसानीसे फाड़ या दूर फेंक सकते हैं।

अतएव परब्रह्म बननेकी लालसा रखना एक प्रकारका ज्योतिर्मय भ्रम या मायाकी सात्त्विक लीला है; क्योंकि वास्तवमें न तो खोई बद्ध है और न कोई मुक्त और न किसीको मुक्त होनेकी आवश्यकता ही है; सब कुछ केवल भगवान्‌की लीला ही है, परब्रह्मकी अभिव्यक्तिका खेल है। भगवान् अपने विशिष्ट उद्देश्यकी धारामें कुछ अहंभावोंको ऊपर खींचनेके लिये उनमें इस सात्त्विक मायाका उपयोग करते हैं और ऐसे अहंभावोंके लिये यही एकमात्र उचित और संभव मार्ग है।

किंतु हमारे योगका उद्देश्य है विश्वमें जीवन्मुक्ति प्राप्त करना; हमें जगत्‌के बाहर मुक्त होकर नहीं, जगत्‌में ही मुक्त होकर रहना है, इस कारण नहीं कि हमें मुक्त होनेकी आवश्यकता है, या और किसी कारणसे भी नहीं, वल्कि इसलिये कि वही हमारे अंदर भगवान्‌की इच्छा है।

जीवन्मुक्तको पूर्ण ज्ञान और आत्म-परिपूर्णताके लिये परब्रह्मकी देहलीपर खड़ा होना होता है, किंतु उस देहलीको पार नहीं करना होता। उस देहलीसे जो संदेश लेकर वह लौटता है वह यह है कि 'वह' है (परब्रह्म है—'तत् सत्') और हम भी वही परब्रह्म हैं, किंतु वह क्या है या क्या नहीं है इसे शव्द नहीं कह सकते और न मन ही इसका ठीक-ठीक विवेचन कर सकता है।

चूंकि परब्रह्म सर्वातीत है, किसी भी नाम या निश्चित धारणाके द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह सत् या असत् नहीं है, बल्कि कोई ऐसी वस्तु है जिसके सत् और असत् आदि-प्रतीक हैं; वह आत्मा या अनात्मा या माया नहीं है; व्यक्तित्व या निर्व्यक्तित्व नहीं है; गुण या गुणाभाव नहीं है; चेतना या अचेतना नहीं है; आनंद या निरानंद नहीं है; पुरुष या प्रकृति नहीं ह; न देवता है, न मनुष्य, न पशु; न मुक्ति है, न बंधन; वल्कि कोई ऐसी वस्तु है जिसके ये सब प्राथमिक या व्युत्पन्न, सामान्य या विशिष्ट प्रतीक हैं। फिर भी, जब हम यह कहते हैं कि परब्रह्म यह नहीं है या वह नहीं है, तब हमारा मतलब यह होता है कि अपने सारतत्त्वमें वह (परब्रह्म) इस या उस प्रतीक या प्रतीकोंके किसी भी समूहसे सीमित नहीं हो सकता; एक अर्थमें परब्रह्म ही यह सब कुछ ('इदं सर्वं') है, यह सब कुछ परब्रह्म ही है। परब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है जो यह सब हो सकता है। परब्रह्म सर्वातीत होनेके कारण तर्कके अधीन नहीं है, क्योंकि तर्क केवल निश्चित स्वरूपवाले पदार्थोंपर ही लागू होता है। यदि हम यह कहते हैं कि 'सर्वातीत' निश्चित स्वरूपवाले पदार्थोंको अभिव्यक्त नहीं कर सकता और इसलिये जगत् मिथ्या या असत् है, तो हम एक असंगत वात ही कहते हैं। सर्वातीतका एकदम स्वभाव ही ऐसा है कि हम नहीं जानते कि वह क्या है या क्या नहीं है, वह क्या कर सकता या क्या नहीं कर सकता; हमारे पास यह मान लेनेके लिये कोई कारण नहीं कि कोई ऐसी भी चीज है जिसे वह नहीं कर सकता या यह कि उसका सर्वातीत्य किसी प्रकारकी असमर्थतासे परिसीमित है। हमें यह आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त होती है कि जब हम और सब चीजोंसे परे चले जाते हैं तो हम किसी सर्वातीत वस्तुके पास पहुंचते हैं; हमें

यह आध्यात्मिक अनुभव होता है कि विश्व स्वरूपतः एक अभिव्यक्ति है जो मानो सर्वातीतसे निःसृत होती है; किंतु ये सब शब्द और शब्द-संयोजन अनिर्वचनीयको शब्दोंमें व्यक्त करनेका प्रयत्न करनेवाली बौद्धिक संज्ञाएंमात्र हैं। हम जो कुछ देखते हैं उसका यथासंभव अच्छे-से-अच्छे ढंगसे वर्णन करना चाहिये; किंतु जो कुछ दूसरे लोग देखते या कहते हैं उसपर हमें विवाद करनेकी आवश्यकता नहीं; वरंच, जो कुछ उन्होंने देखा और कहा है उसे हमें स्वीकार करना चाहिये और अपनी निजी विचार-पद्धतिके अंदर उसका यथार्थ स्थान और हेतु निर्धारित करना चाहिये। हमारा झगड़ा सिर्फ उन्हीं लोगोंसे है जो दूसरोंके सत्य-दर्शनको श्रेय नहीं देना चाहते या उनको उनकी बात कहनेकी स्वतंत्रता देना नहीं चाहते और उनके कथनके मूल्यको अस्वीकार करते हैं; उन लोगोंसे हमारा कोई विवाद नहीं जो अपने ही सत्य-दर्शनका वर्णन करके संतुष्ट हो जाते हैं।

एक दार्शनिक या धार्मिक प्रणाली विश्वमें विद्यमान सत्ताके उस संगठनका वर्णनमात्र है जिसे भगवान्ने हमारी सत्ताकी स्थितिके रूपमें हमारे सम्मुख प्रकट किया है। वह प्रणाली इसलिये प्रदान की जाती है कि जब हम प्रकृतिमें कार्य करते हैं तो मनके खड़े होनेके लिये कोई आधार मिल जाय। किंतु यह आवश्यक नहीं कि हमारा सत्य-दर्शन अपने संगठनमें ठीक-ठीक वही हो जो दूसरोंका है, न यही अनिवार्य है कि विचारका जो बाह्य रूप हमारी मनोवृत्तिके अनुकूल है वही भिन्न प्रकारसे गठित मनोवृत्तिके भी अनुकूल हो। अतएव हमारा बौद्धिक दृष्टिकोण होना चाहिये, अपनी निजी प्रणालीपर दृढ़ निष्ठा, किंतु हठवादितासे शून्य, दूसरी समस्त प्रणालियोंके प्रति सहिष्णुता, किंतु दुर्बलतासे रहित।

तुम्हें ऐसे तार्किक मिलेंगे जो तुम्हारी प्रणालीके संबंधमें इस आधारपर शंका उठायेंगे कि वह अमुक शास्त्रसे या अमुक आप्त पुरुषों—चाहे वे दार्शनिक हों, संत हों या अवतार—के वचनोंसे मेल नहीं खाता। अतएव याद रखो कि एकमात्र साक्षात्कार और स्वानुभूतिका ही वास्तविक महत्त्व है। सत्ताके संबंधमें शंकरने जो कुछ तर्क किया या विवेकानंदने जो बौद्धिक धारणा बनायी या रामकृष्णने अपने अनेक और विभिन्न साक्षात्कारोंके आधारपर जो कुछ कहा, वह भी तुम्हारे लिये केवल उसी हदतक मूल्यवान् है जहांतक कि तुम उसे स्वीकार करने और अपने स्वानुभवमें पुनरुज्जीवित करनेके लिये भगवान्के द्वारा प्रेरित होते हो। विचारकों, संतों और अवतारोंके मतोंको (सत्यके) संकेतोंके रूपमें स्वीकार करना चाहिये, न कि बंधनोंके रूपमें। तुम्हारे लिये महत्त्व उसी बातका है जिसे तुमने स्वयं अनुभव किया है या जो कुछ भगवान् अपने विश्वात्मक व्यक्तित्वमें या नैर्व्यक्तिक रूपमें या फिर व्यक्तिगत रूपमें किसी शिक्षक, गुरु या मार्गान्वेषकके द्वारा योगमार्गमें तुम्हें दिखलाते हैं।

(३)

ईश्वर या परपुरुष अव्यक्त और अनिर्वचनीय परब्रह्म हैं जो एक प्रकारके प्रकटीकरण या अभिव्यक्तिमें प्रवृत्त हैं; उस अभिव्यक्तिकी दो शाश्वत संज्ञाएं हैं आत्मा और जगती या विश्व। अपने आत्म-प्रतीकके रूपमें आत्मा ही विश्वकी सारी सत्ताएं बनता है; इसी प्रकार जब विश्वके

यथार्थ रूपका ज्ञान हो जाता है तब विश्वके सारे प्रतीक अर्थात् नामरूपात्मक वस्तुएं आत्मामें परिणत हो जाती हैं। ईश्वर परब्रह्म होनेसे स्वयं सर्वातीत है; न वह आत्मा है, न माया, न अनात्मा; न सत् है न असत्; न भूतभाव है न भूतभावका अभाव (संभूति, असंभूति); न गुण है न गुणाभाव (सगुण, निर्गुण); न चेतना है न निश्चेतना (चैतन्य, जड़); न आत्मा है न प्रकृति; न आनंद है न निरानंद; न मनुष्य है, न देवता, न पशु; वह इन सबसे परे है, वह अपने अंदर इन सब वस्तुओंको जगत्के रूपमें बनाये रखता और धारण करता है; वह ये सभी वस्तुएं हैं और ये सभी वस्तुएं बनता है।

परब्रह्म और परपुरुषमें केवल यही अंतर है कि परब्रह्मको हम अपनी विश्व-सत्तासे परेकी कोई चीज समझते हैं, जो अवश्य ही यहां अभिव्यक्त हुई है किंतु फिर भी अभिव्यक्त की जाने योग्य नहीं है। और परपुरुष हमारी समझमें कोई ऐसी वस्तु है जो हमारी विश्व-सत्ताके निकट आती हुई प्रतीत होती है, जो निःसंदेह अभिव्यक्त की जाने योग्य तो नहीं है तथापि यहां अभिव्यक्त हुई है। बात कुछ इस ढंगकी है कि रामायणका या होमरके महाकाव्य 'इलियड'-का अनुवाद पढ़ते समय मानों हम उसमें मूल पुस्तककी उस अगम वस्तुको ढूंढ़नेका प्रयत्न करें जिसे कोई अनुवादक पकड़ नहीं सकता और उसे न पाकर कह उठें, "यह रामायण नहीं है", "यह इलियड नहीं है" और फिर भी, उन स्थानोंकी, जो अवश्य ही पुस्तककी मूल आत्मा और अभिप्रायको किसी अंशमें व्यक्त करनेमें सफल हुए हैं, आपेक्षिक उत्कृष्टताको देखकर हम साथ ही यह भी कह उठें, "यही है वाल्मीकि", "यही है होमर"। दृष्टिकोणके उस अंतरके सिवा और कोई अंतर नहीं है। उपनिषदें सर्वातीत परब्रह्मको 'तत्' कहती हैं; जब वे पर-पुरुषके विषयमें कहती हैं तब 'स' (सः) शब्दका प्रयोग करती हैं।

(अतिमानसको अभिव्यक्त करनेके लिये) यह आवश्यक है कि हमारे अंदर परिवर्त्तित होनेकी इच्छा हो, हम जो कुछ हैं वही बने रहना न चाहें और सारी अन्य वस्तुएं जैसीकी तैसी न बनी रहें।

श्रीअरविंदके पत्र

'आर्य' कार्यालय, पांडिचेरी
१८ नवंबर १९२२.

.......मैं अबतक एक योग-साधनामें लगा रहा हूं और अभी और भी कुछ समयतक उसीमें व्यस्त रहूंगा। वह योग जीवनसे अलग हटनेका आधार नहीं बनेगा, बल्कि मानव-जीवनको रूपांतरित करनेका आधार बनेगा। यह एक ऐसा योग है जिसमें आंतरिक अनुभवके विशाल अछूते राज्योंको तथा साधनाके नये-नये मार्गोंको खोलना पड़ा था और इसलिये जिसे पूरा करनेके लिये एकांतवास और दीर्घकालकी आवश्यकता थी। परंतु अब समय निकट आ रहा है, यद्यपि अभीतक आया नहीं है, जब कि मुझे एक विशाल बाहरी कर्म अपने हाथमें लेना होगा जो इस योगकी आध्यात्मिक नींवपर आरंभ होगा।

अतएव यह आवश्यक है कि आरंभमें कुछ थोड़ेसे और छोटे-छोटे केंद्र स्थापित किये जायं और जेसे-जैसे मैं आगे बढ़ता जाऊं वैसे-वैसे उनकी संख्या और आकार भी बढ़ता जाय। ये केंद्र इस साधनाकी शिक्षा देंगे और मेरे सीधे निरीक्षणके अधीन होंगे, दूसरे कुछ ऐसे होंगे जिन-के साथ मेरा सीधा संपर्क होगा। जो लोग वहां प्रशिक्षित होंगे वे पीछे मेरे सहकारी बनेंगे और जो कार्य मुझे करना होगा उसमें सहायता करेंगे। परंतु अभी ये केंद्र कोई बाहरी कार्य नहीं करेंगे बल्कि आध्यात्मिक शिक्षण और तपस्याके लिये होंगे।

पहला केंद्र यहां पांडिचेरीमें विद्यमान है और जब मैं ब्रिटिश भारतमें वापस जाऊंगा तब यह भी वहां स्थानांतरित कर दिया जायगा। परंतु इसे चलाने और विस्तृत करनेके लिये मुझे धनकी आवश्यकता है। दूसरा केंद्र मैं तुम्हारे द्वारा बंगालमें स्थापित कर रहा हूं। मैं आशा करता हूं कि आगामी वर्ष गुजरातमें एक और केंद्र स्थापित कर सकूंगा।

मैं अभी आश्रममें जितने लोगोंको भर्त्ती कर सकता हूं उससे बहुत अधिक लोग इस साधना-का अनुसरण करना चाहते हैं और इसके योग्य भी हैं। जब बहुत बड़ी साधन-सामग्री मेरे हाथों-में आयगी केवल तभी मैं इस कार्यको चला सकूंगा जो सच पूछा जाय तो मेरे कर्ममें वापस जानेकी तैयारीके लिये बड़ा आवश्यक है।

.......यहां मैं इतना और जोड़ दूं कि जिस कर्मकी बात मैंने अभी कही है वह व्यक्तिगत रूपसे तथा एक विशालतर अर्थमें भी मेरा निजी कर्म है और यह कर्म मेरे लिये न तो कोई दूसरा कर रहा है और न कर ही सकेगा। जो कोई कार्य दूसरोंके द्वारा मेरे नामके अधीन अथवा मेरी स्वीकृतिके साथ किया जा जुका है अथवा किया जा रहा है, वह इस कार्यसे एकदम पृथक् और भिन्न है। यह कार्य केवल मेरे द्वारा ही किया जा सकेगा—तुम्हारे समान दूसरे लोग, जो मेरी आध्यात्मिक साधनामें सीधे मेरे अधीन शिक्षित हो रहे हैं अथवा भविष्यमें होंगे वे लोग इसमें मेरे घनिष्ठ सहायक होंगे।

*

जनवरी, १९२३

'र'के अनुभवोंमें एक कागजपर शीर्षक है "ऊपरी चेतना" (Surface consciousness)। जिस चीजका वहां वर्णन किया गया है वह है स्नायविक अथवा भौतिक-प्राणिक आवरण। यही वह चीज है जिसे 'मिडियम' (मेस्मेरिज्म विद्याके माध्यम) देखते हैं और इसी चीजको कम या अधिक मात्रामें बाहरकी ओर प्रसारित करके अपनी क्रिया उत्पन्न करते हैं। 'र' को इसका ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ? क्या उसे सहज-ज्ञान या सूक्ष्म-दर्शन या व्यक्तिगत अनुभवके द्वारा प्राप्त हुआ ? यदि अंतिम तरीकेसे प्राप्त हुआ हो तो उसे सावधान कर देना कि वह इस प्राणमय आवरणको बाहरकी ओर प्रसारित न करे, क्योंकि इस विषयके जानकार किसी व्यक्तिके, जो वहां उस समय सशरीर उपस्थित हो, उपयुक्त संरक्षणके बिना ऐसा करना गंभीर आंतरिक खतरोंको उत्पन्न कर सकता है और स्नायुसत्ता तथा शरीरको चोट भी पहुंचा सकता अथवा इससे भी बुरा फल प्रदान कर सकता है।

*

२ अप्रैल १९२३

विभिन्न प्राण-जगतोंके विषयमें जो कुछ तुमने लिखा है वह निस्संदेह बड़ा मनोरंजक है और उसमें कुछ सत्य भी है, पर तुम्हें यह याद रखना चाहिये कि ये जगत् सच्चे या दिव्य प्राणमय जगत्से भिन्न हैं और सम्मोहन तथा मायाओंसे भरपूर हैं। ये सौंदर्यकी ऐसी-ऐसी छवियां उपस्थित करते हैं जो पथभ्रष्ट करने या नष्ट कर देनेके लिये ही प्रलुब्ध करती हैं। ये "राक्षसी माया"के जगत् हैं और उनके स्वर्ग उनके नरकोंसे भी कहीं अधिक खतरनाक हैं। उन्हें जानना आवश्यक है और आवश्यकता आ पड़े तो उनकी शक्तियोंका सामना करना चाहिये पर उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिये। हमारा कारबार है अतिमानसिक जगत्के साथ और प्राणमय जगत्के साथ केवल उसी समय हम संबंध कर सकते हैं जब वह अतिमानसभावापन्न हो; जबतक ऐसा नहीं होता तबतक हमें दूसरे जगतोंसे आनेवाले किसी भी प्रलोभनसे सर्वदा सावधान रहना चाहिये। मैं समझता हूं कि जिन जगतोंकी बात तुम कहते हो वे वे ही जगत् हैं जिनकी ओर कवियों, कल्पनाप्रिय मनुष्यों, तथा कुछ कलाकारोंको एक विशेष प्रकारका आकर्षण होता है और जिनमें उनके लिये एक विशेष प्रकारका खतरा भी होता है। उन जगतोंमें विशेष रूपसे सौंदर्यबोधात्मक प्राणगत ग्रहणशीलता या भावना या यहांतक कि भावुकताकी ओर एक रुझान होती है और उसीके द्वारा वे सत्तापर प्रभाव डालते हैं। यह एक ऐसी चीज है जिसे शुद्ध करना आवश्यक है और इस शुद्धीकरणके बाद ही कोई मनुष्य उच्चतम काव्य, कला और कल्पनाप्रसूत सृष्टिकी रचना करनेमें समर्थ हो सकता है।

*

१६ अप्रैल, १९२३

अपनी साधनाके विषयमें तुमने जो लिखा है वह संभवतः तुम्हारी अनुभूतियोंकी यथार्थ व्याख्या है। जिन दो बातोंकी तुमने चर्चा की है वे वास्तवमें एक ही क्रियाके दो पक्ष हैं। निम्नतर स्तरोंका उद्घाटन और प्रक्षालन उसी अनुपातमें सफलतापूर्वक किया जा सकता है जितने अनुपातमें यह आपेक्षिक या मानसभावापन्न अतिमानस चेतनाके ऊपर आधिपत्य स्थापित कर सके और उच्चतर या मध्यवर्ती अतिमानसकी ओर खुल सके या उसे ऊपरसे नीचे उतार ला सके; और फिर वह (उच्चतर या मध्यवर्त्ती अतिमानस) सत्तामें केवल उतने ही अंशमें स्थापित हो सकेगा जितने अंशमें मानस-प्राण और भौतिक शरीर खुलेंगे, स्वच्छ होंगे और बदलेंगे। यह पारस्परिक क्रिया तबतक चलती रहनी चाहिये जबतक कि दोनों क्रियाओंके बीच एक प्रकार-का संतुलन नहीं उत्पन्न हो जाता जिससे कि उच्चतर अतिमानस बिना किसी अवरोधके सत्ता-पर अधिकार जमा सके और उसे यथार्थ अतिमानसिक क्रियाओंकी ओर अधिकाधिक खोल सके। जिस क्रियाके अंदर तुम्हें झोंक दिया गया है वह शायद जरूरी थी, क्योंकि तुम्हारी सत्ताके ऊर्जस्वी भागमें ही निम्नतर प्रकृतिके दोषोंका सबसे अधिक अधिकार और प्राधान्य है।

*

२८ अक्तूबर १९३२

श्रीमाताजीने 'रजनी'को जो सलाह दी थी वह उस समयके लिये ही थी जब वह आश्रममें ठहरा था, वह भविष्यके लिये कोई अकाटच नियम नहीं था। यदि कोई साधक चिकित्साकी किसी आवश्यकताके बिना अपनेको नीरोग करनेके लिये ऊपरसे शक्तिको उतार सके तो यह सर्वदा ही उत्तम है, परंतु यह तबतक करना सदा संभव नहीं है जबतक कि समूची चेतना, मान-सिक, प्राणिक और भौतिक चेतना नीचे अत्यंत अवचेतनातक उद्घाटित और जागृत न हो जाय। इसमें कोई हर्ज नहीं कि कोई डाक्टर साधक होते हुए अपना चिकित्साका धंधा करे और अपने चिकित्साज्ञानका प्रयोग करे। अवश्य ही उसे यह कार्य भागवत कृपा-शक्ति और संकल्प-शक्ति-पर भरोसा रखकर करना चाहिये। यदि उसे अपने विज्ञानकी सहायताके लिये सच्ची अंतः-प्रेरणा प्राप्त हो तो और भी अच्छा। कोई भी डाक्टर सभी रोगियोंको अच्छा नहीं कर सकता। तुम्हें पूरी शक्तिभर कार्य करना चाहिये और भरसक सबसे उत्तम परिणाम प्राप्त करना चाहिये।

*

पाप या विरोधिताके दंडके रूपमें भगवान् मनुष्यको दुःख-कष्ट नहीं देते—यह एक भ्रांत विचार है। सुख और सौभाग्यकी तरह ही दुःख-कष्ट भी अज्ञानमय जीवनके एक अनि-

वार्य अंगके रूपमें आता है। सुख और दुःख, हर्ष और शोक, सौभाग्य और दुर्भाग्यके ये द्वंद्व उस अज्ञानके अनिवार्य परिणाम हैं जो हमें सच्ची चेतना और भगवान्से पृथक् करता है। केवल सच्ची चेतना पाने और भगवान्के पास वापस लौटनेपर ही हम दुःख-कष्टसे छुटकारा पा सकते हैं। विगत जीवनोंके कर्म रहते हैं, बहुत कुछ उन्हींके फलस्वरूप दुःख-कष्ट घटित होता है, पर सब नहीं। क्योंकि अपनी निजी चेतना और पुरुषार्थके द्वारा हम अपने कर्मको सुधार सकते हैं। परंतु दुःख महज प्राचीन भूलोंका स्वाभाविक परिणाम होता है, उसका दंड नहीं, ठीक जिस तरह कि अग्निके साथ खेलनेका स्वाभाविक परिणाम होता है जल जाना। यह उस अनुभवका अंग है जिससे कि अंतरात्मा अपने करणोंकी सहायतासे तबतक सीखता और वर्द्धित होता रहता है जबतक कि वह भगवान्की ओर मुड़नेके लिये तैयार न हो जाय।

*

कभी-कभी दुःख और दर्द वह साधन बन जाते हैं जिसके द्वारा अंतरात्मा जागृत हो जाता है और भगवान्की ओर आगे धकेल दिया जाता है। यही वह अनुभव है जिसपर 'अ' निरंतर जोर देता है, क्योंकि अपने जीवनमें वह बहुत दुःख भोग चुका है। परंतु सब लोग उसे (दुःखको) वैसा नहीं पाते।

जो भी हो, सबसे अनिवार्य बात यह है कि प्रगति करनेकी अत्यंत प्रबल इच्छा हो, हमारी अग्रगतिके लिये जो कुछ रुकावटका काम करता है उस सबको स्वेच्छापूर्वक और प्रसन्नताके साथ त्याग दिया जाय, हमारे अंदरकी जो चीज हमें आगे बढ़नेसे और अज्ञानकी ओर जानेसे रोकती है उसे झाड़ फेंका जाय और यह श्रद्धा-विश्वास ज्वलंत रूपमें विद्यमान रहे कि यह आनेवाले कलका सत्य है जिससे बचा नहीं जा सकता, वह अवश्य ही घटित होगा, वह ऐसा सत्य है जिसे कोई वस्तु, कोई व्यक्ति, कोई अशुभ इच्छा, यहांतक कि प्रकृति देवीकी भी इच्छा वह सत्य होनेसे रोक नहीं सकती जो—शायद सुदूर भविष्यमें नहीं—इसी मुहूर्त्तमें अपने-आपको चरितार्थ करनेका कार्य कर रही है और जो लोग अपनेको परिवर्त्तित करना जानते हैं, जो पुरानी आदतोंद्वारा अपनेको बोझिल नहीं होने देना चाहते वे निश्चय ही इसे न केवल देखने-समझनेका बल्कि उपलब्ध करनेका आनंद प्राप्त करेंगे।

—श्रीमां

त्रिविध रूपांतर

चैत्य, आध्यात्मिक और अतिमानसिक

श्रीअरविंद

(१)

इस योगकी मौलिक अनुभूतियां ये हैं :

(१) चैत्य परिवर्तन जिसमें कि श्रीमाताजीके साथ सतत एकत्व प्राप्त कर तथा उनकी उपस्थितिके अंदर निवास करते हुए एक पूर्ण भक्ति-भावना हृदयकी प्रधान चालिका-शक्ति एवं हमारे विचार, जीवन और कर्मकी शासिका बन जाय।

(२) उच्चतर चेतनाकी शांति, शक्ति, ज्योति इत्यादिका अवतरण जो मस्तक और हृदय-मेंसे होकर समस्त सत्तामें आ जाय और शरीरके कोषाणुओंतकको अधिकृत कर ले।

(३) एकतम सत्य और भगवान्‌का अनंत रूपोंमें सर्वत्र साक्षात्कार, श्रीमांका सर्वत्र दर्शन तथा उसी अनंत चेतनामें निवास।

*

तुम उन चीजोंको जानते ही हो जिनपर योगकी सिद्धिको स्थापित करना होता है; वे हैं :

(१) मनसे ऊपर एक स्थानपर उठना और विश्वचेतनाकी ओर उद्‌घाटित होना;

(२) चैत्य उद्‌घाटन साधित करना; और

(३) उच्चतर चेतनाका अवतरण कराना जिससे कि उसकी शांति, ज्योति, शक्ति, ज्ञान और आनंद आदि सत्ताके सभी लोकोंमें—नीचे अत्यंत भौतिक स्तरतकमें भर जायं।

यह सब करना होगा श्रीमांकी शक्तिकी क्रियाके द्वारा और उसके सहायक होंगे तुम्हारी अभीप्सा, भक्ति और आत्मसमर्पण।

यही है पथ। बाकी जो है वह है इन सब चीजोंको कार्यान्वित करना, जिसके लिये तुम्हें श्रीमांकी क्रियामें श्रद्धा-विश्वास रखना होगा।

*

जब हम दिव्य स्फुलिंगकी बात करते हैं तब हम अंतरात्माको भगवान्‌के एक अंशके रूपमें सोचते-समझते हैं जो ऊपरसे इस अभिव्यक्तिमें अवतरित हुआ है, किसी ऐसी चीजसे नहीं निकला है जिसने अपनेको विश्वसे पृथक् कर रखा है। हमारी जो प्रकृति है बस उसीने

वैश्व शक्तियोंमेंसे अपना निर्माण किया है—विश्वव्यापी मनमेंसे मन, विश्वव्यापी प्राणमेंसे प्राण और विश्वव्यापी जड़तत्त्वमेंसे शरीर निर्मित हुआ है।

अंतरात्माके लिये तीन आध्यात्मिक उपलब्धियां हैं :—(१) यह उपलब्धि कि चैत्य सत्ता और चेतना इस विकासक्रममें विद्यमान भागवत तत्त्व हैं; (२) विश्वात्माकी उपलब्धि जो कि सबमें एक है; (३) परात्पर भगवान्‌की उपलब्धि जिससे व्यक्ति और विश्व दोनों ही उद्‌भूत हुए हैं तथा व्यष्टि पुरुष (जीवात्मा)के विषयमें यह उपलब्धि कि वह भगवान्‌का एक शाश्वत अंश है।

★

चैत्यीकरणका अर्थ है निम्नतर प्रकृतिका ऐसा परिवर्तन जो मनमें सम्यक् दृष्टि, प्राणमें समुचित आवेग और बोध, शरीरमें यथार्थ क्रिया और गति तथा अभ्यास ले आता है—ये सभी भगवान्‌की ओर मुड़े होते हैं, सबका आधार होता है प्रेम, पूजा-भाव और भक्ति—अंतमें हम सर्वत्र, सबमें तथा अपने हृदयमें श्रीमाताजीके दर्शन और अनुभव प्राप्त करते हैं, उनकी शक्तिको अपनी सत्तामें कार्य करते हुए अनुभव करते हैं, श्रद्धा, आत्मोत्सर्ग, आत्मसमर्पणका भाव जागृत होता है।

आध्यात्मिक परिवर्तनका अर्थ है शांति, ज्योति, ज्ञान, शक्ति, आनंदका ऊपरसे स्थायी अवतरण, आत्मा, भगवान् और उच्चतर वैश्व चेतनाका ज्ञान तथा उसके अनुसार संपूर्ण चेतनामें परिवर्तन।

★

ये जो तुम्हारे दो भाव हैं ये दोनों ही ठीक हैं। ये साधनाकी दो आवश्यक बातोंको सूचित करते हैं। एक है अंतरमें पैठना और चैत्य सत्ता तथा बाह्य प्रकृतिके बीच पूर्णतः संपर्क स्थापित करना। दूसरा है ऊपर अवस्थित भागवत शांति, शक्ति, ज्योति और आनंदकी ओर खुलना, उनमें ऊपर उठना और उन्हें अपनी प्रकृति और शरीरमें नीचे उतार लाना। इन दोनों—चैत्य तथा आध्यात्मिक—क्रियाओंमेंसे कोई एक-दूसरीके बिना पूर्ण नहीं होती। यदि आध्यात्मिक आरोहण और अवरोहण न साधित हो तो प्रकृतिका आध्यात्मिक रूपांतर नहीं हो सकता; यदि पूर्ण चैत्य उद्‌घाटन न हो और संपर्क स्थापित न किया जाय तो रूपांतर पूर्ण रूपसे साधित नहीं किया जा सकता।

इन दोनों क्रियाओंके बीच कोई असामंजस्य नहीं है; कुछ लोग तो पहले चैत्यसे आरंभ करते हैं और दूसरे पहले आध्यात्मिकसे, कुछ दूसरे लोग दोनोंको एक साथ करते हैं। सर्वोत्तम मार्ग है दोनोंके लिये अभीप्सा करना और श्रीमाताजीकी शक्तिको प्रकृतिकी आवश्यकता तथा झुकावके अनुसार उसे कार्यान्वित करने देना।

★

दो आवश्यक रूपांतरोंमें सबसे पहला है चैत्य रूपांतर—यदि तुम्हारा चैत्य रूपांतर हो चुका हो तो यह दूसरेको—सामान्य मानव-चेतनासे उच्चतर आध्यात्मिक चेतनामें रूपांतरित

होनेको—बहुत अधिक आसान बना देता है, अन्यथा बहुत संभव है कि साधककी यात्रा बहुत धीमी और नीरस हो अथवा उत्तेजनापूर्ण पर खतरनाक हो........।

मैंने कभी "चैत्यके रूपांतर"के विषयमें कुछ नहीं कहा है; मैंने बराबर ही प्रकृतिके "चैत्य रूपांतर"के विषयमें लिखा है, जो एक बहुत भिन्न विषय है। मैंने कभी-कभी उसके विषयमें लिखते समय उसे प्रकृतिका चैत्यीकरण कहा है। चैत्य पुरुष क्रमविकासके भीतर है, मानव-सत्ताका अंग है, उसका दिव्य अंग है—इसलिये चैत्यीकरण मनुष्यको वर्तमान क्रमविकासके परे नहीं ले जायगा, बल्कि जो कुछ भगवान् या उच्चतर प्रकृतिसे आता है उस सबका प्रत्युत्तर देनेके लिये सत्ताको तैयार करेगा एवं सत्तामें विद्यमान असुर, राक्षस, पिशाच या पशुका प्रत्युत्तर देनेसे अनिच्छुक बना देगा अथवा निम्न प्रकृतिकी जो कोई बाधा दिव्य परिवर्तनके मार्गमें आ खड़ी होती है उसको स्वीकार करनेसे विमुख कर देगा।

*

मैंने तुम्हारी साधनाका तुम्हारा लिखा विवरण पढ़ा है। मैं समझता हूं, उसमें विशेष कुछ कहनेकी बात नहीं है,—क्योंकि वह बिलकुल ठीक है,—सिवा इसके कि तुम्हारे लिये सबसे अधिक महत्त्वकी बात यह है कि तुम अपने हृदयमें चैत्य अग्निको विकसित करो और यह अभी-प्सा बनाये रखो कि चैत्य पुरुष सामने आकर तुम्हारी साधनाका नेता बन जाय। जब चैत्य पुरुष नेतृत्व करने लगेगा तब वह तुम्हें "अलक्षित अहं-ग्रंथियों"को दिखा देगा जिसकी चर्चा तुमने की है और वह उन्हें सुलझा देगा या चैत्य अग्निमें जला देगा। यह चैत्य विकास तथा मानसिक, प्राणिक और शारीरिक चेतनाका चैत्य परिवर्तन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उच्च-तर चेतनाके अवतरण तथा आध्यात्मिक रूपांतरको निर्विघ्न और सरल बना देता है जिसके बिना अतिमानसिक चेतना सर्वदा ही अत्यंत दूर बनी रह जाती है। शक्तियों आदिका स्थान तो है, पर जबतक यह सब नहीं हो जाता तबतक उनका स्थान बहुत गौण ही होता है।

*

अंतरात्मा, चैत्य पुरुष दिव्य सत्यके साथ सीधा संपर्क रखता है, पर वह मनुष्यके अंदर मन, प्राण-सत्ता और शारीरिक प्रकृतिसे ढका हुआ है। मनुष्य योगाभ्यास कर सकता है और मन तथा बुद्धिमें आलोक प्राप्त कर सकता है; वह शक्ति आयत्त कर सकता और प्राणके अंदर सभी प्रकारकी अनुभूतियोंका आनंद भोग सकता है; वह आश्चर्यजनक भौतिक सिद्धियां भी प्राप्त कर सकता है; परंतु पीछे अवस्थित अंतरात्माकी सच्ची शक्ति यदि प्रकट नहीं होती, यदि चैत्य प्रकृति सामने भागमें नहीं आती तो फिर यही कहना होगा कि कुछ भी यथार्थ कार्य नहीं हुआ है।

इस योगमें चैत्य पुरुष ही बाकी समस्त प्रकृतिको सच्ची आध्यात्मिक ज्योतिकी ओर और अंतमें परात्पर आनंदकी ओर खोलता है। मन स्वयं अपने-आप अपने ही उच्चतर स्तरोंकी ओर खुल सकता है; यह निश्चल-निष्कंप हो सकता और निर्व्यक्तित्वमें प्रसारित हो सकता है; यह किसी प्रकारकी स्थितिशील मुक्ति या निर्वाणम जाकर अपने-आपको अध्यातमभावापन्न भी बना सकता है; परंतु केवल अध्यातमभावापन्न मनमें अतिमानसिक चेतनाको पर्याप्त आधार नहीं

मिल सकता। यदि अंतःस्थ अंतरात्मा जागृत हो, यदि नितांत मानसिक, प्राणिक और शारीरिक चेतनामेंसे चैत्य चेतनामें मनुष्यका नवजन्म हो गया हो तो ही यह योग किया जा सकता है; अन्यथा (एकमात्र मन या किसी अन्य भागकी शक्तिके द्वारा) इसे करना असंभव है...। यदि बौद्धिक ज्ञान या मानसिक विचारों या किसी प्राणिक कामनाके प्रति आसक्ति होनेके कारण कोई चैत्य चेतनामें नवजन्म लेना अस्वीकार करे, यदि श्रीमाताजीसे नये रूपमें उत्पन्न एक बच्चा होना अस्वीकार करे, तो वह साधनामें असफल ही होगा।

*

चैत्य पुरुष सदा ही विद्यमान रहता है, पर वह अनुभूत नहीं होता, क्योंकि मन और प्राणसे आवृत होता है। जब वह आवृत नहीं होता तब यह कहा जाता है कि वह जागृत है। जब वह जागृत हो जाता है तब वह सत्ताके बाकी हिस्सोंपर अधिकार जमाना, उनपर प्रभाव डालना और उन्हें परिवर्तित करना आरंभ कर देता है जिसमें कि सब कुछ आंतरिक आत्माकी सच्ची अभिव्यक्ति बन जाय। इसी परिवर्तनको 'आंतरिक रूपांतर' (Inner conversion) कहते हैं। चैत्य पुरुषकी जागृतिके बिना कोई रूपांतर साधित नहीं हो सकता।

*

जब मैं "चैत्यका उद्घाटन" शब्दावलीका प्रयोग करता हूं तब मेरा ध्यान किसी सामान्य आंतरिक उद्घाटनपर नहीं होता जो आंतरिक (प्राणिकसे भिन्न) प्रेम और भक्तिकी कुछ मात्राको उत्पन्न करता है, बल्कि मेरा ध्यान उसपर होता है जिसे चैत्य पुरुषका सामने आना कहा जाता है। जब ऐसा होता है तब मनुष्य चैत्य पुरुष और उसके सरल-स्वाभाविक आत्मदानके भावको जान जाता है तथा मन, प्राण और शरीरके ऊपर उसके बढ़ते हुए प्रत्यक्ष शासनको (महज एक प्रच्छन्न अथवा अर्ध-प्रच्छन्न प्रभावको नहीं) अनुभव करता है। विशेषकर उस समय चैत्य विवेक वहां मौजूद रहता है जो विचारों, भावावेगमय क्रियाओं, प्राणिक आवेगों और भौतिक अभ्यासोंको तुरत आलोकित कर देता है और अनुचित क्रियाओंके बदले उचित क्रियाओंको ले आकर किसी चीजको धूमिल या अस्पष्ट नहीं रहने देता। यही चीज बड़ी कठिन और विरल है, अधिकांश समय विवेक मानसिक होता है और मन ही सब चीजोंको यथाक्रम रखनेकी कोशिश करता है। ऐसी हालतमें उच्चतर चेतनाका जब अवतरण मनके भीतरसे होता है तो उसीसे चैत्य उद्घाटित होता है, उस समय सीधे चैत्य उद्घाटन नहीं होता।

*

किसीने भी ऐसा नहीं कहा है कि इसे (चैत्यका उद्घाटन) निश्चित रूपसे ऊपरसे करना होगा। स्वभावतः ही यह सीधे किया जाता है और तभी यह अत्यंत फलदायी होता है। पर, जब इसे सीधे करना कठिन दिखायी देता है, जैसा कि कुछ स्वभाववालोंमें होता है, तब परिवर्तन ऊपरसे आरंभ होता है और ऊपरसे उतरनेवाली चेतनाको हृदय-केंद्रको मुक्त करना होता है। चूंकि वह हृदय-केंद्रपर कार्य करती है, इसलिये चैत्य क्रियाका होना अधिक संभव हो जाता है।

*

(चैत्य पुरुषके) सामने आनेका अर्थ महज यह है। साधारणतया चैत्य पुरुष भीतर सोया रहता है। बहुत थोड़ेसे लोग ही अपने अंतरात्माके विषयमें सचेत होते हैं—जब वे अपने अंतरात्माकी बात कहते हैं तब सामान्यतया उनका मतलब होता है प्राणमय-मनोमय पुरुष अथवा (झूठा) कामनात्मा। चैत्य पुरुष पीछे बना रहता है और जहां संभव होता है वहां वह केवल मन, प्राण और शरीरके द्वारा कार्य करता है। यही कारण है कि जहां चैत्य पुरुष बहुत अधिक विकसित होता है, उसे छोड़कर अधिकांश मनुष्योंके जीवनपर उसका केवल थोड़ासा और आंशिक, प्रच्छन्न और मिश्रित या क्षीण प्रभाव ही पड़ता है। आगेकी ओर आनेका मतलब है कि वह पर्देके पीछेसे सामने आ जाता है, उसका प्रभाव मन, प्राण और उनकी क्रियाओंमें, यहांतक कि शरीरमें भी भर जाता है, वह उन्हें अपने वशमें कर लेता है और उन्हें रूपांतरित करता है। उस समय साधक अपने अंतरात्माको जानता है, चैत्यको अपना सच्चा स्वरूप अनुभव करता है, मन तथा शेष सब भाग हमारे भीतर अवस्थित अंतरतम पुरुषका केवल यंत्र हो जाना आरंभ कर देते हैं।

आंतर मन, प्राण और शरीर भी ढके हुए हैं, परंतु वे ऊपरी तलके बहुत अधिक समीप हैं और उनकी बहुतसी क्रियाएं या अंतःप्रेरणाएं पर्देके भीतरसे होकर (पर किसी प्रकारकी पूर्णता या शुद्धताके साथ नहीं) विकसित मनुष्योंके जीवनोंमें, कभी-कभी साधारण लोगोंके जीवनोंमें भी आती हैं। परंतु योगमें ये (आंतर मन, प्राण और मन) भी कुछ दिनों बाद अपने पर्देको फेंक देते हैं और सामने आ जाते हैं तथा चेतनाके अंदर उनकी क्रिया प्राधान्य स्थापित कर लेती है जिससे बाह्य सत्ताको अब मनुष्य अपना निजी स्वरूप नहीं अनुभव करता बल्कि अपनी सत्ता-का केवल एक सम्मुख भाग या यहांतक कि महज किनारा अनुभव करता है।

चैत्य पुरुष केवल तभी पूर्णतः उद्‌घाटित हो सकता है जब कि साधक अपनी साधनामें प्राणिक उद्देश्योंके मिश्रणसे मुक्त हो चुका हो और श्रीमांके प्रति सरल और सच्चा आत्मदान करनेमें समर्थ हो। यदि उसमें किसी प्रकारका अहंकारपूर्ण झुकाव या उद्देश्यके विषयमें कुटि-लता हो, यदि योगसाधना किसी प्राणिक मांगके दबावके अधीन की जाती हो अथवा अंशतः या पूर्णतः किसी आध्यात्मिक या अन्य प्रकारकी महत्त्वाकांक्षा, किसी गर्व, मिथ्याभिमानको तृप्त करनेके लिये, शक्ति, पद-प्रतिष्ठा और दूसरोंपर प्रभाव प्राप्त करनेकी इच्छासे की जाती हो, अथवा यौगिक शक्तिकी सहायतासे किसी प्राणिक कामनाको तृप्त करनेकी किसी प्रवृत्तिके साथ की जाती हो तो चैत्य पुरुष उद्‌घाटित नहीं हो सकता अथवा केवल अंशतः ही उद्‌घाटित होगा अथवा केवल कभी-कभी होगा और फिर बंद हो जायगा क्योंकि वह प्राणिक क्रियाओंके द्वारा आच्छादित होगा; दम घोंटनेवाले प्राणिक धुंएंमें चैत्य अग्नि धीमी पड़ जाती है। फिर, मन यदि योग-साधनामें नेतृत्वका कार्य करने लगे और अंतरस्थ अंतरात्माको पीछेकी ओर ठेल दे, अथवा, यदि भक्ति या साधनाकी अन्य गतियां चैत्य आकारके बदले अधिक प्राणिक आकार ले लें तो फिर वही असमर्थता आ उपस्थित होती है। पवित्रता, सरल सच्चाई तथा बिना किसी बहाने या मांगके अहंकारशून्य अविमिश्र आत्मदान करनेकी क्षमताका होना ही बस चैत्य पुरुषके पूर्ण उद्‌घाटनकी शर्त्त है।

*

सतत और सच्ची अभीप्साका होना, और एकमात्र भगवान्के अभिमुख होनेका संकल्प करना ही चैत्य पुरुषको सामनेकी ओर ले आनेका सबसे उत्तम मार्ग है।

*

यदि मनुष्यमें भूतकाल या वर्तमान कालमें किये गये अपने बुरे कर्मोंसे छुटकारा पाने तथा चैत्य एवं आध्यात्मिक चेतनामें निवास करनेकी सच्ची आकांक्षा हो तो भूतकाल या वर्तमान कालमें किया हुआ कोई कर्म चैत्य पुरुषको आगे आनेसे नहीं रोक सकता।

*

तुम्हारा पहला अनुभव चैत्य पुरुषके उद्घाटित होनेका अनुभव था; तुम्हें अपनी चेतनाके दो पृथक् भागोंका—चैत्य सत्ता, उसकी अभीप्साओं और अनुभूतियोंका तथा सामनेकी बाह्य सत्ताका—ज्ञान प्राप्त हुआ था। तुम इस अनुभवको बनाये नहीं रख सके क्योंकि तुम्हारी प्राण-सत्ता शुद्ध नहीं थी और उसने तुम्हें साधारण बाह्य चेतानमें खींच लिया। उसके बाद तुम फिर चैत्य सत्तामें वापस चले गये और उसके साथ ही अपनी साधारण प्राणगत प्रकृतिको देखने, उसके दोषोंको समझ सकने तथा उसे शुद्ध करनेके लिये चैत्य पुरुषकी शक्तिके द्वारा कार्य करनेमें समर्थ हुए। मैंने प्रारंभमें ही तुम्हें लिखा था कि यही पथ है; क्योंकि चैत्य पुरुष यदि जागृत हो और सामने हो तो बाह्य प्रकृतिमें जो चीजें बदलनेकी हैं उनके विषयमें सचेतन बने रहना आसान हो जाता है तथा उन्हें परिवर्त्तित करना भी अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है। परंतु चैत्य पुरुष यदि आच्छादित हो जाय और पीछेकी ओर हट जाय तो बाह्य प्रकृति अकेली छूट जाती है और अपनी भ्रांत क्रियाओंके विषयमें सचेतन बने रहना उसके लिये कठिन हो जाता है। वह यदि बहुत कठिन प्रयास भी करे तो वह उनसे मुक्त होनेमें सफलता नहीं प्राप्त कर सकती। तुम खुद ही देख सकते हो, जैसा कि भोजनके प्रसंगमें घटित हुआ है, कि चैत्य पुरुषके जागृत और सक्रिय रहनेपर समुचित भाव स्वभावतः ही आ जाता है और जो कुछ कठिनाई रहती है वह जल्द कम हो जाती है या यहांतक कि दूर भी हो जाती है।

मैंने उस समय तुमसे यह भी कहा था कि प्रकृतिका एक तीसरा भाग भी है; वह है आंतर सत्ता (आंतर मन, आंतर प्राण और आंतर शरीर)। अभी उसका ज्ञान तुम्हें नहीं हुआ है, पर वह भी अपने समयपर अवश्य उद्घाटित होना चाहिये। तुम्हारी अंतिम अनुभूतिमें बस वही घटित हुआ है। जिस चीजको तुमने अपने एक अंगके रूपमें अनुभव किया, स्वयं अपनी सत्ताके रूपमें, पर अपनी भौतिक सत्ताके रूपमें नहीं, अनुभव किया तथा उच्चतर चेतनासे मिलनेके लिये ऊपर उठते हुए अनुभव किया, वह यही आंतर सत्ता थी; यह तुम्हारी (आंतर) उच्चतर प्राण-सत्ता थी जो उस रूपमें उच्चतम आत्म-सत्तासे युक्त होनेके लिये ऊपर उठी थी—और वह ऐसा करनेमें समर्थ भी हुई, क्योंकि बाह्य प्राण-प्रकृतिकी शुद्धिका कार्य सच्चे रूपमें आरंभ हो गया था। प्रत्येक बार ही जब बाह्य प्रकृतिकी थोड़ी शुद्धि होती है, आंतर सत्ताके लिये अपने-आपको प्रकट करना, मुक्त होना तथा ऊपरकी उच्चतर चेतनाकी ओर उद्घाटित होना अधिक संभव हो जाता है।

*

जब ऐसा होता है तब उसके साथ-साथ और कई बातें घटित होती हैं। प्रथम, साधक ऊपर अवस्थित शांत-नीरव आत्माके विषयमें सज्ञान होता है—वह अपनेको मुक्त, विशाल, सीमा-रहित, शुद्ध, मानसिक, प्राणिक और शारीरिक क्रियाओंसे अक्षुब्ध, अहंकार और सीमित व्यक्तित्वसे शून्य अनुभव करता है—इसी बातका वर्णन तुमने भी अपने पत्रमें किया है। दूसरे, आत्माकी इस नीरवता और मुक्तिके अंदरसे होकर भागवत शक्ति अवतरित होती है और आधारमें कार्य करना आरंभ करती है। इसी बातका अनुभव तुम्हें दबावके रूपमें हुआ था। मस्तकके शीर्षस्थान, ललाट, आंखों और नाकके भीतरसे इसके आनेका मतलब यह है कि वह आंतर मनोमय सत्तामें मनोमय केंद्रोंको—विशेषकर चिंतन, संकल्प और सूक्ष्म-दर्शनके दो उच्चतर केंद्रोंको खोलनेके लिये कार्य कर रही थी। ये दोनों केंद्र—सहस्र-दल कमल या सहस्रार और आज्ञा-चक्र (भौंहोंके बीचका) कहलाते हैं। तीसरे, इस क्रियाके द्वारा सत्ताके आंतरिक भाग उद्घाटित और मुक्त हो जाते हैं। तुम साधारण व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीरकी सीमाओंसे मुक्त हो गये हो तथा एक विशालतर चेतनाके विषयमें सज्ञान हो गये हो जिससे तुम आवश्यक रूपांतर साधित करनेमें अधिक समर्थ हो सकते हो। परंतु इस कार्यके लिये पर्याप्त समय और लंबी क्रियाकी आवश्यकता होती है और तुम केवल इस रास्तेपर अभी पहला कदम ही उठा रहे हो।

जब कोई अपनी आंतर सत्तामें घुसता है तो उसमें एकदम अंदर चले जाने तथा बाहरी जगत्की चेतना खो देनेकी प्रवृत्ति जगती है—इसीको लोग समाधिके नामसे पुकारते हैं। परंतु यह भी आवश्यक है कि साधक अपनी जागृत अवस्थामें भी उन्हीं अनुभवों (आत्मा, आंतर चेतनामें होनेवाली क्रिया आदि) को प्राप्त करनेमें समर्थ हो। तुम्हारे लिये सबसे उत्तम नियम यह होगा कि तुम जब अकेले होओ और किसीके द्वारा बाधा पहुंचनेकी संभावना न हो तो केवल तभी पूर्णतः अंदर चले जानेकी क्रियाको होने दो, और दूसरे समय इस बातका अभ्यास करो कि तुम्हें जब ये अनुभव हों तो तुम्हारी भौतिक चेतना जागृत रहे और उनमें भाग ले अथवा कम-से-कम उनके विषयमें सज्ञान रहे।

*

जब चैत्य पुरुष जागृत होता है तब तुम्हें अपने निजी अंतरात्माका ज्ञान प्राप्त होता है; तुम अपने आत्माको जानते हो। और उसके बाद तुम अपने मनोमय पुरुष या प्राणमय पुरुषके साथ एकात्म होनेकी भूल नहीं करते। तुम उन्हें (मन और प्राणको) अपना अंतरात्मा माननेकी भूल नहीं करते।

दूसरे, जागृत होनेपर चैत्य पुरुष भगवान्के प्रति या गुरुके प्रति सच्ची भक्ति प्रदान करता है। वह भक्ति मानसिक या प्राणिक भक्तिसे एकदम भिन्न होती है।

अपने मनमें कोई व्यक्ति किसी मनुष्यकी—या गुरुकी बौद्धिक महानताके लिये आदर या प्रशंसाका भाव रख सकता है, पर वह महज मानसिक होता है; वह विषयको बहुत दूरतक नहीं ले जाता। पर निस्संदेह, उसे भी बनाये रखनेमें कोई हानि नहीं है। परंतु स्वयं अपने-आपमें वह भाव संपूर्ण आंतर सत्ताको उद्घाटित नहीं करता। वह केवल एक प्रकारका मानसिक संपर्क स्थापित करता है।

प्राणिक भक्ति महज मांग करती है और सदा मांगती ही रहती है। वह अपनी निजी शर्त्तोंको लादती है। वह भगवान्‌को समर्पण तो करती है पर अपनी शर्त्तोंपर। वह भगवान्‌से कहती है, "आप इतने महान् हैं, मैं आपकी पूजा करती हूं, और अब आप मेरी इस इच्छाको अथवा उस महत्त्वाकांक्षाको पूरा कीजिये, मुझे महान् बनाइये, मुझे एक महान् साधक, एक महान् योगी बना दीजिये, इत्यादि।"

आलोकहीन मन भी सत्यके प्रति समर्पण करता है, पर करता है अपनी निजी शर्त्तोंपर। वह सत्य-रूप भगवान्‌से कहता है, "मेरे निर्णय और मेरी रायको संतुष्ट कीजिये।" वह सत्यसे यह मांग करता है कि वह अपनेको इसके (मनके) अपने आकारोंमें ढाल दे।

प्राण-पुरुष भी सत्यसे इस बातका आग्रह करता है कि वह इसीकी (प्राणकी) शक्तिकी क्रियाओंके अंदर अपने-आपको झोंक दे। प्राण-पुरुष उच्चतर शक्तिको खींचता है तथा गुरुकी प्राणसत्ताको खींचता और लगातार खींचता रहता है।

ये दोनों (मन और प्राण) अपने समर्पणमें एक प्रकारकी मानसिक हिचकिचाहट बनाये रखते हैं।

परंतु चैत्य पुरुष और उसकी भक्ति वैसी नहीं है। क्योंकि पीछे विद्यमान भगवान्‌के साथ उसका साक्षात् संपर्क बना रहता है, सच्ची भक्ति बनाये रखनेकी उसमें क्षमता होती है। चैत्य भक्ति कोई मांग नहीं करती, किसी प्रकारकी हिचकिचाहट उसमें नहीं होती। वह अपने निजी अस्तित्वसे ही संतुष्ट रहती है। चैत्य पुरुष यह जानता है कि समुचित रूपमें सत्यका अनुसरण कैसे किया जाता है। वह सच्चे रूपमें भगवान् या गुरुके प्रति अपने-आपको दे देता है, और चूंकि वह अपने-आपको वास्तवमें दे सकता है, इसलिये वह वास्तवमें ग्रहण भी कर सकता है।

तीसरे, जब चैत्य पुरुष ऊपरी तलपर आ जाता है तब वह उस समय दुःखी होता है जब कि मनोमय या प्राणमय पुरुष मूर्खता करते हैं। वह उदासी आघातप्राप्त पवित्रता होती है।

जब मन अपना खेल खेलता है या जब प्राण-पुरुष अपने निजी आवेगोंके द्वारा परिचालित होता है तब चैत्य पुरुष ही यह कहता है कि "मैं इन चीजोंको नहीं चाहता; आखिर मैं यहां किसलिये हूं? मैं यहां सत्यके लिये हूं, मैं यहां इन सब चीजोंके लिये नहीं हूं।"

चैत्य पुरुषकी उदासी मानसिक असंतोष या प्राणिक उदासी या शारीरिक अवसादसे एकदम भिन्न वस्तु है।

यदि चैत्य पुरुष शक्तिशाली होता है तो वह मनोमय या प्राणमय पुरुषको अपना प्रभाव अनुभव कराता है और उनपर परिवर्त्तित होनेके लिये जोर डालता है—उन्हें विवश करता है। परंतु वह यदि दुर्बल होता है तब दूसरे भाग उसका लाभ उठाते हैं और अपने निजी लाभके लिये चैत्य उदासीका उपयोग करते हैं।

कुछ मनुष्योंमें चैत्य पुरुष ऊपरी तलपर आ जाता है और मनोमय तथा प्राणमय पुरुषको परेशान कर देता है एवं प्रत्येक चीजको अस्तव्यस्तताकी स्थितिमें डाल देता है। पर मन या प्राण-पुरुष यदि चैत्य पुरुषसे अधिक प्रबल होता है तो यह (चैत्य पुरुष) कभी-कभी ही अपना

प्रभाव डालता है और धीरे-धीरे पीछेकी ओर हट जाता है। उसका सारा रोना-धोना अरण्य-रोदन सिद्ध होता है और मनोमय या प्राणमय पुरुष अपनी ही लीकपर चलता रहता है।

चौथे, चैत्य पुरुष बाह्य रूपोंद्वारा प्रतारित होना स्वीकार नहीं करता। वह मिथ्यात्वके द्वारा परिचालित नहीं होता। मिथ्यात्वके कारण वह हतोत्साह होना स्वीकार नहीं करता—और सत्यको यह अतिरंजित भी नहीं करता। उदाहरणार्थ, यदि आसपासकी सभी वस्तुएं यह कहती हों कि "भगवान् नामकी कोई चीज नहीं है", तो भी चैत्य पुरुष इसे विश्वास करना अस्वीकार कर देता है। वह कहता है, "मैं जानता हूं, और मैं इसलिये जानता हूं कि मैं अनुभव करता हूं।"

और, चूंकि वह पीछे विद्यमान वस्तुको जानता है, इसलिये वह बाह्य रूपोंके कारण धोखा नहीं खाता। वह तुरत दिव्य शक्तिको अनुभव करता है।

साथ ही, जब चैत्य पुरुष जग जाता है तब वह भावनात्मक सत्तापरसे सारी मैल झाड़ फेंकता है और उसे भावुकता या भावुकताकी निम्नतर क्रीड़ासे मुक्त कर देता है।

परंतु उसमें न तो मनका रूखापन होता है और न प्राणिक अनुभवकी अतिरंजना। वह प्रत्येक भावावेगको समुचित स्पर्श प्रदान करता है।

(क्रमशः)

"रूपांतर"

जो कुछ तुमने पूछा है उसे बतानेके लिये एक पत्र पर्याप्त नहीं है, उसके लिये तो एक मोटी पोथी लिखनी होगी—विशेषकर ये सब बातें उन चीजोंसे संबंध रखती हैं जिनके विषयमें लोग 'कुछ नहीं'से भी बहुत अधिक कम जानकारी रखते हैं और या तो वे कुछ नहीं समझेंगे या प्रत्येक बात ही गलत समझेंगे। मैं समझता हूं कि एक दिन आयगा जब मैं उनके विषयमें कुछ लिखूंगा पर अभी उनके विषयमें कोई बात करना अतिमानसिक शक्ति बिलकुल ही बरदाश्त नहीं करेगी। आध्यात्मिक रूपांतरके विषयमें कुछ बातें कहना संभव हो सकता है और इसी विषयको लेकर यह पत्र मैं समाप्त कर सकता हूं।

मैं यहां 'म' की अनुभूतिसे संबंधित प्रश्नके विषयमें और अधिक कुछ कहना नहीं चाहता। जैसा कि मैं कह चुका हूं, तुलनाएं किसी मतलबकी नहीं होतीं; प्रत्येक मार्गका एक अपना

उद्देश्य, पथनिर्देश और पद्धति होती है, और उनमेंसे एक मार्गका सत्य दूसरेके सत्यका मूल्य कम नहीं करता। भगवान् (अथवा अगर तुम चाहो तो आत्मा या ब्रह्म) के बहुतसे पक्ष हैं और उनकी उपलब्धि कई मार्गोंसे की जा सकती है—इन विभेदोंकी चर्चा करना अप्रासंगिक और व्यर्थ है।

"रूपांतर" एक ऐसा शब्द है जिसे स्वयं मैंने ही ("अतिमानस"की तरह) सबसे पहले व्यवहृत किया है। इसका व्यवहार मैंने पूर्णयोगकी किन्हीं आध्यात्मिक भावनाओं तथा आध्यात्मिक तथ्योंको प्रकट करनेके लिये किया है। अब दूसरे लोग भी इसे लेने लगे हैं और ऐसे अर्थमें व्यवहृत करने लगे हैं जिसका उस अर्थके साथ कोई संबंध नहीं जिसे मैंने उस शब्दको दिया था। 'रूपांतर' से मेरा मतलब आत्माके 'प्रभाव'के द्वारा प्रकृतिका शुद्धीकरण नहीं है। शुद्धीकरण तो चैत्य परिवर्तन अथवा चैत्य-आध्यात्मिक परिवर्तनका केवल एक अंग है—इसके अतिरिक्त इस शब्दके बहुतसे अर्थ हैं और बहुधा इसे एक नैतिक-धार्मिक अर्थ दिया जाता है जो मेरे उद्देश्यके लिये विजातीय है। आध्यात्मिक रूपांतरसे मेरा मतलब एक ऐसी चीज है जो सशक्तिक—क्रियाशील है (केवल आत्माकी मुक्ति या 'एकमेवाद्वितीय' की उपलब्धि नहीं जिसकी प्राप्ति बिना किसी अवतरणके भी आसानीसे हो सकती है)। 'रूपांतर'का अर्थ है आध्यात्मिक चेतनाको—स्थाणु और सक्रिय दोनोंको—अपनी सत्ताके प्रत्येक भागमें—नीचे अवचेतन भागतकमें—धारण करना। यह आत्माके प्रभावके द्वारा नहीं किया जा सकता जो चेतनाको मूलतः ज्योंका त्यों छोड़ देता, केवल मन और हृदयको विशुद्ध और आलोकित बनाता और प्राणको शांत करता है। इसका अर्थ है स्थाणु और सक्रिय भागवत चेतनाको इन सभी भागोंमें उतार लाना और उसे ही वर्तमान चेतनाके स्थानपर संपूर्ण रूपसे स्थापित कर देना। उस चेतनाको हम मन, प्राण और शरीरसे ऊपर अनावृत और अविमिश्र रूपमें पाते हैं। यह बहुतसे लोगोंके अकाटच अनुभवद्वारा सिद्ध बात है कि वह अवतरित हो सकती है और यह मेरा अनुभव है कि उसके पूर्ण अवतरणसे कम कोई चीज संपूर्ण रूपसे पर्दे और मिश्रणको दूर नहीं कर सकती तथा पूर्ण आध्यात्मिक रूपांतर नहीं साधित कर सकती। आत्मा क्या कर सकता है या वह अवश्य करेगा या उसका करना आवश्यक है या नहीं है—इन सब विषयोंके बारेमें किया जानेवाला कोई भी तात्त्विक या यौक्तिक तर्क-वितर्क यहां संगत नहीं है और न उसका कोई मूल्य ही है। मैं यहां यह भी कह सकता हूं कि रूपांतर अन्य मार्गोंका केंद्रीय उद्देश्य नहीं है जैसा कि यह इस योगका उद्देश्य है। अन्य योगोंद्वारा केवल उतनी ही शुद्धि और परिवर्तनकी मांग की जाती है जितनी कि उन्हें मुक्तितक और जीवनके परे ले जा सके। निस्संदेह आत्माका प्रभाव उतना कर सकता है—जीवनसे आध्यात्मिक मुक्ति पानेके लिये अपनी समूची प्रकृतिमें—एकदम ऊपरसे नीचेतक—एक नयी चेतनाको पूर्णतः अवतरित कराकर यहांके जीवनको रूपांतरित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती।

* * *

हृदय-चक्र

उपनिषदोंमें जिसे हृदय कहा गया है वह भौतिक हृदय-केंद्रसे मिलता-जुलता है; यह तांत्रिकोंका 'हृत्पद्म' है। यह एक सूक्ष्म केंद्र या चक्र है और ऐसा माना जाता है कि इसकी चोटी तो मेरुदंडपर है और यह सामनेकी ओर फैला हुआ है। इस क्षेत्रमें इसे ठीक कहांपर कोई अनुभव करता है इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं; इसे वहां अनुभव करना और उससे परिचालित होना—बस यही मुख्य बात है। मैं नहीं कह सकता कि 'म' ने क्या अनुभव किया है—परंतु जिस वस्तुका वर्णन आत्माके रूपमें किया गया है वह निश्चय ही यह अंतरात्मा पुरुष है पर यहां उसका मतलब मुक्ति और मुक्त कर्मसे कहीं अधिक है, प्रकृतिके रूपांतरके साथ उसका कोई सरोकार नहीं। चैत्य उपलब्धि जो चीज ले आती है वह है प्रकृतिमें चैत्य परि-वर्तन; वह प्रकृतिको शुद्ध करती और उसे एकदम भगवान्‌की ओर मोड़ देती है। उसके बाद अथवा उसके साथ-साथ आता है विश्वव्यापी आत्माका साक्षात्कार। ये ही दो चीजें हैं जिन-का प्राचीन योगोंने आलिंगन किया और उनकी सहायतासे वे मोक्ष, निर्वाण या किसी प्रकारकी स्वर्गीय परात्परताकी ओर चले गये।

जिस योगका हम यहां अभ्यास करते हैं वह मुक्ति और परात्परता दोनोंको अंतर्भुक्त करता है, पर यह मुक्ति या किसी प्रकारके निर्वाणको भी, यदि वह आये तो, पहला पग समझता है, वह उसे अपनी सिद्धिका अंतिम पग नहीं समझता। वह परात्परतातक या उसकी ओर जो भी प्रयाण करता है वह एक आरोहण होता है और उसके साथ ही लगा रहता है उपलब्ध शक्ति, ज्योति और चेतनाका अवतरण। इन्हीं अवतरणोंके द्वारा यहांपर आध्यात्मिक और अतिमानसिक रूपांतर साधित होता है। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि 'म'की विचारधारामें इस बातको स्वीकार किया गया है। वह अवतरणको आवश्यक और न्यायतः असंभव समझते हैं। उनका तर्क है कि "भगवान् तो यहीं हैं, भला उनका अवतरण कहांसे होगा?" परंतु भगवान् सर्वत्र हैं, वह ऊपर हैं और भीतर भी हैं; उनके बहुतसे निवासस्थान हैं, उनकी शक्तिरूपी धनुषमें बहुतसी डोरियां हैं, उनकी क्रियाशील चेतनाके बहुतसे स्तर हैं और उनमेंसे प्रत्येककी अपनी ज्योति और शक्ति है। वह हृदयमें विद्यमान अपने स्थानसे बंधे हुए नहीं हैं और न आंतरिक-आध्यात्मिक अनुभूतिके एकमात्र शब्दसे सीमित हैं। हृदयकेंद्र और मानसकेंद्रके ऊपर उनका अतिमानसिक धाम भी है और वह वहांसे, यदि वह वैसा करना चाहें तो, अवतरित भी हो सकते हैं।

—श्रीअरविंद

भागवत प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?

श्रीमाताजी

"......तुम एक दिन यह जान सकोगे कि प्रेम कोई व्यक्तिगत वस्तु नहीं है; प्रेम एक विश्वव्यापी दिव्य वृत्ति है जो कम या अधिक शुद्ध रूपमें तुम्हारे भीतरसे अभिव्यक्त हो रही है, परंतु जो अपने मूल रूपमें एक दिव्य वस्तु है।"

यह कहा जाता है कि "भागवत प्रेमके विषयमें सज्ञान होनके लिये अन्य सभी प्रेमोंको तिलांजलि दे देनी होगी।" अन्य प्रेमोंको त्यागनेका क्या तरीका है? वे तो बड़े हठी होते हैं और आसानीसे हमें कभी नहीं छोड़ते।

उस पार चले जाओ।

उस पार चले जाओ; देखो, पीछेकी ओर क्या है; बाहरी रूपपर ही जाकर रुक मत जाओ; बाहरी आकारसे ही संतुष्ट मत हो जाओ, उस मूलतत्त्वको खोजो जो इस प्रेमके पीछे विद्यमान है; तबतक संतुष्ट मत होओ जबतक तुम स्वयं इस प्रेमवृत्तिके मूलको नहीं पा जाते। तब बाहरी रूप स्वयं झड़ जायगा और प्रत्येक वस्तुके पीछे विद्यमान भागवत प्रेमके साथ तुम्हारा संपर्क हो जायगा।

यही सबसे उत्तम तरीका है।

एकको पानेके लिये दूसरेको त्यागनेकी चेष्टा करना बहुत कठिन है। यह प्रायः असंभव है। क्योंकि मानवीय स्वभाव इतना सीमित है, विरोधी चीजोंसे इतना भरा हुआ और इतना वर्जनशील है कि यदि तुम प्रेमके निम्नतर रूपका, अर्थात् मानव-प्राणी जिस रूपमें प्रेम अनुभव करते हैं उस मानवीय प्रेमका त्याग करना चाहो, यदि तुम उसका बहिष्कार करनेका आंतरिक प्रयास करो तो साधारणतया तुम प्रेम अनुभव करनेकी क्षमताको ही संपूर्ण रूपसे त्याग दोगे और मानो पत्थर बन जाओगे। और तब, प्रेमवृत्तिको ग्रहण करने और अभिव्यक्त करनेकी क्षमताको फिरसे अपने अंदर जागृत करनेके लिये कभी-कभी तुम्हें वर्षों, यहांतक कि शताब्दियों प्रतीक्षा करनी होगी।

अतएव, सबसे उत्तम तरीका यह है कि जब प्रेम, चाहे जिस किसी रूपमें, आये तब उसके बाहरी आकारको भेदकर उस तत्त्वको ढूंढ़ निकालो जो उस (प्रेम)के पीछे विद्यमान है तथा उसे उत्पन्न करता है। स्वभावतः ही यह कार्य जालों और कठिनाइयोंसे भरा हुआ है, परंतु यह है अत्यंत फलदायी। मेरे कहनेका मतलब है कि हमें इस कारण प्रेम करना ही बंद नहीं

कर देना चाहिये कि हम गलत रूपमें प्रेम करते हैं, बल्कि उसके बदले हमें गलत रूपमें प्रेम करना बंद कर देना चाहिये और सही रूपमें प्रेम करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

उदाहरणार्थ, मानव-प्राणियोंके बीच होनेवाला प्रेम, अपने सभी रूपोंमें, माता-पिताका अपने बच्चोंके लिये प्रेम, बच्चोंका अपने माता-पिताके प्रति प्रेम, भाई-बहनका प्रेम, मित्रों और प्रेमियोंका प्रेम सर्वत्र ही अज्ञान, स्वार्थपरता तथा मानवोचित सामान्य सभी दोषोंसे दूषित और कलंकित होता है। अतएव, संपूर्ण रूपसे प्रेम करना ही बंद कर देनेके बदले, जो कि बहुत कठिन काम भी है, और जैसा कि श्रीअरविंद कहते हैं, जो केवल हृदयको सुखा देता है एवं किसी उद्देश्यको सिद्ध नहीं करता, हमें अधिक अच्छे रूपमें प्रेम करना सीखना चाहिये—भक्ति, आत्मदान और आत्म-विलोपनके साथ प्रेम करना चाहिये, स्वयं प्रेमके ही विरुद्ध नहीं, बल्कि उसकी समस्त विकृतियोंके विरुद्ध युद्ध करना चाहिये; उपयोग करनेकी वृत्ति, आसक्तिका भाव, अधिकार जमानेकी वृत्ति, ईर्ष्या-द्वेष तथा इन सब चीजोंके साथ लगी हुई अन्य सभी वृत्तियोंके सभी रूपोंके विरुद्ध युद्ध करना चाहिये। अधिकार जमानेकी, प्राधान्य प्राप्त करनेकी, अपनी निजी इच्छा, निजी कामना-वासना, निजी सनक लादनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये; लेने और पानेकी नहीं वरन् देनेकी इच्छा करनी चाहिये; दूसरी ओरसे प्रत्युत्तर पानेका हठ नहीं करना चाहिये बल्कि स्वयं अपने प्रेमसे ही संतुष्ट रहना चाहिये; अपने निजी हितकी सिद्धि, अपने व्यक्तिगत आनंदकी प्राप्ति और अपने व्यक्तिगत कामनाकी पूर्त्तिकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये, बल्कि अपना प्यार और स्नेह देकर ही तृप्त होना चाहिये, दूसरी ओरसे प्रत्युत्तरकी मांग नहीं करनी चाहिये। महज प्रेम करनेमें ही आनंद अनुभव करना चाहिये, इससे अधिक कुछ नहीं पाना चाहिये।

यदि तुम ऐसा करो तो समझ लो कि तुम एक बहुत बड़ा पग आगे उठा चुके हो और इस मनोभावकी सहायतासे, धीरे-धीरे, इस अनुभूतिमें और आगे प्रगति करोगे और एक दिन यह जान जाओगे कि प्रेम कोई व्यक्तिगत वस्तु नहीं है; प्रेम एक विश्वव्यापी दिव्य वृत्ति है जो कम या अधिक शुद्ध रूपमें तुम्हारे भीतरसे अभिव्यक्त हो रही है, परंतु जो अपने मूल रूपमें एक दिव्य वस्तु है।

अतएव पहला पग है स्वार्थपरताका त्याग। प्रत्येक व्यक्तिके लिये बस यही एक बात आवश्यक है; जो लोग योग करना चाहते हैं केवल उन्हींके लिये नहीं, वरन् साधारण जीवनके लिये भी यह आवश्यक है। यदि तुम सच्चे रूपमें प्रेम करना चाहते हो तो तुम्हें सबसे पहले और सबसे अधिक अपने-आपसे प्रेम नहीं करना चाहिये और विशेष करके स्वार्थपूर्ण तरीकेसे नहीं करना चाहिये। तुम्हें बदलेमें कुछ भी मांगे बिना अपने-आपको अपने प्रेमास्पदके हाथोंमें दान कर देना चाहिये। यह तुम्हारे लिये अपने-आपको अतिक्रम करनेकी एक प्रारंभिक साधना है, एक ऐसे जीवनकी ओर ले जानेवाली साधना है जो संपूर्ण रूपसे स्थूल और कुत्सित नहीं है।

योगके लिये कुछ दूसरी चीज भी जोड़नी होगी। वह चीज है, जैसा कि आरंभमें ही मैं कह चुकी हूं, प्रेमके इस सीमित और मानवीय रूपको भेदकर भीतर घुस जानेकी इच्छा, दिव्य

प्रेमके तत्त्वको ढूंढ़ निकालना जो पीछेकी ओर विद्यमान है। उसके बाद ही हम सुनिश्चित रूपमें एक परिणामपर पहुंच सकते हैं। यह हृदयको सुखा देनेसे कहीं अच्छा है। यह शायद थोड़ा अधिक कठिन है, पर यह हर हालतमें अधिक अच्छा है, क्योंकि इस तरह तुम अपने अहंकारपूर्ण तरीकेसे दूसरोंको कष्ट पहुंचानेके बदले उन्हें अपने निजी कार्य और प्रयासमें शांतिपूर्वक लगे रहनेके लिये छोड़ सकते हो और केवल अपना रूपांतर करनेमें लगे रह सकते हो—उस समय तुम अपनी इच्छा दूसरोंपर नहीं लादोगे और साधारण जीवनकी दृष्टिसे भी थोड़ी अधिक ऊंची, थोड़ी अधिक सुसमंजस चीजकी ओर एक पग आगे बढ़ जाओगे।

"चैत्य अग्निको कैसे सुलगाया जाता है ?"

अभीप्साके द्वारा, प्रगति करनेके संकल्पके द्वारा, पूर्णताकी ओर जानेके तीव्र आवेग के द्वारा। विशेषकर प्रगति करनेका, अपनेको शुद्ध-पवित्र बनानेका संकल्प ही उस अग्नि को सुलगाता है। जिन लोगोंमें प्रबल संकल्प-शक्ति होती है, वे यदि उसे आध्यात्मिक उन्नति और शुद्धीकरणमें लगा देते हैं तो उनके भीतर वह अग्नि अपने-आप प्रज्वलित हो उठती है।

और अपने प्रत्येक दोषको, जिसे तुम सुधारना चाहते हो, या अपनी प्रत्येक प्रगतिको, जिसे तुम संसिद्ध करना चाहते हो, उन सबको यदि तुम उस आगमें झोंक दो तो वह एक नवीन तीव्रताके साथ जलने लगती है। यह कोई रूपक नहीं है, यह सूक्ष्म-भौतिक जगत्का एक सत्य है। तुम उस लौकी गर्मीको अनुभव कर सकते हो; तुम अपने सूक्ष्म शरीरमें उस लौके प्रकाशको देख सकते हो। और, जब तुम्हारे स्वभावमें कोई ऐसी चीज होती है जो तुम्हें आगे बढ़नेसे रोकती है और तुम उसे उस आगमें डाल देते हो तो वह जलने लगती है और उसकी शिखा अधिक तेज हो जाती है।

—श्रीमां

चिंतनधारा और सूत्रावली

कुछ वचनोंका स्पष्टीकरण

(७८)

"जब हमारे अंदरका ज्ञान नया होता है तब वह अजेय होता है; जब वह पुराना हो जाता है तब वह अपना गुण खो देता है। इसका कारण यह है कि भगवान् सर्वदा आगेकी ओर बढ़ते रहते हैं।"

श्रीअरविंद यहां उस ज्ञानकी बात कहते हैं जो अंतःप्रेरणा या इलहामके द्वारा प्राप्त होता है। वह ज्ञान तव प्राप्त होता है जव कोई चीज अकस्मात् अवतरित होती है और वुद्धिको आलोकित कर देती है। एकाएक तुम्हें ऐसा लगने लगता है कि तुम एक विशेष बातको पहले-पहल जानने लगे हो, क्योंकि वह चीज सीधे ज्योतिके, सच्चे ज्ञानके राज्यसे आती है और वह सत्यके अंदर निहित संपूर्ण शक्तिके साथ आती है जो तुम्हें आलोक प्रदान करती है। और, जव तुम उसे ग्रहण करते हो तो तुम्हें ऐसा लगता है कि वास्तवमें कोई चीज उस ज्योतिका प्रतिरोध नहीं कर सकती। और, यदि तुम उस ज्योतिको अपने अंदर कार्य करने देनेकी सुविधा दो तो वह उतना रूपांतर साधित कर देती है जितना कि वह अपने निजी राज्यमें करनेकी सामर्थ्य रखती है।

यह एक ऐसा अनुभव है जिसे मनुष्य बहुधा प्राप्त कर सकता है। जब यह आता है, कुछ समयतक––बहुत दीर्घ कालतक नहीं––ऐसा लगता है कि प्रत्येक चीज उस ज्योतिके इर्द-गिर्द व्यवस्थित हो रही है। और फिर, धीरे-धीरे वह बाकी चीजोंके साथ मिल-जुल जाती है; वौद्धिक ज्ञान रह जाता है––यह एक-न-एक रूपमें निर्मित होता है और फिर यही वना रहता है, परंतु यह मानों एक खोखली चीजके सिवा और कुछ नहीं होता। यह अव वह चालक शक्ति नहीं होता जो सत्ताकी सभी गति-विधियोंको अपने आकारमें रूपांतरित कर देती है। बस, यही बात यहां श्रीअरविंद कहना चाहते हैं। जगत् बड़ी तेजीसे चलता रहता है, भगवान् सर्वदा आगेकी ओर अग्रसर होते रहते हैं और जो कुछ वह पीछे छोड़ते जाते हैं वह महज पूंछ होती है और उसमें अव कार्य करनेकी वह तात्कालिक तथा सर्वसमर्थ सामर्थ्य नहीं होती जो उसे जगत्में प्रक्षिप्त करते समय उसमें होती है।

तुम्हारे मनपर ऐसी छाप पड़ती है मानों सत्यकी वृष्टि हो रही हो; जो लोग उसे, केवल एक बूंद भी, पकड़नेकी सामर्थ्य रखते हैं, उन्हें इलहाम होता है। परंतु वे यदि एकदम भीषण

गतिसे ही आगे न बढ़ें तो भगवान् सत्यकी अपनी वृष्टिके साथ वहुत आगे निकल जाते हैं और उन्हें फिरसे पकड़नेके लिये मनुष्यको वहुत तेज दौड़ना पड़ता है। श्रीअरविंदके कहनेका वस यही अर्थ है।

"अच्छा, पर इस ज्ञानमें वास्तवमें रूपांतर करनेकी एक शक्ति हो इसके लिये . .।"

हां, यह उच्चतर ज्ञान है, स्वयं सत्य ही है जो प्रकट होता है, यह वह चीज है जिसे श्री-अरविंद "सच्चा ज्ञान" कहते हैं; और यही वह ज्ञान है जो समस्त सृष्टिको रूपांतरित करता है। वह मानो सर्वदा ही उसे बरसा रहे हैं और तुम्हें बहुत जल्दी करनी चाहिये यदि तुम अधिक पीछे नहीं रहना चाहते ! (माताजी हंसती हैं) परंतु तुमने क्या कभी ऐसी चीजका अनु-भव नहीं किया जिससे कि तुम्हारे मस्तिष्कमें प्रकाश हो गया हो ? और फिर वह रूपांतरित होकर बन जाता है : "आह, हां।" बौद्धिक रूपमें कभी तुम्हें किसी चीजका ज्ञान मिला था, पर वह धीमा, प्राणहीन था और अकस्मात् वह अब एक प्रवल शक्तिके रूपमें आता है और तुम्हारी चेतनाके अंदर उस ज्योतिके चारों ओर प्रत्येक चीजको क्रमसे रख देता है——पर वह बहुत देरतक नहीं टिकता। कभी-कभी तो वह कुछ घंटोंतक रहता है, कभी-कभी कुछ दिनोंतक, पर उससे अधिक कभी नहीं ठहरता, बशर्त्ते कि तुम अपनी क्रियामें बहुत अधिक धीमे ही न होओ। और उस समयके अंदर सत्यका मूलस्रोत दूर चला जाता है, दूर, दूर, बहुत दूर......।

इस सबका अर्थ है मानसिक रूपांतर, पर जब जड़तत्त्व और शरीरका प्रश्न हो तो फिर मनुष्यको नया ज्ञान होना चाहिये ?

उसे, मेरे बच्चे, मैं अभी नहीं बता सकती , क्योंकि मैं उसे नहीं जानती।

क्या वह दूसरे प्रकारका ज्ञान है ?

ना, मैं ऐसा नहीं समझती।

(मौन)

शायद यह दूसरे प्रकारकी क्रिया है, पर यह दूसरे प्रकारका ज्ञान नहीं है।

(मौन)

वास्तवमें जो जड़तत्त्वको रूपांतरित करता है उसके विषयमें कुछ कहनेमें तुम तभी समर्थ हो सकोगे जब जड़तत्त्व थोड़ा-सा भी रूपांतरित हो जायगा, जब रूपांतरका होना आरंभ हो जायगा। तभी हम उसकी प्रक्रियाकी बात कह सकेंगे। पर अभी......।

(मौन)

परंतु सत्तामें चाहे जो भी रूपांतर हो, चाहे जिस स्तरपर हो, उसका बरावर ही निम्नतर स्तरोंपर प्रभाव पड़ता है। वहां सदा ही एक प्रकारकी क्रिया होती है; यहांतक कि जो

चीजें विशुद्ध रूपमें बौद्धिक प्रतीत होती हैं उनकी भी एक प्रतिक्रिया मस्तिष्ककी बनावटके ऊपर होती है, अवश्यमेव होती है।

ऐसे इलहाम (सत्यके प्रकाश) केवल निश्चल-नीरव मनमें ही आते हैं—कम-से-कम ऐसे मनमें जो विश्रामकी स्थितिमें हो, एकदम स्थिर और अचंचल हो, अन्यथा वे नहीं आते। अथवा, वे आते हैं और मनुष्य जो हल्ला करता है उसके कारण उसे उनका पता नहीं चलता। स्वभावतः ही उस स्थिरता, नीरवता, ग्रहणशीलताको अधिकाधिक स्थापित करनेमें अनुभव सहायक होता है। बार-बार ऐसे अनुभवोंके द्वारा ही ठीक वह चीज स्थापित होती है जिसके विषयमें यह धारणा होती है कि वह इतनी अचंचल पर फिर भी उद्घाटित, इतनी स्थिर पर फिर भी खुली हुई, इतनी गतिशून्य पर फिर भी ग्रहणशील है। मृत, निस्पंद, अग्रहणशील नीरवता तथा शांत-स्थिर मनकी ग्रहणशील नीरवतामें बहुत बड़ा अंतर है। परंतु वह उन अनुभवोंका परिणाम है। जो भी प्रगति हम करते हैं वह सदा ही, बिलकुल स्वाभाविक रूपमें ऊपरसे आनेवाले सत्योंका परिणाम है।

उसका, वैसी सभी वस्तुओंका शरीरकी क्रियापर—अंग-प्रत्यंगोंकी, मस्तिष्क, स्नायु आदिकी क्रिया-पर प्रभाव पड़ता है। अवश्य ही, बाह्य रूपपर प्रभाव पड़नेसे पहले, बहुत पहले वह घटित होगा।

सच पूछो तो जब लोग रूपांतरकी बात करते हैं तब वे एक बड़े आकर्षक रूपांतरकी बात विशेष रूपसे ध्यानमें रखते हैं, नहीं? उनके मनमें होता है एक सुन्दर आकार! उज्ज्वल, मुलायम, नमनीय, इच्छानुसार परिवर्तनशील। परन्तु इस चीजके विषयमें, जो मुश्किलसे सुन्दर होगा, अंगोंके रूपांतरकी बात, उसके विषयमें कोई अधिक नहीं सोचता! परंतु फिर भी निश्चित रूपमें पहली चीज वही होगी जो बाहरी रूपके रूपांतरसे बहुत पहले घटित होगी।

श्रीअरविंदने कहा था कि विभिन्न अंगोंका स्थान चक्रोंकी क्रियाएं ले लेंगी।

हां, हां, उन्होंने कहा था तीन सौ वर्षोंमें! (माताजी हंसती हैं)।

(मौन)

जरा इस बातपर विचार करो और तुम आसानीसे समझ जाओगे। यदि यह प्रश्न एक चीजको बंद कर देने और किसी चीजको आरंभ कर देनेका हो तो उसे हम काफी तेजीसे कर सकते हैं। परंतु प्रश्न यह है कि शरीरको इस प्रकार जीवंत बनाये रखा जाय कि वह कार्य करना जारी रखे और उसके साथ-ही-साथ एक नयी क्रिया बनी रहे जो शरीरको सजीव बनाये रखनेके लिये पर्याप्त हो तथा एक रूपांतर भी साधित हो। यह एक ऐसा संयोग है जिसे साधित करना बहुत कठिन है। मैं अच्छी तरह, काफी अच्छी तरह समझती हूं...... कि इसके लिये अपरिमित समयकी आवश्यकता है जिसमें कि यह कार्य किसी संकटमें पड़े बिना पूरा किया जा सके।

विशेषकर, जब हम हृदयके प्रश्नपर आते हैं तब यह और भी कठिन हो जाता है। हृदय-की जगह एक शक्ति-केंद्र, एक प्रबल कार्य-शक्ति ले लेगी। (माताजी हंसती हैं) ठीक किस

मुहूर्त्तमें रक्त-प्रवाह बंद कर दिया जायगा और शक्तिको कार्यमें नियुक्त किया जायगा ?

बात कठिन है।

(मौन)

साधारण जीवनमें तुम एक बातपर विचार करते हो और फिर उसे करते हो, पर यह ठीक उसके विपरीत है, इस जीवनमें सबसे पहले तुम्हें वह चीज करनी होगी और फिर तुम उसको समझोगे, बहुत देर बाद। पहले तुम्हें बिना सोचे-समझे करना होगा। यदि तुम सोचते हो तो तुम कुछ भी अच्छा नहीं करते, कहनेका मतलब, तुम पुराने रास्तेपर लौट जाते हो।

६. १०. १९६२

(७९)

भगवान्‌में अनंत संभावनाएं निहित हैं। इसीलिये सत्य कभी विश्राम नहीं करता; फिर इसीलिये भूल-भ्रांतिके संतानोंका होना भी उचित सिद्ध होता है।

(८०)

कुछ भक्तोंकी बात सुननेपर हम अनुमान कर सकते हैं कि भगवान् कभी हंसते नहीं; परंतु हेन (Heine) प्रायः सत्यके अधिक समीप था जब उसने उनके अंदर दिव्य अरिस्टोफेन (Aristophanes) को देखा।

हां, श्रीअरविंदके कहनेका मतलब यह है कि जो चीज एक समय सत्य होती है वह दूसरे समय सत्य नहीं रह जाती। और बस, यह बात भूल-भ्रांतिके संतानोंका समर्थन करती है।

संभवतः वह यह कहना चाहते हैं कि भूल-भ्रांति नामकी कोई चीज है ही नहीं।

हां, यह एक ही बात है, एक ही बात कहनेका दूसरा तरीका है। कहनेका मतलब यह है कि जिस चीजको हम भूल कहते हैं वह एक दूसरे क्षणमें सत्य थी।

भूल-भ्रांति कालके अंदरकी एक भावना है।

परंतु ऐसी चीजें भी हैं जो वास्तवमें भूल-भ्रांति प्रतीत हो सकती हैं।

कुछ समयके लिये ही।

ठीक यही बात है, यही धारणा है: हमारे सभी निर्णय उस क्षणके लिये होते हैं। वे, इस मुहूर्त्तमें, वैसे होते हैं। दूसरे मुहूर्त्तमें वे फिर वैसे नहीं होते। और हमारे लिये वे भूल-भ्रांतियां होते हैं, क्योंकि हम चीजोंको एकके बाद एक देखते हैं। परंतु भगवान्‌के लिये वे वैसी नहीं दीखतीं, क्योंकि सब कुछ उनके अंदर है।

अब जरा एक क्षणके लिये ठीक यह कल्पना करनेकी चेष्टा करो कि तुम स्वयं भगवान् हो! सब कुछ तुम्हारे अंदर ही है। अब महज मन-बहलावके लिये उस सबको एक विशेष क्रममें बाहर निकाल लाओ; परंतु तुम्हारे लिये, तुम्हारी चेतनामें सब कुछ एक ही समयमें विद्यमान है; कोई काल नहीं, न भूत, न भविष्य, न वर्त्तमान है—सब एक साथ विद्यमान हैं। और फिर सभी संभव संयोग भी विद्यमान हैं। तुम एक चीजको, फिर दूसरीको, इसी तरह एकके बाद एक चीजको बाहर निकालकर अपना मन बहलाते हो। परंतु जो बिचारे नीचे हैं और केवल एक अंशमात्रको देखते हैं—वे केवल उतना ही देख सकते हैं—वे कहते हैं: "ओह! यह, यह सब भूल-भ्रांति है।" यह भला भूल कैसे है? महज इस कारण कि वे केवल ठीक उतनासा अंश ही देखते हैं।

यह स्पष्ट है, है न? यह समझना आसान है। यह भूल-भ्रांतिकी भावना महज एक भावना है जो देश और कालसे संबंध रखती है।

यह भावना ठीक इस तरहकी है कि एक ही कालमें एक चीज 'हो सकती है' और 'नहीं हो सकती।' और फिर भी यह सत्य है, एक चीज 'है' और 'नहीं है'। कालकी भावना—देश और कालकी भावाना ही भूलकी इस भावनाको ले आती है।

आप ऐसा कैसे कहती हैं कि एक ही कालमें एक चीज 'है' और 'नहीं' है? ऐसा कैसे हो सकता है?

ऐसा है और उसी समय उसकी विरोधी बात भी है। अवश्य ही, हम लोगोंके लिये, एक ही समय 'हां' और 'ना' नहीं हो सकता। पर भगवान्‌के लिये सब समय ही 'हां' और 'ना' साथ-साथ रहता है।

यह ठीक हमारी देशकी भावनाकी जैसी बात है: "मैं यहां हूं, इसलिये तुम यहां नहीं हो।" परंतु मैं यहां हूं, तुम यहां हो, सब यहां हैं! (श्रीमाताजी हंसती हैं) केवल तुम्हें इसे समझनेके लिये देश और कालकी भावनासे बाहर निकल आनेमें समर्थ होना चाहिये।

यह ऐसी चीज है जिसे मनुष्य बहुत ठोस रूपमें अनुभव कर सकता है, पर हमारे देखनेका जो तरीका है उसके द्वारा इसे अनुभव नहीं किया जा सकता।

सच पूछा जाय तो इनमेंसे बहुतसे सूत्र ऐसे समय लिखे गये थे जब उच्चतर मन हठात अतिमानसकी ओर खुल जाता है। उस समय मन अभी यह नहीं भूला होता कि उसके लिये साधारण तरीका क्या है, पर साथ ही वह देखता है कि अतिमानसिक तरीकेसे यह कैसा है।

और फिर वह तुम्हें इस प्रकारकी चीजें देता है, तुम्हें यह विरोधाभासपूर्ण रूप देता है, क्योंकि एक अभी भूला नहीं है और दूसरा देखा जा चुका है।

(दीर्घ मौन)

यदि तुम ध्यानपूर्वक देखो तो वास्तवमें तुम यह सोचनेके लिये वाध्य होगे कि भगवान् स्वयं अपने साथ एक महान् सुखांत नाटक खेल रहे हैं ! यह अभिव्यक्ति अपने-आपमें एक सुखांत नाटक है जिसे वह स्वयं अपने साथ और अपने लिये खेल रहे हैं।

उन्होंने दर्शकका स्थान ले लिया है और स्वयं अपनेको देख रहे हैं।

ऐसी स्थितिमें उन्हें काल और देशकी भावनाको स्वीकार करना ही होगा, अन्यथा वह अपनी ओर ताक नहीं सकते ! और फिर तुरंत समूचा सुखांत नाटक आरंभ हो जाता है। परंतु यह एक सुखांत नाटक है, इससे अधिक और कुछ नहीं है। जहांतक हम लोगोंका प्रश्न है, हम इसे गंभीर रूपमें देखते हैं, क्योंकि हम कठपुतली हैं, नहीं ?—परंतु जैसे ही हम कठ-पुतली बनना बंद कर देते हैं वैसे ही हम यह खूब अच्छी तरह देखते हैं कि यह एक सुखांत नाटक है।

यह एक सच्चा दुःखांत नाटक भी है, कम-से-कम कुछ लोगोंके लिये।

हां, वास्तवमें इसे हम लोग ही दुःखांत वनाते हैं। वस, हम लोग ही इसे दुःखांत बनाते हैं।

अभी हालमें मैंने थोड़ा ध्यान देकर देखा था। मैंने मनुष्यों और पशुओंमें घटनेवाली एक समान घटनाओंके बीचके विभेदको ध्यानसे देखा था। यदि तुम पशुओंके साथ एकात्म हो जाओ तो तुम खूब अच्छी तरह यह देखोगे कि वे इसको बिलकुल ही दुःखांत नहीं समझते—उन पशुओंको छोड़कर जिन्होंने मनुष्योंके साथ संवंध बना लिया है; परंतु इन पशुओंकी अव-स्था स्वाभाविक नहीं है, वह एक मध्यवर्ती अवस्था है; वे पशु और मनुष्यके वीचके मध्यवर्ती जीव वन जाते हैं।......और सबसे पहली चीज जो वे स्वाभाविक रूपमें मनुष्यसे लेते हैं वह होती है उनकी दोपत्रुटि, यह बराबर ही ग्रहण करनेमें सबसे आसान चीज होती है ! और इस तरह वे दुःखी वन जाते हैं, बिना किसी कारण।

इस तरह बहुतसी चीजोंको......इस तरह बहुतसी चीजोंको.....मनुष्यने मृत्युको एक भयावह दुःखपूर्ण वस्तु बना दिया है। इन विगत दिनोंमें मैंने देखा—क्योंकि गत रात या पहलेकी रात कम-से-कम दो घंटे मैंने एक जगत्में बिताये जो सूक्ष्म-भौतिक जगत् था, जहां जीवित और मृत लोग साथ-साथ अगल-वगलमें भेद अनुभव किये बिना चलते-फिरते हैं—उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। वहां, वहां कोई अंतर नहीं होता। वहां जीवित प्राणी थे—वे लोग जिन्हें हम 'जीवित' कहते हैं—और वे लोग थे जिन्हें हम मृत कहते हैं। वे वहां थे, उन्होंने एक साथ खाया, एक साथ वे चले-फिरे, उन्होंने एक साथ खेला इत्यादि, सब कुछ किया। वह

एक सुन्दर ज्योति थी, शांत-स्थिर और सामान्य रूपमें वहुत सुखदायी, एकदम मनोहारी। मैंने मन-ही-मन कहा, "देखो न, मनुष्यने एक विभेद उत्पन्न कर दिया, इस प्रकार–और फिर उन्होंने कहा, "अव, मृत्यु।" और मृत लोग! इस विषयका सौंदर्य यह है कि तुम उनके साथ इस तरह व्यवहार करते हो मानो वे अचेतन चीजें हों जव कि यह शरीर अव भी होता है सचेतन ही।

(मौन)

कहां, कहां है भूल? कहां है भूल?

कहनेका मतलव, कहीं कोई भूल नहीं है। केवल ऊपरसे देखनेमें चीजें असंभव मालूम होती हैं, क्योंकि हम यह नहीं जानते कि भगवान् स्वयं सभी संभावनाएं हैं और वह जो कुछ चाहते हैं और जिस तरह करना चाहते हैं, कर सकते हैं। यह बात हमारे माथेमें नहीं घुसती; हम वरावर यह कहते हैं कि "यह हो सकता है और तव वह नहीं हो सकता।" परंतु यह सच नहीं है! यदि यह नहीं हो सकता तो इसका कारण है हमारी अक्षमता, पर सब कुछ संभव है।

(मौन)

जरा ध्यान दो, वहां केवल वह है जो एक भागको देखता है, जो जरा भी चिंतित नहीं होता, क्योंकि जो कुछ घटित होने जा रहा है वह सब वह जानता है और उसे प्रत्येक चीजका पूर्ण ज्ञान है—जो कुछ हो रहा है, जो कुछ हो चुका है, जो कुछ होने जा रहा है वह सव वह जानता है—यह सब वहां है, सब कुछ वहां है—उसके लिये वस एक वस्तुकी तरह सब कुछ उपस्थित है। फिर वहां दूसरे हैं, विचारे नाटकके पात्र हैं जो नहीं जानते, जो अपने पार्टको नहीं जानते! और वे वहुत अधिक घवड़ा उठते हैं, क्योंकि उससे नाटकका एक पार्ट अदा कराया जा रहा है और वे यह नहीं जानते कि वह पार्ट क्या है। यह धारणा मुझे ठीक अभी हुई है, पर हुई है बड़े प्रबल रूपमें: हम सभी इस सुखांत नाटकमें अभिनय कर रहे हैं, पर हम यह नहीं जानते कि यह नाटक क्या है, न यह जानते हैं कि यह किस ओर जा रहा है, कहांसे चल रहा है अथवा इसका संपूर्ण रूप क्या है। हम वस मुश्किलसे—और भ्रांत रूपमें—यह जानते हैं कि इस क्षण हमें क्या करना है। हम इसे अच्छे ढंगसे भी नहीं जानते और फिर परेशान हो उठते हैं! परंतु जव कोई संपूर्ण रूपसे जान जाता है तब वह बिलकुल परेशान नहीं होता, वल्कि वह मुसकराता है—उसे (सब कुछ जाननेवाले भगवान्‌को) तो बड़ा मजा आता होगा, पर हम...... हम लोगोंको भी उन्हींकी तरह आनंद मनानेकी पूरी शक्ति दी गयी है।

इसका कारण महज यही है कि हम इसके लिये कष्ट नहीं उठाते।

यह आसान नहीं है।

ओह ! यदि यह आसान होता . . . . . हां, यदि यह आसान होता तो लोग इससे ऊब जाते।

हम लोग कभी-कभी अपने मनमें भी यह प्रश्न करते हैं कि क्यों, क्यों यह जीवन इतना दुःखपूर्ण है ? परंतु यह यदि एक सनातन जादू-मंत्रके जैसा होता तो, सबसे पहले, लोग इसे पसंद भी न करते, क्योंकि उस समय यह एकदम स्वाभाविक प्रतीत होता---वह विशेष रूपसे वही रहता, लोग पसंद न करते, क्योंकि वह पूर्णतः स्वाभाविक जान पड़ता---और तब, यह कहना कठिन है कि लोग ठीक जरासे परिवर्तनके लिये थोड़ासा गोलमाल नहीं पसंद करते। कुछ निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता।

शायद ऐसी ही बात पार्थिव स्वर्गकी कहानीके विषयमें है . . . . . स्वर्गमें लोगोंको सहज-स्वाभाविक रूपसे ज्ञान प्राप्त था, अर्थात् वे जीवन यापन करते थे, पशुओंके जैसी ही उन्हें एक चेतना थी जो जीवनका थोड़ासा उपभोग करनेके लिये, जीवनका आनंद प्राप्त करनेके लिये पर्याप्त थी। परंतु उन्होंने क्यों, कैसे, किधर, क्या करना चाहिये इत्यादि जानना आरंभ कर दिया और फिर सब प्रकारकी कठिनाइयां आरंभ हो गयीं---वे चुपचाप प्रसन्न बने रहनेसे थक गये थे।

(मौन)

मैं समझती हूं कि श्रीअरविंदका मतलब यह था कि भूल-भ्रांति एक भ्रम है जैसी कि बाकी सभी चीजें हैं। भूल-भ्रांति नामकी कोई चीज नहीं, बल्कि यहां सब प्रकारकी संभावनाएं हैं जो बहुधा केवल अपने बाहरी रूपमें एक-दूसरीकी विरोधिनी दीखती हैं---और यदि सभी एक साथ हों तो आवश्यक रूपमें विरोधिनी दीखती हैं। परंतु हमें बस अपनी ओर देखना है और यह पूछना है, "यह क्या चीज है जिसे हम भूल-भ्रांति कहते हैं ?" बस, हमें उस चीजको अपने सामने रखकर देखना है और तब हम तुरत देखेंगे कि यह तो एक मूर्खता है---भूल-भ्रांति जैसी कोई चीज नहीं---वह हमारी मुट्ठीसे फिसल जाती है।

(मौन)

मेरी ऐसी धारणा है कि श्रीअरविंद अपने आरोहण-पथपर थे, उनका संबुद्ध मन एक छिद्र बना रहा था और अतिमानसिक स्तरके साथ संपर्क स्थापित कर रहा था और फिर उसी समय यह इस रूपमें आया, विचारके अंदर एक विस्फोटके रूपमें आया और उन्होंने ये चीजें लिख डालीं। यदि तुम (इनमें निहित) गतिधाराका अनुसरण करो तो तुम इनके मूल स्रोतको देख सकते हो।

स्पष्ट ही, उनके कहनेका तात्पर्य यही था कि भूल-भ्रांति असंख्य, अनंत संभावनाओंमेंसे एक संभावना है। "अनंत"का अर्थ है "पूर्ण", ऐसा कुछ नहीं जो सत्ताकी संभावनाके बाहर हो। तब फिर भूल-भ्रांतिको कहां रखा जाय ? सच पूछो तो इसे भूल-भ्रांतिका नाम हम लोग देते

हैं, यह तो एकदम स्वेच्छाचारिता है। हम कहते हैं, यह एक 'भूल-भ्रांति' है, पर किस चीजके मुकाबले ! इस हमारे निर्णयके मुकाबले कि "यह सत्य है", परंतु निश्चय ही भगवान्के निर्णयके मुकाबले नहीं, क्योंकि यह तो स्वयं उन्हींका एक अंश है।

चेतनाके इस विस्तारको वहन करनेवाले लोग बहुत नहीं हैं।

अब, जब मैं इस प्रकार देखना आरंभ करती हूं (माताजी आंखें बंद कर लेती हैं), तो वहां मैं एक साथ ही दो चीजें देखती हूं : हां, यह मुस्कान, यह प्रसन्नता, यह हंसी वहां है और फिर एक शांति है ! है न ? एक शांति, एक शांति इतनी परिपूर्ण, इतनी ज्योतित, इतनी सर्वांगपूर्ण कि वहां ऐसी कोई चीज नहीं जो बाधा डालती हो, अब वहां कोई परस्परविरोधी चीज नहीं। कोई भी चीज अब वहां संघर्ष नहीं करती। वहां अब एकरस ज्योतिर्मय समस्वरता है—और फिर भी जिसे हम भूल-भ्रांति कहते हैं, दुःख-कष्ट, दैन्य कहते हैं वह सब भी, प्रत्येक चीज ही वहां है। वह किसी चीजको दबाकर नहीं रखती; वह देखनेका एक दूसरा ही तरीका है।

(दीर्घ मौन)

यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि यदि कोई सच्चे दिलसे चाहे तो इस स्थितिसे आखिर बाहर निकल आना उतना कठिन नहीं है : तुम्हें कुछ नहीं करना है, तुम्हें बस सब कुछ भगवान्को करने देना है; और वह सब कुछ करते हैं। वह सब कुछ करते हैं। यह कितना अद्भुत, कितना आश्चर्यजनक है !

वह किसी भी चीजको लेते हैं, जिसे हम एकदम साधारण बुद्धि कहते हैं उसे भी वह लेते हैं और फिर वह महज तुम्हें यह सिखाते हैं कि उस बुद्धिको एक किनारे रख दो, उसे आराम करने दो, कहो : "वहां बस चुपचाप बैठ जाओ, अब जरा भी मत हिलो-डुलो, परेशान मत होओ, मुझे तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं," और उसके बाद एक दरवाजा खुल जाता है—तुम्हें यह नहीं मालूम होता कि उसे तुम्हें खोलना है, वह बिलकुल खुला होता है, तुम्हें किसीने दूसरी ओर ला रखा है (यह सब कोई दूसरा ही करता है, तुम नहीं); और उसके बाद, दूसरे ढंगसे काम करना तुम्हारे लिये असंभव हो जाता है।

यह सब, ओह, मनका यह प्रचंड प्रयास जो समझनेके लिये कितना परेशान होता है, ओफ, जो कठिन परिश्रम करता और अपना सिर फोड़ता है . . . . . बिलकुल ही व्यर्थ, एकदम व्यर्थ है, उससे बिलकुल ही कोई लाभ नहीं होता। यह महज ताशोंको फेंटते रहना है।

तुम्हारे सामने एक तथाकथित समस्या खड़ी हो गयी है : क्या कहा जाय या क्या किया जाय या कैसे कार्य किया जाय या . . . . . ? अब तुम्हें कुछ भी नहीं करना है, कुछ भी नहीं। बस, तुम्हें भगवान्के सामने इतना कहना है, "हां, तो भगवान् ! आप देखते हैं, बस, बात ऐसी है।" और बस, इतना काफी है। उसके बाद तुम शांत-स्थिर, एकदम अचंचल बने रहते हो। और फिर एकदम अपने-आप, उसका चिंतन किये बिना, उसपर ध्यान एकाग्र किये बिना, उस विषयमें कुछ भी हिसाब लगाये बिना, जरा भी कोई काम किये बिना, तुम वही करते हो जो

तुम्हें करनेके लिये दिया गया है। कहनेका मतलब, उस समय भगवान् उसे करते हैं, अब तुम कर्त्ता नहीं होते। वह उसे करते हैं, परिस्थितियोंकी व्यवस्था करते हैं, लोगोंकी व्यवस्था करते हैं, वह तुम्हारे मुंह या कलममें शब्द रख देते हैं—वह सब, सब, सब, सब कुछ करते हैं, अब तुम्हें कुछ भी नहीं करना होता, कुछ भी नहीं, बस आनंदमें चुपचाप निवास करना होता है।

मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि लोग वास्तवमें इसे नहीं चाहते।

परंतु इसमें जो कठिनाई है वह है अपनेको साफ कर लेना, सबसे पहले सफाईका कार्य पूरा कर लेना।

परंतु इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि तुम उसे करो। तुम्हारे लिये वही इसे कर लेते हैं।

परंतु वह निरंतर आक्रमण करता है—पुरानी चेतना, पुराने विचार......।

हां, वह अभ्यासके वश पुनः आनेकी चेष्टा करता है—तुम्हें केवल यह कहना होगा: "भगवान्! आप देखते हैं। आप देखते हैं। आप देखते हैं, यह बात ऐसी है।" बस इतना ही काफी है। "भगवान्! आप देखते हैं, आप इसे देखते हैं, आप इसे देखते हैं, आप वहां इस अक्षमको देखते हैं।" बस, काम पूरा हो गया। और वह भी तत्काल। परंतु यह अपने-आप परिवर्तन ले आता है, मेरे बच्चे, जरा भी प्रयास आवश्यक नहीं होता। बस, आवश्यकता है सच्चे होनेकी, अर्थात् वास्तवमें यह इच्छा करनी चाहिये कि वैसा हो जाय। तुम पूर्ण रूपमें सचेतन हो कि तुम कुछ भी नहीं कर सकते, तुममें कोई क्षमता नहीं है। स्वयं मुझे भी अधिकाधिक यह धारणा हुई है कि जड़तत्त्वका, जैसा कि यह यहां है, कोषोंका और इन सब चीजोंका जो यह मिश्रण है, यह एक तुच्छ, हीन वस्तु है! मैं नहीं जानती कि ऐसी भी स्थिति है जिसमें लोग अपनेको शक्तिमान्, अद्भुत, ज्योतिपूर्ण, योग्य-समर्थ अनुभव करते हैं; परंतु मेरे लिये तो यह ऐसा ही है, क्योंकि वे वास्तवमें यह नहीं जानते कि वे कैसे हैं! जब हम वास्तवमें यह देखते हैं कि कैसा हम बने हैं—यथार्थमें यह कुछ नहीं है, कुछ नहीं है, परंतु प्रत्येक चीज करनेमें समर्थ है, बशर्त्ते कि..... बशर्त्ते कि तुम भगवान्को करने दो। परंतु बराबर ही कुछ चीज ऐसी होती है जो बहुत अधिक स्वयं अपने-आप करना चाहती है, बस, यही है कठिनाई, अन्यथा.......।

ना, तुम अच्छी शुभ-कामनासे भरपूर होते हो और फिर तुम उसे करना चाहते हो। यही सारी बातको जटिल बना देती है। अथवा, किसी कारण तुममें श्रद्धा नहीं है, तुम मानते हो कि भगवान् नहीं कर सकेंगे और तुम्हें स्वयं ही इसे करना होगा, क्योंकि वह (भगवान्) नहीं समझते! (माताजी हंसती हैं) यह, इस प्रकारकी, मूर्खता बहुत अधिक फैली हुई है। "भला

वह (भगवान्) चीजोंको कैसे देख सकते हैं? हम लोग मिथ्यात्वके जगत्में निवास करते हैं, वह भला कैसे मिथ्यात्वको देख सकते हैं और यह देख......।" बिलकुल ठीक बात है, वह चीजोंको वैसा ही देखते हैं जैसा कि वे हैं!

मैं उन लोगोंकी बात नहीं करती जिनमें कोई बुद्धि नहीं है, मैं तो उनकी बात करती हूं जो बुद्धिमान् हैं और जो कोशिश करते हैं—एक प्रकारका विश्वास, एक प्रकारसे, उन लोगोंके भी कुछ अंगोंमें होता है जो यह जानते हैं कि हम लोग अज्ञान और मिथ्यात्वके जगत्में निवास करते हैं और एक भगवान् हैं जो सर्व-सत्यमय हैं, हां, वे भी कहते हैं: "ठीक ऐसी ही बात है, क्योंकि वह (भगवान्) तो सर्वसत्यमय हैं, वह नहीं समझते (माताजी हंसती हैं)। वह हमारे मिथ्यात्वको नहीं समझते, उसके लिये हम लोगोंको ही प्रयत्न करना होगा।" यह बात वड़ी प्रवल है, बहुत व्यापक रूपसे फैली है।

हम लोग अकारण ही जटिलताएं उत्पन्न कर देते हैं।

एक बात है। मैं बहुधा अपने-आपसे पूछता हूं; जब कोई भगवान्से प्रार्थना करता है, उनको यह समझाना चाहता है कि कोई चीज ठीक नहीं है, तब बराबर ही मुझे ऐसा लगता है कि उसे बड़े जोरसे एकाग्र होना चाहिये, और, जो कुछ भी क्यों न हो, उसे किसी चीजको पुकारना चाहिये जो बहुत दूर है। क्या यह ठीक है या क्या यह वास्तवमें......।

वह स्वयं तुम्हारे ऊपर निर्भर करता है!

जहांतक मेरा संबंध है, मैं सर्वत्र इसे अनुभव करती हूं, सब समय, सब समय....नीचे भौतिक संस्पर्शतक—यह सूक्ष्म-भौतिक होता है पर होता है भौतिक—चीजोंमें, हवामें, लोगोंमें... इस तरह (माताजी अपने मुंहपर, अपने हाथ जोरसे दबाते हुए रखती हैं)। और फिर, हमें दूर जानेकी आवश्यकता नहीं, मुझे बस इतना करनेकी जरूरत होती है (माताजी अपने हाथोंको थोड़ा अंदरकी ओर मोड़ती हैं), एक क्षण ध्यान—और वह (भगवान्) वहां विद्यमान होते हैं! वह वहां होते हैं, वह सर्वत्र होते हैं। वह दूर तभी होते हैं जब तुम यह सोचते हो कि वह दूर हैं।

स्वभावतः ही जब हम सभी श्रेणियोंकी, वैश्व चेतनाके सभी लोकोंकी बात सोचते हैं और यह सोचते हैं कि यह सब सुदूर अंतमें है, बहुत दूर अंतमें, वहां सबसे ऊपर है तब वह वास्तवमें बहुत दूर, बहुत दूर हो जाता है! (माताजी हंसती हैं) परंतु जब हम यह समझते हैं कि वह सर्वत्र हैं, वही सब कुछ बने हैं और केवल देखनेका हमारा ढंग ही उन्हें देखने और अनुभव करनेमें बाधा पहुंचाता है तब हमें केवल ऐसा कर देनेकी आवश्यकता है (माताजी अपने हाथ अंदरकी ओर मोड़ देती हैं)। यह इस प्रकारकी एक क्रिया है (माताजी बारी-बारीसे अपने हाथ बाहर और भीतरकी ओर मोड़ती हैं), वह बहुत ठोस बन जाती है; तुम ऐसा करते हो (बाहरकी ओर) और सब कुछ कृत्रिम, कठोर, सूखा, गलत, मिथ्या, हां, पूरा-का-पूरा बनावटी

वन जाता है; तुम ऐसा करते हो (भीतरकी ओर) तो सब कुछ विस्तीर्ण, प्रशांत, ज्योतिपूर्ण, शांतिमय, विशाल, सुखमय वन जाता हैं। और यह वस यह है, केवल यह है (माताजी बारी-बारीसे अपने हाथ बाहर और भीतरकी ओर मोड़ती हैं)। परंतु कैसे ? कहां ? इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, यह तो महज, महज चेतनाकी एक क्रिया है, और कुछ भी नहीं। बस, चेतनाकी एक गति है ! और सत्य-चेतना और मिथ्या-चेतनाके बीचका विभेद अधिकाधिक . . . सुस्पष्ट और साथ ही पतला भी हो जाता है—उससे (मिथ्या चेतना) से बाहर निकलनेके लिये तुम्हें कोई बड़ा काम नहीं करना होता। पहले तुम ऐसा समझते थे कि तुम किसी चीजमें निवास करते हो, और उससे बाहर निकलनेके लिये तुम्हें बहुत अधिक अंतर्मुखी, एकाग्र, तल्लीन हो जानेकी आवश्यकता है, पर अब तुम यह समझने लगते हो कि यह एक ऐसी चीज है जिसे तुमने स्वीकार किया है (माताजी अपने हाथोंको अपने मुंहपर एक पर्देके रूपमें रखती हैं), जो पतले छिलकेकी जैसी है बहुत कठोर—बहुत कठोर पर नमनीय है, बहुत, बहुत सूखी पर बहुत पतली, बहुत पतली है, ठीक एक बनावटी चेहरेके समान है जिसे हमने पहन रखा है; और फिर तुम ऐसा करते हो (हाथका एक इशारा) और वह दूर हो जाती है।

तुम्हें उस समयका पूर्वज्ञान प्राप्त हो जाता है जब कि इस बनावटी चेहरेका ज्ञान होनेकी कोई आवश्यकता नहीं होगी, वह चेहरा इतना पतला होगा कि हम उसके भीतरसे सीधे देख सकेंगे, अनुभव कर सकेंगे और कार्य कर सकेंगे और फिर उसे दुबारा पहननेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी। बस, अब ऐसा ही होना आरंभ हो गया है।

परंतु यह दिव्य उपस्थिति सभी चीजोंमें विद्यमान है . . . . . यह एक 'प्रकंपन' है, पर यह एक ऐसा प्रकंपन है जो प्रत्येक चीजको अपने अंदर धारण करता है—एक ऐसा प्रकंपन है जिसमें एक प्रकारसे असीम शक्ति, असीम आनंद और असीम शांति है, और विशालता, विशा-लता, विशालताका तो कहीं अंत ही नहीं है . . . . . .। परंतु यह महज एक प्रकंपन है, यह नहीं . . . . ओह, भगवान्, तुम इसका विचार नहीं करते इसलिये तुम इसे शब्दोंमें कह नहीं सकते। अगर तुम विचार करो, सीधे चिंतन करो तो फिर सभी गड़बड़ियां आरंभ हो जाती हैं ! इसी कारण तुम उसके विषयमें कुछ नहीं कह सकते।

नहीं, वह (भगवान्) बहुत दूर हैं, क्योंकि तुम सोचते हो कि वह बहुत दूर हैं। मान लो, तुमने यह सोचा ही कि वह यहां हैं, इस तरह (अपने चेहरेकी ओर एक भंगिमाके साथ) तुम्हें स्पर्श करते हुए . . . . . यदि तुमने उन्हें अनुभव भी किया, तो वह ठीक मनुष्यके संस्पर्शके जैसा नहीं होता, वह वैसा बिलकुल नहीं होता। वह एक ऐसी चीज है जो परायी नहीं है, जो बाहर नहीं है, जो बाहरसे भीतर नहीं जाती। वह ऐसी नहीं है . . . . वह सर्वत्र है।

अतएव, तुम सर्वत्र अनुभव करते हो, सर्वत्र, सर्वत्र—भीतर, बाहर, सब जगह, सब ओर, और कुछ नहीं, बस 'उन्हें'—'उन्हें', उनके ही प्रकंपनको।

ना, तुम्हें उसे (मस्तक) बंद करना होगा, जबतक तुम उसे बंद नहीं करते तबतक तुम 'सत्य वस्तु' को नहीं देख सकते—तुम मेल खोजनेकी चेष्टा करते हो, तुम कहते हो, "यह ऐसा है, यह वैसा है", ओह !

(मौन)

और कितनी बार, कितनी बार यह धारणा होती है ..... कोई रूप नहीं है—एक रूप है और कोई रूप नहीं है, तुम उसके विषयमें कुछ नहीं कह सकते। और, मानों किसीके देखनेका आभास मिलता है और वहां कोई आंख नहीं होती—कोई आंख नहीं होती परंतु वहां देखनेका भाव होता है—एक दृष्टि (देखनेकी क्रिया), एक मुस्कान होती है और वहां कोई मुंह नहीं होता, कोई आकृति नहीं होती! और फिर भी एक हंसी होती है, एक देखनेका भाव होता है और (माताजी हंसती हैं) तुम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि "हां, हे भगवान्! मैं मूर्ख हूं!" परंतु वह (भगवान्) हंसते हैं, और तुम हंसते हो और प्रसन्न होते हो।

तुम व्याख्या नहीं दे सकते! उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। उसके विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तुम कुछ भी नहीं कह सकते। जो कुछ तुम कहते हो वह कुछ नहीं होता, कुछ भी नहीं होता।

१२. १०. १९६२

श्रीमाताजीकी व्याख्या :—

धम्मपदं

(४)

यमकवग्गो

इध मोदति पेच्च मोदति कत पुञ्ञा उभयत्थ मोदति।
सो मोदति सो पमोदति दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो ।।१६।।

वह यहां प्रमुदित होता है, मरनेके बाद प्रमुदित होता है, पुण्यात्मा दोनों जगह प्रमुदित होता है। वह प्रमुदित होता है, वह अपने कर्मोंकी पवित्रताको देखकर और भी अधिक प्रमुदित होता है ।।१६।।

इध तप्पति पेच्च तप्पति, पापकारी उभयत्थ तप्पति।
पापं मे कतन्ति तप्पति, भीय्यो तप्पति दुग्गतिङ्गति ।।१७।।

वह यहां संतप्त होता है, मरनेके बाद संतप्त होता है, पापकारी दोनों जगह संतप्त

होता है। 'मैंने पाप किया है'—यह देखकर वह संतप्त होता है। वह दुर्गति (बुरे लोकों) को प्राप्त होकर और भी अधिक संतप्त होता है।

इध नन्दति पेच्च नन्दति, कतपुञ्ञ उभयत्थ नन्दति।
पुञ्ञं मे कतन्ति नन्दति, भीय्यो नन्दति सुग्गतिंगतं ॥१८॥

वह यहां आनन्दित होता है, मरनेके बाद आनन्दित होता है। पुण्य करनेवाला दोनों जगह आनन्दित होता है। 'मैंने पुण्य किया है'—यह देखकर वह आनन्दित होता है। वह सुगति (सुखमय लोगों) को प्राप्त होकर और भी अधिक आनन्दित होता है।

इन सूत्रोंसे प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म नरक और स्वर्गकी भावनाको स्वीकार करता है। परंतु समझनेका यह एक बिलकुल ही छिछला तरीका है; क्योंकि गंभीर रूपमें बुद्धका विचार यह नहीं था। जिस विचारपर उन्होंने बराबर जोर दिया है वह यह है कि तुम अपने आचरण तथा अपनी चेतनाकी अवस्थाके द्वारा उस जगहको उत्पन्न करते हो जिसमें तुम रहते हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने अंदर उस जगत्को वहन करता है जिसमें कि वह रहता है और जिसमें वह अपना शरीर छोड़ देनेके बाद भी निवास करता रहेगा, क्योंकि बुद्धकी शिक्षाके अनुसार, ऐसा कह सकते हैं कि, शरीरके जीवन और शरीरके बाहरके जीवनमें कोई भेद नहीं है।

कुछ लोग विश्वास करते हैं, कुछ परंपराएं शिक्षा देती हैं कि शरीरसे बाहर आ जाना एक वरदान है और सभी कठिनाइयां दूर हो जाती हैं बशर्त्ते कि तुम किन्हीं विशेष धार्मिक क्रियाओंको पूरा कर दो, जैसा कि कुछ धर्मोंमें किया जाता है, और यही कारण है कि धार्मिक क्रियाओंको इतना अधिक महत्त्व भी दिया गया है कि मानों वे शरीर छोड़नेके बाद किसी सुखमय लोकमें जानेके पासपोर्ट हों। कुछ लोग तो यहांतक कल्पना करते हैं कि जैसे ही तुम शरीर छोड़ देते हो वैसे ही तुम तुरत सभी दुःख-क्लेशको भी छोड़ देते हो। परंतु यह सत्यसे कोसों दूर है और इस बातको धम्मपद यहां सूचित करता है। यहां जिसे बुरा लोक या दुर्गति कहा गया है वह उन सब मनोवैज्ञानिक स्तरोंसे, चेतनाकी उन विशिष्ट अवस्थाओंसे बना होता है जिनमें तुम बुरे कर्म करनेपर जाते हो, अर्थात् उस समय जाते हो जब तुम जो कुछ सुन्दर, शुद्ध और सुखदायी है उससे अलग भटक जाते हो और कुत्सितता तथा दुष्टताके अंदर निवास करते हो। दुष्टताके वातावरणमें निवास करनेकी अवस्थासे अधिक अवसाद उत्पन्न करनेवाली दूसरी कोई अवस्था नहीं है।

यहांपर धम्मपद जो कुछ प्रायः हलके रूपमें कहता है वह मूलतः सत्य है। स्वभावतः ही वह उन लोगोंकी बात नहीं कहता जो लोग यह सोचते हैं, "ओह, कितना भला मैं हूं, कितना उम्दा मैं हूं!" और इस तरह वे अपनेको सुखी अनुभव करते हैं। यह तो लड़कपन है। परंतु, जब तुम अच्छे हो, जब तुम उदार हो, महान्, निःस्वार्थ और दयालु हो तो तुम अपने अंदर, अपने चारों ओर एक वातावरण उत्पन्न करते हो और यह वातावरण एक प्रकारकी ज्योतिर्मय

वस्तु होती है। तुम सांस लेते हो, तुम सूर्यकी रोशनीमें एक फूलकी तरह विकसित होते हो, और तुम अब दुःख-दर्दमें अपनी ओर नहीं मुड़ते, अब तुममें न तो कोई कटुता होती है, न विद्रोह, न संताप। सहज-स्वाभाविक रूपमें वातावरण ज्योतिर्मय बन जाता है और जो हवा तुम सांसमें लेते हो वह आनंदसे भरी होती है। बस, इसी हवाको तुम सांसमें लेते हो जब कि तुम शरीरमें रहते हो या शरीरसे बाहर, जाग्रत् अवस्थामें होते हो या नींदकी अवस्थामें, जीवनमें होते हो या जीवनसे बाहर चले गये होते हो, पार्थिव जीवनसे बाहर जबतक तुम नया जीवन नहीं प्राप्त कर लेते।

सभी दोषपूर्ण कार्य चेतनापर उस हवाके जैसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं जो सुखा देती है, उस ठंडकके जैसा प्रभाव डालते हैं जो जमा देती है अथवा उस जलती लौके जैसा प्रभाव डालते हैं जो जलाकर भस्म कर देती है।

सभी अच्छे और सौजन्यपूर्ण कार्य ज्योति, विश्रांति और आनंद प्रदान करते हैं—ऐसा सूर्य-प्रकाश ले आते हैं जिसमें फूल खिलते हैं।

*

बहुंपि चे सहितं भासमानो, न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपो'व गावो गणयं परेसं, न भागवा सामञ्ञस्स होति ।।१९।।

चाहे कितनी ही संहिताओं (वेदमंत्रों) का पाठ क्यों न करे, पर वह यदि प्रमादी बनकर उनके अनुसार आचरण नहीं करता तो वह उस ग्वालेके जैसा बन जाता है जो केवल दूसरेकी गायोंको गिनता है; वह श्रवणपन (पवित्र शिष्यत्व) का भागी नहीं होता।

अप्पम्पि चे सहितं भासमानो, धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं, सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा, स भागवा सामञ्ञस्स होति ।।२०।।

चाहे बहुत कम ही संहिताओंका पाठ क्यों न करे, पर वह यदि धर्म (पवित्र शिक्षा) के अनुसार आचरण करता हो तो राग, द्वेष और मोहको त्यागकर, सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर, संपूर्ण मुक्त चित्तवाला होकर, यहां वा वहां (कहीं) किसी चीजकी चाह न रख श्रवणपन (पवित्र शिष्यत्व) का भागी होता है।

यह बात इतनी अधिक बार कही जा चुकी और दुहरायी जा चुकी है और इस बातपर जोर देना बिलकुल अनावश्यक प्रतीत होता है कि अभ्यासका एक औंस भी टनों बातचीतसे अनंतगुना अधिक मूल्यवान् है। निश्चय ही, किसी सिद्धांतकी व्याख्या करनेमें जितनी शक्ति खर्च की जाती है उसका उससे कहीं अधिक अच्छा उपयोग अपने अंदरकी किसी कमजोरी या दोषको दूर करनेमें किया जा सकता है।

अतएव इस शिक्षाकी बुद्धिमत्ताका समर्थन करनेके लिये हम प्रस्ताव करते हैं कि हम राग, द्वेष और मोहका त्याग करनेके सर्वोत्तम उपायपर विचार करें।

मोहका अर्थ है वाहरी रूपको ही सद्वस्तु समझना और क्षणभंगुर वस्तुओंको ही एकमात्र अनुकरणीय वस्तु, चिरस्थायी सत्य मानना। यहां यह वात वहुत महत्त्वपूर्ण है कि धम्मपद स्पष्ट रूपमें स्थापित करता है कि केवल इसी जगत्‌के वंधनोंसे मुक्त होना पर्याप्त नहीं है वरन् सभी जगतोंके वंधनोंसे मुक्त होना होगा।

सच्चा और उत्साही बौद्ध तुमसे कहेगा कि साधारण धर्म उन लाभोंका लोभ दिखाकर तुम्हें प्रभावित करते हैं जो उनके सिद्धांतोंका अनुसरण करनेपर तुम्हारी मृत्युके बाद उनके स्वर्गोंमें तुम्हारे सामने प्रकट होंगे। परंतु बौद्ध धर्ममें न तो स्वर्ग है न नर्क। वह तुम्हें न तो शाश्वत दंडका भय दिखाता है और न स्वर्गीय सुखभोगका प्रलोभन देता है।

इस धर्मके अनुसार विशुद्ध सत्यमें पहुंचकर तुम अपनी पूर्ण तृप्ति प्राप्त करोगे और अपने प्रयासोंका पुरस्कार प्राप्त करोगे। (क्रमशः)

***

श्रीअरविंदके साथ बातचीत

(डा. नीरदवरण द्वारा अभिलिखित)

पुराना व्यक्तित्व

शिष्य : इस जीवनमें बने हुए व्यक्तित्वको दूसरे जीवनमें चैत्य पुरुष कैसे ले जाता है?

श्रीअरविंद : मृत्युके बाद चैत्य पुरुष व्यक्तित्वके विभिन्न अंगोंको एकत्र करता है और उन्हें दूसरे जन्ममें अपने साथ ले जाता है। परंतु वही पुराना व्यक्तित्व फिरसे जन्म नहीं ग्रहण करता। साधारणतया लोग इन बातोंको समझनेमें बहुत आसानीसे गलती कर वैठते हैं, विशेषकर उस समय जब कि वे इसे मनकी भाषामें व्यक्त करते हैं, क्योंकि वह प्रक्रिया वड़ी सूक्ष्म चीज है। विगत व्यक्तित्वको महज आधारके रूपमें ग्रहण किया जाता है और चैत्य पुरुषके भावी क्रमविकासकी अपनी आवश्यकताओंके अनुसार एक नवीन व्यक्तित्वका निर्माण किया जाता है। अगर वही पुराना व्यक्तित्व फिरसे उत्पन्न हो तब तो वह ठीक अपने उसी पुराने ढंगसे कार्य करेगा और इस तरह कार्य करनेका कोई मतलब ही नहीं होगा।

*

कर्मके दायित्वसे मुक्ति

श्रीअरविंद : कर्मके दायित्वसे छुट्टी पानेके लिये तुम्हें अपने अहंसे, अर्थात् अपने मानसिक, प्राणिक और अन्य व्यक्तित्वोंसे मुक्त होना होगा।

शिष्य : यदि कोई अपने दायित्वको स्वीकार किये विना कर्म करे तो वह मुक्त हो जायगा।

श्रीअरविंद : यह इतना आसान नहीं है। तुम कोशिश करके देख सकते हो। तुम ऊपर-से कह तो सकते हो कि तुम जिम्मेदार नहीं हो, पर अपने अंदर तुम अनुभव करोगे कि तुम जिम्मेदार हो।

इस जिम्मेदारीसे मुक्त होनेके लिये तुम्हें सबसे पहले अपनी चेतनामें मुक्त होना होगा। इस मुक्तिको प्राप्त करनेके तीन उपाय हैं: (१) पुरुषको प्रकृतिसे पृथक् करके प्रकृतिसे उसकी मुक्तिको अनुभव करना; (२) विश्वसे, विश्व-प्रकृतिसे अपने आत्माको मुक्त अनुभव करना और (३) ऊर्ध्वमें स्थित परात्पर भगवान्के साथ तादात्म्य स्थापित करना—परमात्माका साक्षात्कार प्राप्त करना। तुम बौद्धोंके शून्यमें विलीन होकर भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हो।

शिष्य : क्या दूसरे और तीसरे उपायमें पुरुष साक्षी बना रहता है?

श्रीअरविंद : यह आवश्यक नहीं। पहली अनुभूतिमें ऐसा होना संभव है, क्योंकि पुरुप अपनेको प्रकृतिसे अलग कर लेता है और तब वह साक्षी हो जाता है। दूसरी अनुभूतिमें, आत्माकी अनुभूतिमें, विश्व या उनकी क्रियाओंका साक्षी होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। आत्मा किसी चीजको देखे विना अंतः-समाहित स्थितिमें बना रह सकता है। ऐसी वहुतसी अवस्थाएं हैं जिनमेंसे आत्मा गुजर सकता है।

एक प्रकारके निर्वाणका अनुभव इस योगके लिये भी जरूरी है। उस अनुभवमें यह जगत् तुम्हारे लिये ऐसा बन जाना चाहिये मानों वह कुछ भी न हो, क्योंकि अभी यह जगत् जैसा बना है वह अज्ञानका एक कार्य है। केवल उसके बाद ही तुम सच्ची सृष्टिके अंदर प्रविष्ट होकर यहां दिव्य सत्य और ज्योतिके जगत्को उत्पन्न कर सकोगे।

***

आत्मा

शिष्य : श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं: "तुम सबमें आत्माको और आत्मामें और फिर मुझमें सबको देखोगे।" यहां आत्मासे क्या तात्पर्य है?

श्रीअरविंद : यहां आत्माका अर्थ है ब्राह्मी चेतना। तुम एक चेतनाको सबमें देखते हो और एक आत्मामें सबको धृत देखते हो और फिर उस एकतमकी अनुभूतिमें ऊपर उठ जाते हो जो साकार और निराकार दोनों है और दोनोंसे परे हैं।

*

जागतिक समस्या

शिष्य : जब हम अभिव्यक्तिकी इस समस्यापर विचार करते हैं तो इससे थक जाते हैं।

श्रीअरविंद : थक जाना ही पर्याप्त नहीं है। मनुष्यमें ऐसी शक्ति होनी चाहिये कि वह या तो इस क्रमविकासमेंसे बाहर निकलकर मुक्त हो जाय अथवा किसी ऐसी चीजको उपलब्ध करके मुक्त हो जाय जो उसे क्रमविकासमें न बांधे रखे। बहुतसे योगी जब जगत्से परे आत्मा या वैश्व चेतनामें चले जाते हैं तब वे अपने द्वारा विश्वचेतनाको कार्य करने देते हैं और उन्हें अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्वका बोध नहीं होता। वे उच्चतर चेतनामें एकाग्र होते हैं या उसके साथ एकात्म हो जाते हैं और उनकी प्रकृति कभी-कभी असंयमित होकर कार्य करती है। उसी स्थितिमें तुम उन्हें गंदी भाषाका प्रयोग करते हुए देखते हो जिसके विषयमें 'द' शिकायत करते हैं। योगी आचार-व्यवहार या शिष्टताके नियमोंसे बंधे नहीं हैं। वे जड़, बाल,उन्मत्त या पिशाचकी तरह कार्य करते हैं, क्योंकि उनकी चेतना किसी ऊपरकी चीजके साथ युक्त होती है और उनकी प्रकृति स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करनेके लिये छोड़ दी गयी होती है।[1] जब कोई व्यक्ति उस उच्चतर चेतनाको प्राप्त करता है तब वह यह कहकर पश्चात्ताप नहीं करता कि "मैंने वह काम नहीं किया जो अच्छा था, मैंने वह काम कर डाला जो बुरा था।"

दूसरी कठिनाई है—अधिकांश योगी बहुत बुरे दार्शनिक होते हैं और वे अपने अनुभवोंको मनकी भाषामें नहीं व्यक्त कर सकते। परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि उन्हें कोई सच्चा अनुभव नहीं हुआ है। वे लोग जो कुछ चाहते हैं उसे पा जाते हैं और वे उसीसे संतुष्ट रहते हैं। वे अपने मानसिक विकासकी कोई परवा नहीं करते। जब तुम किसी योगीमें ऐसी चीज देखना चाहते हो जिसे पानेकी उसने कभी परवा न की तो तुम श्रीमती बेट्समैन (Batesman) की तरह निराश हो जाते हो जिन्होंने यह शिकायत की है कि महर्षि (श्री रमण महर्षि) फर्शपर ही थूक देते हैं। ऐसी क्रियाओंका आध्यात्मिकताके साथ कोई सरोकार नहीं।

***

1. "......बाहरी प्रकृति आपातदृश्य असंबद्धताका क्षेत्र बन जा सकती है, यद्यपि भीतरमें सब कुछ आत्माकी ज्योतिसे उद्भासित होता है। अतएव हम बाहरमें जड़ और निष्क्रिय बन जाते हैं, स्वयं सचल न होकर परिस्थिति-विशेष या अन्य शक्तियोंद्वारा चालित होते हैं (जड़वत्), यद्यपि भीतरमें चेतना ज्योतिपूर्ण होती है, अथवा एक बच्चेके जैसे बन जाते हैं यद्यपि भीतरमें परिपूर्ण आत्मज्ञान होता है (बालवत्), अथवा उद्दंड और अस्तव्यस्त आत्मा बन जाते हैं यद्यपि भीतरमें आत्माकी स्थिति और पवित्रता बनी रहती है (पिशाचवत्)"।

—श्रीअरविंद, 'दिव्य जीवन' (अमेरि. सं.) पृ २११

होती है जो सीमाओंके भीतर काम करती है; उसने इस आधारपर कुछ ऐसी अवधारणाओंको संगठित किया है जिन्हें वह सर्वसामान्य और विश्वव्यापी बनानेकी चेष्टा करती है; इन अवधारणाओंसे जो विरुद्ध या भिन्न है उसे वह युक्तिविरुद्ध, मिथ्या या अनिर्वचनीय मानती है। परंतु यथार्थताके अनेक स्तर हैं और जो अवधारण, माप, मानदंड एक स्तरके लिये उपयुक्त हैं वे दूसरे स्तरके लिये भी उपयुक्त हों यह आवश्यक नहीं है। हमारी दैहिक सत्ता पहले अत्यणुओंसे, अर्थात् एलैक्ट्रोनों, परमाणुओं, कोषाणुओंसे बनी है; परंतु इन अत्यणुओंके कर्मका नियम मानवदेहकी भी समस्त क्रियाओंकी व्याख्या नहीं करता; तब फिर वे अत्यणु मनुष्यके अतिभौतिक अंगोंके कर्मके समस्त नियम और प्रक्रियाकी, अर्थात् उसकी प्राणिक गतियों, मानसिक गतियों और आंतरात्मिक गतियोंकी व्याख्या तो और भी कम कर सकते हैं। शरीरमें जिन सांत अवयवोंकी रचना होती है उनके अपने चिर-अभ्यास, गुण, कर्म करनेके विशिष्ट प्रकार होते हैं; स्वयं शरीर भी एक सांत अवयवी है जो कि उन लघु सांत खंडोंका केवल एक समुदाय नहीं है जिनका कि वह अपने अवयवों, अंगों, अपने व्यापारोंके सम्पादक उपकरणोंके रूपमें उपयोग करता है। उसने अपनी एक सत्ताका विकास किया है और उसका (शरीरका) अपना एक ऐसा सामान्य नियम है जो इन अवयवों (elements) या घटकोंपरकी निर्भरतासे परे है। इसके अतिरिक्त, प्राण और मन अतिभौतिक सांत हैं जिनकी अपनी क्रियाविधि भिन्न प्रकारकी और अधिक सूक्ष्म है; और यद्यपि ये शारीरिक अंगोंको उपकरण बनाकर क्रिया करते हैं तथापि उनकी यह निर्भरता उनके निजी गुणधर्मको नष्ट नहीं कर सकती। हमारी प्राणमयी और मनोमयी सत्तामें और प्राणमयी और मनोमयी शक्तियोंमें भौतिक शरीरकी क्रियाओंसे अधिक और भिन्न कोई चीज है। परंतु, साथ ही, प्रत्येक सांत अपने यथार्थ स्वरूपमें वह अनंत है अथवा उसे अपने पीछे रखता है जिसने अपने स्थूल आकारके रूपमें उसका निर्माण किया है, ज़ो उसे धारण करता (supports) और उसका निर्देशन करता है। अतः सांतके स्वरूप, नियम और क्रिया-विधिको भी उसके ज्ञानके बिना जो कि उसके भीतर या उसके पीछे गुह्य रूपमें स्थित है, पूर्णतया नहीं समझा जा सकता। हमारे सांत ज्ञान, अवधारण, मानदण्ड अपनी सीमाओंके भीतर प्रामाणिक हो सकते हैं, परंतु वे अपूर्ण और सापेक्ष हैं। जो पदार्थ देश और कालमें विभक्त है उसके प्रेक्षणके आधारपर बना नियम अविभक्तके स्वरूप और कर्मके विषयमें निश्चितताके साथ प्रयोगमें नहीं लाया जा सकता। केवल इतना ही नहीं कि उसका देशरहित और कालरहितके विषयमें प्रयोग नहीं हो सकता, अपितु उसका ऐसे काल और देशके विषयमें भी प्रयोग नहीं हो सकता जो अनंत हैं। हमारी स्थूल सत्ताके लिये जो नियम और क्रियाविधि अनिवार्य हैं उनका हमारे भीतरके गुह्य भागके विषयमें अनिवार्य होना आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त, हमारी बुद्धियुक्ति (reason) पर प्रतिष्ठित होनेके कारण जो कुछ अवयौक्तिक (infra-rational) है उससे व्यवहार करनेमें कठिनाईका अनुभव करती है; प्राण अवयौक्तिक है और हम देखते हैं कि हमारी बौद्धिक युक्ति जब प्राणपर अपना प्रयोग करती है तो वह निरंतर उसपर एक ऐसे नियंत्रण, माप, कृत्रिम हिंसक नियमको लादती है जो प्राणको या तो मृत या स्तब्ध कर देता है या उसे ऐसे कठोर रूपों और रूढ़ियोंमें जकड़

देता है जो उसकी सामर्थ्यको पंगु और बंदी बना देते हैं; अथवा ऐसे नियंत्रण आदिका परिणाम यह होता है कि एक संभ्रम उत्पन्न होता है, प्राण विद्रोह करता है, हमारी बुद्धिने जो उसके ऊपर संस्थानों और अधिरचनाओं (superstructures) का निर्माण किया है, वे क्षीण या चकनाचूर हो जाते हैं। एक ऐसी सहज-बुद्धिकी, एक ऐसे अंतर्भासकी आवश्यकता है जो कि बुद्धिके पास नहीं है और जब वे मानसिक क्रियामें सहायता देनेके लिये स्वयं आते हैं तो बुद्धि सर्वदा उनकी बातोंको नहीं सुनती। और इससे भी अधिक कठिनाई हमारी बुद्धिके लिये अतियौक्तिकको समझने और उसके साथ व्यवहार करनेमें उपस्थित होती है। अतियौक्तिक आत्माका प्रदेश है और उसकी गतिकी विशालता, सूक्ष्मता, गंभीरता और जटिलतामें युक्ति कुंठित हो जाती है। यहांपर केवल अंतर्भास और आंतरिक अनुभव ही पथप्रदर्शक होते हैं, अथवा, यदि कोई दूसरा पथप्रदर्शक होता है तो वह वही होता है जिसकी कि अंतर्भास एक तीक्ष्ण धार है, जिससे निर्गत हुई एक प्रखर किरण है; अंतिम प्रकाश केवल अतियौक्तिक ऋत-चित्से, अतिमानस अंतर्दर्शन और ज्ञानसे ही आना चाहिये।

परंतु इस कारण अनंतके स्वरूप और कर्मके विषयमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि वे कोई एसा जादू हैं जिनमें कुछ भी युक्ति (हेतु) नहीं है; इसके विपरीत, अनंतकी संपूर्ण क्रियाओंमें एक महत्तर युक्ति है, परंतु वह मानसिक या बौद्धिक नहीं है; वह आध्यात्मिक और अतिमानसिक युक्ति है। उसमें एक न्याय, एक युक्ति है, कारण वहां संबंधों और संयोगोंको निर्भ्रांत रूपमें देखा और कार्यान्वित किया जाता है; हमारी सांत बुद्धिको जो जादू प्रतीत होता है वह अनंतका न्याय है। वह एक महत्तर युक्ति है, एक महत्तर न्याय है, कारण वह अपनी क्रियाओंमें अधिक विशाल, सूक्ष्म और जटिल है। हमारा प्रेक्षण जिन विषयोंको ग्रहण नहीं कर पाता उन सबको अनंतका न्याय ग्रहण कर लेता है; वह उनसे ऐसे परिणामोंको निकालता है जिनकी हमारे निगमन (deductions) और आगमन (inductions) प्रत्याशा नहीं कर सकते, कारण हमारे निष्कर्षों और अनुमानोंका आधार दुर्बल, अपूर्ण होता है और इसलिये वे त्रुटियुक्त और शीघ्र टूटने लायक होते हैं। जब हम किसी घटनाका प्रेक्षण करते हैं तो हम उसका निर्णय और उसकी व्याख्या उसके परिणामसे और उसके अत्यंत बाहरी घटक अवयवों (constituents), परिस्थितियों या कारणोंकी झलकसे करते हैं: परंतु प्रत्येक घटना शक्तियोंके एक पेचीदा संयोगका परिणाम होती है जिसका हम न तो प्रेक्षण करते हैं और न कर ही सकते हैं, कारण, समस्त शक्तियां हमारे लिये अदृश्य हैं,— परंतु वे अनंतकी अध्यात्म-दृष्टिके लिये अदृश्य नहीं हैं। इन शक्तियोंमेंसे कुछ तो ऐसी वास्तविकतायें (actualities) हैं जो कि किसी नवीन वास्तविकता (actuality) को उत्पन्न करनेके लिये क्रिया कर रही हैं या निमित्त बन रही हैं; कुछ शक्तियां ऐसी संभावनाओंके रूपमें हैं जो पूर्ववर्ती वास्तविकों (actuals) के समीप हैं और एक प्रकारसे उनके समुदाय (aggregate) के अंतर्गत हो जाती हैं। परंतु सर्वदा ही ऐसी नवीन संभावनाएं बीचमें घुस सकती हैं जो कि सहसा क्रियात्मक शक्यताएं बन जाती हैं और उस संयोगमें अपने-आपको जोड़ देती हैं; इस सबके पीछे ऐसे एक या अनेक नियोग (imperatives) होते हैं जिसे या जिन्हें ये संभावनाएं

वास्तविक बनाने (actualise) का प्रयत्न कर रही हैं। इसके अतिरिक्त, शक्तियोंके एक ही संयोगसे भिन्न-भिन्न परिणाम संभव हैं; उनसे क्या परिणाम निकलेगा इसका निर्धारण उस अनुमोदनसे होता है जो कि निःसंदेह प्रतीक्षा कर रहा था और सर्वदा तैयार था परंतु प्रतीत ऐसा होता है कि वह प्रत्येक पदार्थमें हस्तक्षेप और उलटफेर करनेके लिये सहसा किया जाता है: यह है विनिश्चयात्मक दिव्य नियोग (decisive divine imperative)। इस सबको हमारी यौक्तिक बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि वह अज्ञानका ऐसा उपकरण है जिसकी बहुत सीमित दृष्टि है, और इसके पास ऐसे संचित ज्ञानकी, जो कि सर्वदा बहुत निश्चित एवं विश्वसनीय नहीं है, बहुत थोड़ी पूंजी है, और इसके पास प्रत्यक्ष ज्ञानका कोई साधन नहीं है। बुद्धि और अंतर्भासमें यही भेद है कि अंतर्भास प्रत्यक्ष ज्ञानसे उत्पन्न होता है और बुद्धि एक ऐसे ज्ञानकी परोक्ष क्रिया है जो (ज्ञान) कि अज्ञात पदार्थसे कुछ चिह्नों, संकेतों और एकत्रित तथ्योंको लेकर अपना निर्माण करता है। परंतु हमारी बुद्धि और इंद्रियोंके लिये जो प्रकाशित नहीं है वह अनंत चैतन्यके लिये स्वतः प्रकाशित (self-evident) है; और, यदि अनंतकी कोई इच्छा है, तो यह ऐसी इच्छा है जो कि इस पूर्ण ज्ञानमें क्रिया करती है और पूर्ण स्वयं-प्रकाशका पूर्ण स्वतःस्फूर्त्त परिणाम है। यह इच्छा कोई ऐसी अवरुद्ध विकासशील शक्ति नहीं है जो कि जो कुछ उसने विकसित किया है उससे बद्ध हो; न यह कोई ऐसी काल्पनिक इच्छा है जो कि स्वच्छंद सनकमें भरकर शून्यमें क्रिया करती हो। यह अनंतका ऐसा सत्य है जो कि सांतके विशेषों (determinations) में अपने-आपको प्रतिष्ठित करता है।

यह स्पष्ट है कि ऐसी चेतना और इच्छाके लिये हमारी सीमित बुद्धिके निष्कर्षोंके साथ सामंजस्य रखते हुए अथवा उससे परिचित क्रियाविधिके अनुसार और हमारे निर्माण किये हुए भावों (notions) से अनुमति प्राप्त करके, अथवा किसी ऐसी नैतिक बुद्धिके आधीन होकर जो कि किसी सीमित और आंशिक शुभके लिये क्रिया करती है, कर्म करना आवश्यक नहीं है। यह चेतना और इच्छा ऐसी वस्तुओंको स्वीकार कर सकती हैं और करती हैं जिन्हें कि हमारी बुद्धि युक्तिविरुद्ध और अनैतिक मानती है, कारण वैसा करना अंतिम और पूर्ण शुभके लिये और विश्वीय प्रयोजनको कार्यान्वित करनेके लिये आवश्यक था। जो हमें कुछ आंशिक तथ्यों, उद्देश्यों और आवश्यकताओंके संबंधमें युक्तिविरुद्ध और निंदनीय प्रतीत होता है वह एक बृहत्तर उद्देश्य और समग्र तथ्यों और आवश्यकताओंके संबंधमें पूर्णतया युक्तियुक्त और अनुमोदनीय हो सकता है। बुद्धि अपनी आंशिक दृष्टिको रखती हुई निर्मित निष्कर्षोंको खड़ा करती है, उन्हें ज्ञान और कर्मके सामान्य नियमोंका रूप देनेका प्रयत्न करती है और फिर उन्हें किसी मानसिक उपायसे अपने नियममें बंध जानेको विवश करती है अथवा जिसका उसके साथ मेल न खाय उसका परित्याग कर देती है। अनंत चेतनाके ऐसे नियम नहीं होंगे: इसके बजाय उसके विशाल नैसर्गिक सत्य होंगे जो कि स्वतः ही निष्कर्ष और परिणामका नियंत्रण करेंगे, परंतु वह उन्हें (सत्योंको) परिस्थितियोंके भिन्न समूहके साथ भिन्न प्रकारसे स्वतःस्फूर्ततया अनुकूल बना देगी। इस लचीलेपन और स्वतंत्र अनुकलन (adaptation) के कारण

हमारी संकीर्ण ज्ञान-शक्तिको ऐसा प्रतीत होगा कि उसके कोई मानदंड नहीं हैं। इसी प्रकार हम अनंत सत्ताके प्रमुख नियम और शक्तिशाली कर्मका सांत सत्ताके मानदण्डोंसे निर्णय नहीं कर सकते; जो सांत सत्ताके लिये असंभव हों वे महत्तर स्वतंत्रतर परमार्थ-तत्त्वके लिये साधारण और स्वयं-प्रकाशतया स्वाभाविक अवस्थाएं और उद्देश्य हो सकते हैं। हमारी खण्डभूत मनोमयी चेतनामें जो कि खंडों (fractions) से पूर्ण संख्याओं (integers) की निर्माण करती है और उस अनंत चेतनामें जो मूलभूत तथा समग्र है और समग्र दृष्टि और ज्ञान रखती है, यही भेद है। जबतक हम बुद्धिको अपना मुख्य आधार बनानेके लिये विवश हैं तबतक मानस-चेतनाके लिये निःसंदेह यह संभव नहीं है कि वह अविकसित या अर्धगठित अंतर्भासके लिये सर्वथा आत्मत्याग कर दे; परंतु अनंत और उसकी सत्ता और उसके कर्मके विषयमें विचार करते समय हमारा यह अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि हम अपनी बुद्धिको अधिक-से-अधिक लचीला होनेके लिये विवश करें और उसे, जिसका हम विचार करनेका प्रयास कर रहे हैं उसको विशालतर अवस्थाओं और संभावनाओंके ज्ञानके प्रति खोल दें। अपने सीमित और सीमाबंधकारी निष्कर्षोंका प्रयोग असीमके विषयमें करनेसे काम नहीं चलेगा। यदि हम केवल किसी एक ही पक्षपर ध्यान दें और उसे पूर्ण मानकर व्यवहार करें, तो हम अंधे मनुष्यों और हाथीकी कहानीका उदाहरण स्थापित करते हैं; अनुसंधाताओंमेंसे प्रत्येकने हाथीके किसी एक अंगको छूआ और यह परिणाम निकाल लिया कि पूरा हाथी उस अंगके जैसा है जो उसने छूआ है। अनंतके किसी एक पक्षका अनुभव अपना प्रामाण्य रखता है; परंतु इससे हम यह सामान्य सिद्धांत नहीं बना सकते कि अनंत केवल वही है, और न शेष अनंतको उस पक्षकी सीमाओंमें देखना और अध्यात्म-अनुभवके अन्य समस्त दृष्टिकोणोंका बहिष्कार कर देना निरापद है। अनंत एक साथ एक सारतत्त्व (essentiality), एक असीम समग्रता और एक बहुत्व है; अनंतको सच्चे रूपमें जाननेके लिये इन सबको जानना होगा। केवल खण्डोंको देखना और समग्रताको लेशमात्र भी न देखना अथवा केवल खंडोंका समूह जानना, ज्ञान तो है परंतु साथ ही अज्ञान भी है। केवल समग्रताको देखना और खंडोंकी उपेक्षा करना भी एक ज्ञान है परंतु साथ ही एक अज्ञान भी है, कारण खंड समग्रसे भी महत्तर हो सकता है क्योंकि उसका संबंध परात्परतासे है। केवल सारतत्त्वको देखना, क्योंकि वह हमें सीधे परात्परकी ओर ले जाता है और समग्रता एवं खंडोंका निषेध करना चरम ज्ञानका समीपवर्ती ज्ञान है, परंतु यहां भी एक बड़ा भारी अज्ञान है। ज्ञान पूर्ण होना चाहिये और हमारी बुद्धिको इतना पर्याप्त नमनशील हो जाना चाहिये कि वह समस्त दिशाओं, समस्त पक्षोंको देख सके और उनके द्वारा उसकी खोज कर सके जिसमें वे एक हैं।

इस प्रकार यदि हम ब्रह्मके आत्मा, ईश्वर, पुरुष इन तीन पक्षोंमेंसे केवल पहलेको ही देखें तो हम उसकी निष्क्रिय शांत निश्चलतापर एकाग्रता कर सकते हैं और अनंतके क्रियात्मक सत्यको खो सकते हैं। यदि हम केवल ईश्वर पक्षको देखें तो हम क्रियात्मक सत्यको ग्रहण कर सकते हैं परंतु हम नित्यस्वरूप स्थिति और अनंत शांत निश्चलताको खो सकते हैं; तब हम केवल क्रियात्मक सत्ता, क्रियात्मक चेतना, सत्ताके क्रियात्मक आनंदका अनुभव कर सकते हैं,

परंतु शुद्ध सत्ता, शुद्ध चेतना, शुद्ध आनंदको खो सकते हैं। यदि हम केवल पुरुष-प्रकृति-भावपर एकाग्रता करते हैं तो हम केवल पुरुष और प्रकृति, आत्मा और जड़तत्त्वके द्वैतको देख सकते और उनके ऐक्यको खो सकते हैं। अनंतके कर्मके विषयमें विचार करते समय हमें उस शिष्य-की भूलसे बचना चाहिये जिसने अपने-आपको ब्रह्म मान लिया और संकीर्ण पथसे हटनेके लिये महावतकी दी हुई चेतावनीका पालन करना अस्वीकार कर दिया और जिसे हाथीने सूंडसे ऊपर उठाकर मार्गसे अलग हटा दिया। गुरुने अपने भ्रांत शिष्यसे कहा कि "निःसंदेह तुम ब्रह्म हो, परंतु महावत और हाथी भी तो ब्रह्म हैं, फिर तुमने महावत ब्रह्मके आदेशका पालन क्यों नहीं किया और हाथी ब्रह्मके मार्गसे क्यों नहीं हट गये ?" हमें सत्यकी केवल एक दिशापर बल देना और अनंतकी दूसरी समस्त दिशाओं और पक्षोंका बहिष्कार करके केवल उस एक दिशासे निष्कर्ष निकाल लेने या उसके आधारपर क्रिया करनेकी भूल नहीं करनी चाहिये। "सोऽहम्" की अनुभूति सत्य तो अवश्य है, परंतु इसके आधारपर हम तबतक सुरक्षित रूपमें नहीं चल सकते जबतक कि हम यह भी अनुभव न कर लें कि सब कुछ वही है। हमारा अपना आत्मा एक तथ्य है परंतु हमें यह भी जानना चाहिये कि दूसरे आत्मा भी हैं, जो आत्मा मुझमें है वही दूसरे प्राणियोंमें है और इसके अतिरिक्त एक वह तत् है जो कि मेरे आत्मा और दूसरे आत्मासे अतीत है। अनंत बहुमें एक है और उसका कर्म उस परा बुद्धि (प्रज्ञा)से ग्रहण किया जा सकता है जो सर्वको देखती है और एक ऐसी चेतना (awareness) के रूपमें क्रिया करती है जो अपने-आपको भेदमें प्रेक्षण करती है और अपने भेदोंका मान करती है, जिससे कि प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी अपना स्वरूप और स्वधर्म रखता है और सब समग्र क्रियामें समुचित स्थान ग्रहण करते हैं। अनंतका ज्ञान और कर्म असीम विभिन्नता रखते हुए एक (भिन्नाभिन्न) हैं। परंतु साथ ही, अनंत सत्यके दृष्टिकोणसे यह आग्रह करना एक भूल होगी कि संपूर्ण परिस्थितियोंमें कर्मकी एकरूपता (sameness) रहती है अथवा, कर्मकी विभिन्नता होती है परंतु उस विभिन्नताके पीछे कोई एकताकारी सत्य या सामंजस्य नहीं होता। यदि हम इस महत्तर सत्यको अपने आचरणमें लाना चाहें तो केवल अपने आत्मापर आग्रह करना या केवल दूसरे आत्माओंपर आग्रह करना दोनों ही भूलें होंगी। वह सबका आत्मा है जिस-पर हमें कर्मके ऐक्यकी और कर्मकी एक समग्र, अनंत प्रकारसे नमनशील परंतु समंजस विभि-न्नताकी प्रतिष्ठा करनी होगी; कारण अनंतकी क्रियाका यही स्वभाव है।

यदि हम अनंतके न्यायका अनुसरण करते हुए एक विशालतर अधिक नमनशील बुद्धिके दृष्टिकोणसे उन कठिनाइयोंपर दृष्टिपात करें जो हमारी बुद्धिके सम्मुख निरपेक्ष और सर्वव्यापी परमार्थ-तत्त्वकी अवधारणा करनेके प्रयत्नमें उपस्थित होती हैं तो हम देखेंगे कि संपूर्ण कठिनाई शाब्दिक और अवधारणात्मक है, यथार्थ नहीं है। हमारी बुद्धिने निरपेक्षके विषयमें जो अव-धारणा बनायी है वह उसपर दृष्टि डालती है और देखती है कि निरपेक्ष निर्विशेष्य (indeter-minable) होना चाहिये; इसके साथ-साथ वह विशेषों (determination) के जगत्को देखती है जो उस निरपेक्षसे उद्भूत होता है और उसमें रहता है,—कारण वह कहीं औरसे उद्भूत नहीं हो सकता और कहीं अन्यत्र नहीं रह सकता; और वह और भी अधिक तब

चकराती है जब कि उसे यह स्वीकार करना होता है,—और विशेषकर ऐसे न्याय-वाक्योंके आधारपर जो कि कठिनाईसे ही विवादग्रस्त हो सकते हैं,—कि ये समस्त सविशेष इस निर्विशेष निरपेक्षके सिवाय और कुछ नहीं हैं। परंतु विरोध तब दूर हो जाता है जब हम यह समझ जाते हैं कि निर्विशेष्यता सच्चे अर्थमें निषेधात्मक नहीं है, अनंतपर असामर्थ्यका लादना नहीं है, अपितु भावात्मक है; यह एक ऐसी स्वतंत्र स्थिति है जो कि अपने भीतर अपने विशेषोंसे किसी प्रकार भी सीमाबंधको स्वीकार नहीं करती; साथ ही यह स्थिति किसी भी दूसरे पदार्थसे उत्पन्न होनेवाले बाह्य सीमाबंधसे स्वतंत्रता है, कारण किसी भी ऐसे अनात्म-तत्त्वके अस्तित्वमें आनेकी यथार्थ संभावना नहीं है। अनंत असीम रूपसे स्वतंत्र है, अपने-आपको अनंत प्रकारसे निर्धारित करनेमें स्वतंत्र है, अपनी सृष्टियोंके हर प्रकारके सीमाबंधनकारी प्रभावसे मुक्त है। वस्तुतः अनंत सृष्टि नहीं करता, वह तो जो कुछ उसके भीतर है, उसकी यथार्थताके सारतत्त्वमें विद्यमान है उसे व्यक्त करता है; अनंत स्वयं उस यथार्थताका सारतत्त्व है और समस्त दूसरी यथार्थताएं उस एकतम यथार्थकी शक्तियां हैं। सृष्टि शब्द जो (मिट्टीसे घड़ेके समान) बनाने या बनाये जानेके अर्थमें प्रचलित है उस अर्थमें निरपेक्ष न सृष्टि करता है और न सृष्ट होता है; हम केवल इसी अर्थमें सृष्टि कह सकते हैं कि जो कुछ सत्के आत्मद्रव्य और आत्म-स्थितिमें पहलेसे ही विद्यमान है वह रूप और गतिका रूप धारण करता है, भूतभाव होता है। तथापि हमें उसकी निर्विशेष्यता (Indeterminability) पर उस विशिष्ट और भावात्मक अर्थमें बल देना चाहिये जो कि निषेधात्मक नहीं है अपितु उसके स्वतंत्र अनंत आत्मसविशेषकरणका अपरिहार्य अवबंध है; कारण उस प्रकारकी निर्विशेष्यताके बिना परमार्थ-तत्त्व एक स्थिर नित्य सविशेष होगा, अथवा एक ऐसा निर्विशेष होगा जो कि स्थिर है और अपने भीतर निहित विशेषकरणकी संभावनाओंके एक विशेष समूहसे बंधा हुआ है। समस्त सीमाबंधोंसे उसकी स्वतंत्रताको, स्वयं अपनी सृष्टिके किसी भी बंधनसे स्वतंत्रताको ही सीमाबंध नहीं बनाया जा सकता; अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि चूंकि वह समस्त सीमाबंधोंसे मुक्त है अतः वह अपने-आपको सविशेष बनानेमें सर्वथा असमर्थ है या स्वतंत्र नहीं है। ऐसा करना एक विरोध होगा, अनंत और असीमको निषेधके द्वारा निर्धारित और सीमित करना होगा। निरपेक्षके स्वभावके जो दो पक्ष हैं जिनमें एक है उसका आत्मभाव, स्वरूपस्थिति, सारतत्त्वभाव और दूसरा है आत्मसृजनात्मक या क्रियात्मक—इनके केंद्रीभूत तथ्यमें कुछ भी यथार्थ विरोध प्रवेश नहीं करता। वह केवल शुद्ध अनंत आत्म-भाव, सारतत्त्वभाव ही है जो अपने-आपको अनंत प्रकारोंसे रूपवान् कर सकता है। एक कथन दूसरेका परिपूरक है, एक दूसरेका निरास नहीं करता और न उनमें परस्पर कोई असंगति है। यह एक ही अपरिहार्य तथ्यका मानवबुद्धिके द्वारा मानव-भाषामें दो रूपोंमें कथन है।

जब हम सीधी और यथातथ (Accurate) दृष्टिसे परमार्थ-तत्त्वके सत्यका अवलोकन करते हैं तो सर्वत्र वही समन्वय दिखायी देता है। उसका जो अनुभव हमें होता है उसमें हमें एक ऐसे अनंतका ज्ञान होता है जो कि मूलतः गुणों, धर्मों और लक्षणोंके समस्त सीमाबंधसे मुक्त है, दूसरी ओर हमें एक ऐसे अनंतका ज्ञान होता है जो असंख्य गुणों, धर्मों और लक्षणोंसे परि-

पूर्ण है। यहांपर भी असीम स्वतंत्रताका वर्णन भावात्मक है, निषेधात्मक नहीं; यह उसका निषेध नहीं करता जिसे हम देखते हैं अपितु इसके विपरीत इसके लिये अपरिहार्य अववंध प्रदान करता है; यह गुण और लक्षणके रूपमें एक स्वतंत्र और अनंत आत्माभिव्यक्तिको संभव बनाता है। गुण चेतन सत् (पुरुष) की एक शक्तिका धर्म (Character) है; अथवा हम यह कह सकते हैं कि सत्की चेतना जब अपने भीतरी तत्त्वको अभिव्यक्त करती है तो वह जिस शक्तिको बाहर लाती है उसपर एक जन्मजात छाप लगा देती है जिससे कि वह पहचानी जा सके; इस जन्मजात छापको ही हम गुण या धर्म कहते हैं। साहस जैसा गुण सत्की एक ऐसी ही शक्ति है। यह मेरी चेतनाका एक विशेष धर्म है जो कि मेरी सत्ताकी एक रूपवान् हुई शक्तिको अभिव्यक्त करता है, मेरी सक्रिय प्रकृतिकी एक विशेष प्रकारकी शक्तिको प्रकट करता या सृष्ट करता है। इसी प्रकार औषधमें जो रोग-निवृत्तिकी शक्ति है वह उसका गुण है, जिस वनस्पति या धातुसे वह वनी है उसमें जन्मजात सत्की एक विशेष शक्ति है; और इस विशेषताका निर्धारण उस सत्य-संकल्प (Real-Idea) के द्वारा होता है जो कि वनस्पति या धातुमें रहनेवाली अंतर्भूत चेतनामें छिपा हुआ है; यह सत्यसंकल्प वनस्पति या धातुमें उसे बाहर लाता है जो उसकी अभिव्यक्तिके मूलमें था और अब उसकी सत्ताकी शक्तिके रूपमें शक्तिमान् होकर प्रकट हुआ है। समस्त गुण, धर्म, लक्षण चेतन सत् (जीवात्मा) की ऐसी ही शक्तियां हैं जिन्हें कि इस प्रकार निरपेक्षने अपनेमेंसे प्रकट या सृष्ट किया है। निरपेक्ष सब कुछ अपने भीतर रखता है, सबको सृष्ट[1] करनेकी स्वतंत्र शक्ति रखता है। परंतु फिर भी हम निरपेक्षका यह लक्षण नहीं कर सकते कि वह साहस-रूपी गुण या नीरोगताकी शक्ति है; हम यह भी नहीं कह सकते कि ये निरपेक्षके विशिष्ट लक्षण हैं, और न हम गुणोंके समूह-को लेकर यह कह सकते हैं कि "यह निरपेक्ष है।" परंतु साथ ही हम निरपेक्षके विषयमें यह भी नहीं कह सकते कि वह कोरा रिक्त (pure blank) है जो इन वस्तुओंको व्यक्त करने-में असमर्थ है। इसके वपिरीत, उसमें सभी सामर्थ्य हैं, संपूर्ण गुणों और धर्मोंकी शक्तियां उस-के भीतर अंतर्निहित हैं। मनकी कठिनाईका कारण यह है कि उसे एक ओर यह कहना होता है कि "निरपेक्ष या अनंत इनमेंसे कुछ भी नहीं है, ये वस्तुएं निरपेक्ष या अनंत नहीं हैं;" और दूसरी ओर उसे यह कहना होता है कि "निरपेक्ष यह सब वस्तुएं हैं, ये उस तत्से भिन्न नहीं हैं, कारण वह तत् ही एकमात्र सत् और सर्वसत् है।" यहां यह स्पष्ट है कि हम जो निर-पेक्षके विषयमें विचारद्वारा अवधारणा बनाते हैं और शब्दोंके द्वारा उसका वर्णन करते हैं, इनकी जो अत्यधिक सीमाबद्धता है वही कठिनाई उपस्थित करती है, परंतु यथार्थमें कुछ भी कठिनाई नहीं है। कारण यह कहना स्पष्टतया असंबद्ध होगा कि निरपेक्ष साहस या आरोग्य-शक्ति है, अथवा साहस या आरोग्य-शक्ति निरपेक्ष है; परंतु साथ ही यह कहना भी समान रूपमें असंबद्ध होगा कि निरपेक्षमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि वह अपने-आपको अभिव्यक्त करते हुए अपनी अभिव्यक्तिके रूपमें साहस या आरोग्य-शक्तिको सृष्ट कर सके। जब सांतका न्याय असफल

[1]सृष्टि शब्द संस्कृत भाषाके सृज् धातुसे बना है जिसका अर्थ है जो सत्ताके भीतर है उसका विमोचन या उसे प्रकट करना।

हो जाता है तब हमें साक्षात् और बंधनरहित अंतर्दृष्टिसे यह देखना होता है कि उस न्यायके पीछे अनंतके न्यायमें क्या है। तब हम यह अनुभव कर सकते हैं कि अनंत गुण, लक्षण, शक्तिमें अनंत हैं, परंतु साथ ही गुणों, लक्षणों और शक्तियोंका कोई भी समूह उसका वर्णन नहीं कर सकता।

हम देखते हैं कि निरपेक्ष आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म, सत् एक है, विश्वातीत एक है, वैश्व एक है; परंतु हम यह भी देखते हैं कि प्राणी वहु हैं और प्रत्येक प्राणी आत्माको और सदृश परंतु भिन्न प्रकृतिको रखता है। और चूंकि आत्मा और पदार्थोंका सारतत्त्व एक है अतः हमें विवश होकर यह मानना पड़ता है कि ये सब वहु वही एकतम होने चाहियें, और इससे यह परिणाम निकलता है कि वह एकतम वहु है या हो गया है। परंतु यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि जो सीमित या सापेक्ष है वह कैसे निरपेक्ष हो सकता है और किस प्रकार मनुष्य या पशु या पक्षी ब्रह्म हो सकता है? परंतु प्रश्न उठाते समय हमारा मन जो आपाततः विरोधको खड़ा करता है, वह यहां दो भूलें करता है। वह गणितीय सांत एकककी भाषामें विचार करता है जो कि सीमावंधमें एकाकी है, ऐसा एक है जो दोसे कम है और जो केवल विभाग और खंडकरणके द्वारा अथवा जोड़ एवं गुणनके द्वारा दो हो सकता है। परंतु निरपेक्षका एकत्व तो अनंत एकत्व है, वह सारतत्त्वात्मक और अनंत एकत्व ही है जो सैकड़ों, सहस्रों, लाखों, करोड़ों और अरबोंको धारण कर सकता है। ज्योतिपीय अथवा ज्योतिपीयसे अधिक संख्याओंका चाहे जितना भी ढेर क्यों न लगाओ और उनमें वृद्धि करो, वे उस एकत्वका अतिक्रमण नहीं कर सकतीं। कारण उपनिपद्की भाषामें वह गति नहीं करता परंतु जब तुम उसके पीछे चलना और उसे पकड़ना चाहोगे तो वह सदा दूर और आगे ही रहेगा। उसके विपयमें यह कहा जा सकता है कि वह अनंत एकत्व नहीं होगा यदि वह अनंत वहुत्वमें समर्थ न हो, परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि एकतम वहु है अथवा वहुके योगफलके रूपमें वह सीमित किया जा सकता है या इससे उसका वर्णन हो सकता है। इसके विपरीत वह अनंत वहु हो सकता है, कारण वहुत्वके द्वारा होनेवाले समस्त सीमावंध और वर्णनसे वह अतीत है, और साथ ही वह सांत अवधारणावाले एकत्वके सीमावंधसे भी अतीत है। वहुत्ववादका सिद्धांत सदोप है क्योंकि यद्यपि पुरुप-वहुत्व है परंतु ये वहु पुरुप एकतमपर आश्रित और साथ ही एक-दूसरेपर आश्रित हैं; उनका योगफल एकतम नहीं है और न विश्वकी समग्रता ही वह एकतम है; ये एकतमपर आश्रित हैं और उसके एकत्वसे अस्तित्व धारण करते हैं। परंतु फिर भी वहुत्व मिथ्या नहीं है; वह एकतम पुरुप है जो व्यक्तित्व भावको धारण करके इन वहु पुरुपोंमें निवास करता है[1] और ये उस एकतम सनातनमें और उसके द्वारा सनातन हैं। मानसिक युक्तिके लिये यह जानना कठिन है, क्योंकि वह अनंत और सांतमें विरोध करती है और सांतताको वहुत्वके साथ और अनंतताको एकत्वके साथ संयुक्त करती है। परंतु अनंतके न्यायमें ऐसा कोई विरोध नहीं है और एकतममें वहुकी नित्य विद्यमानता ऐसी वस्तु है जो कि पूर्णतया स्वाभाविक और संभव है।

---

[1] अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य।—छान्दोग्य ६-३-२

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि ब्रह्मकी अनंत शुद्ध स्वरूप स्थिति और अचल शांत निश्चलता है; हम यह भी देखते हैं कि ब्रह्मकी एक निःसीम गति है, एक शक्ति है, अनंतका एक क्रियात्मक आध्यात्मिक आत्मप्रसार है जो सबको अपने भीतर धारण करता है। इस प्रत्यक्षपर जो कि स्वयं प्रामाणिक और यथार्थ है, हमारी अवधारणाएं एक विरोधको थोपती हैं; यह विरोध है शांत निश्चलता एवं स्वरूप स्थिति और क्रियात्मकता एवं गतिमें, परंतु अनंतके न्याय और युक्तिके लिये ऐसा कोई विरोध नहीं हो सकता। केवल शांत निश्चल और निष्क्रिय अनंत, ऐसा अनंत जो अनंत शक्ति, अनंत गतिशक्ति (dynamics) और ऊर्जासे रहित हो, माना नहीं जा सकता, सिवाय इसके कि वह किसी एक पक्षका प्रत्यक्ष हो। शक्तिहीन निरपेक्ष, अशक्त ब्रह्म कल्पनामें नहीं आ सकता। अनंतकी गति-शक्ति अनंत ऊर्जा होनी चाहिये, निरपेक्षकी शक्ति सर्वशक्ति होनी चाहिये, ब्रह्मकी शक्ति असीम शक्ति होनी चाहिये। परंतु शांत निश्चलता, स्वरूप-स्थिति गतिके आधार हैं; सनातन अचलता अनंत चलताका आवश्यक अवबंध, क्षेत्र, यहांतक कि सारतत्त्व है; स्थाणु सत् सत्की शक्तिके विशाल कर्मका अवबंध और आधार है। जब हम इस शांत निश्चलता, स्थाणुत्व, अचलताके किसी अंशको प्राप्त कर लेते हैं केवल तभी हम उसके आधारपर ऐसी शक्ति और ऊर्जाकी प्रतिष्ठा कर सकते हैं कि जिस-की हम अपनी स्थूल चंचल अवस्थामें कल्पना नहीं कर सकते। इनमें जिस विरोधको हम खड़ा करते हैं वह मानसिक और कल्पनामूलक है; यथार्थमें ब्रह्मकी शांत निश्चलता और गतिशक्यता परस्पर परिपूरक सत्य और अपृथक्करणीय हैं। अक्षर, शांतनिश्चल ब्रह्म अपनी अनंत ऊर्जाको अपने भीतर शांत और अचल अवस्थामें धारण किये रह सकता है; कारण वह अपनी शक्ति-योंसे बंधा हुआ नहीं है, उनके आधीन या उनका उपकरण नहीं है; वह उनपर अधिकार करता है, उन्हें उन्मुक्त करता है, नित्य और अनंत कर्ममें समर्थ है, थकता नहीं है और न उसे रुकने-की आवश्यकता है; परंतु फिर भी उसके कर्म और गतिमें सर्वदा अंतर्निहित उसकी शांत अच-लता उसके कर्म और गतिके कारण क्षणभरके लिये भी विचलित, विकृत या परिवर्तित नहीं होती। ब्रह्मकी उपद्रष्ट्री शांत निश्चल नीरवता प्रकृतिकी संपूर्ण ध्वनियों और क्रियाओंके कण-कणमें विद्यमान है। ये वस्तुएं हमारे लिये समझनेमें कठिन हो सकती हैं, क्योंकि हमारी अपनी उतलीय सांत सामर्थ्य दोनों दिशाओंमें सीमित है और हमारी अवधारणाएं हमारे सीमा-बंधोंके आधारपर बनी हैं; परंतु यह सरलतासे देखा जा सकता है कि ये सापेक्ष और सांत अवधारणाएं निरपेक्ष और अनंतके विषयमें प्रयोगमें नहीं लायी जा सकतीं।

अनंतके विषयमें हमारी अवधारणा यह है कि वह रूपरहित (formlessness) है, परंतु हम अपने चारों ओर रूप-ही-रूप देखते हैं और ब्रह्मके विषयमें यह स्वीकार किया जा सकता है और किया गया है कि वह एक साथ रूपवान् और रूपरहित दोनों है। कारण यहां भी जो विरोध है वह केवल आपाततः ही है, यथार्थ नहीं है, रूपरहितका अर्थ रूपवान् होनेकी शक्तिका अभाव नहीं है अपितु अनंतका ऐसा अवबंध है कि जिसके कारण ही वह स्व-तंत्रतापूर्वक रूप धारण कर सकता है। क्योंकि इसके बिना सांत विश्वमें केवल एक ही रूप होगा अथवा संभव रूपोंकी एक स्थिर संख्या होगी या उनका एक समहविशेष होगा। नी-

रूपत्व परमार्थतत्त्वके आध्यात्मिक सारतत्त्वका, अध्यात्म-द्रव्यका विशिष्ट धर्म है; समस्त सांत यथार्थताएं उस द्रव्यकी शक्तियां, रूप, आतमरूपकरण हैं; ब्रह्म रूपरहित और नामरहित है, परंतु इसी कारण सत्ताके समस्त नाम और रूपोंको व्यक्त करनेमें समर्थ है। रूप अभिव्यक्तियां हैं, शून्यसे मनमाने आविष्कार नहीं हैं; कारण रेखा और रंग, संहति और रूपांकन जो कि रूपके सारभूत हैं, अपने भीतर सदा एक अर्थको रखते हैं; और यह कहा जा सकता है कि वे एक अदृष्ट यथार्थताके जो कि दृश्य बनायी गयी है, गूढ़ मूल्य और अर्थ हैं। यही कारण है कि जो आकृति, रेखा, रंग, संहति, संघटन उसे समूर्त्त कर सकते हैं जो इनके विना अदृष्ट होगा, उसका ऐन्द्रियक बोध करा सकते हैं जो इनके विना इन्द्रियागोचर होगा। रूपके विषयमें यह कहा जा सकता है कि वह नीरूपका अंतर्जात देह, अनिवार्य आत्म-प्रकाशन है; और यह केवल बाहरी रूपोंके संबंधमें ही सत्य नहीं है अपितु मन और प्राणकी उन अदृष्ट रचनाओंके संबंधमें भी सत्य है जिन्हें कि हम केवल अपने विचारके द्वारा ग्रहण करते हैं और उन संवेद्य रूपोंके संबंधमें भी सत्य है कि जिनका ज्ञान आंतरिक चेतनाको केवल सूक्ष्म दृष्टिसे हो सकता है। नाम अपने गहरे अर्थमें, वह शब्द नहीं है कि जिसके द्वारा हम पदार्थका वर्णन करते हैं, अपितु यथार्थताके उन शक्ति, गुण, धर्मका समूह है जिन्हें कि पदार्थोंका रूप समूर्त्त करता है और जिन्हें हम एक निर्देशक ध्वनिके द्वारा, एक ज्ञेय नामके द्वारा संगृहीत करनेका प्रयत्न करते हैं। इस अर्थमें हम यह कह सकते हैं कि 'नाम' नामदेव है; देवोंके जो गुह्य नाम हैं वे उनकी सत्ताकी शक्तियां, गुण और धर्म हैं जिन्हें कि हमारी चेतनाने ग्रहण किया और अवधारणागम्य बनाया है। अनंत नामरहित है, परंतु उस नाम-राहित्यमें समस्त संभव नाम, देवताओंके नाम, समस्त यथार्थताओंके नाम और रूप पूर्वदृष्ट और पूर्वकल्पित हैं, कारण वे सर्वसत्तामय (All-Existence) में निगूढ़ और अंतर्निहित हैं।

इन विचारोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनंत और सांतका सह-अस्तित्व, जो कि वैश्व सत्‌का स्वभाव ही है, दो विरोधियोंका निकट अवस्थान या एक-दूसरेके भीतर समावेश नहीं है, अपितु ऐसा स्वाभाविक और अनिवार्य है जैसा कि सूर्योंके साथ प्रकाश और उष्णताका संबंध है। सांत अनंतका सामनेका पक्ष और आत्म-निर्धारण (self-determination) है; कोई भी सांत स्वयं अपने द्वारा अपनेमें अपना अस्तित्व नहीं रख सकता; वह अनंतसे सत्ता धारण करता है और यह इस कारण कि वह अनंतके साथ सारात्मना एक है। कारण, अनंतसे हमारा अभिप्राय केवल कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो कि देश और कालमें असीम आत्म-विस्तार रखता हो, अपितु ऐसा तत्त्व है जो देशरहित और कालरहित भी है, एक स्वयं सत् अनिर्देश्य और असीम है, जो अपने-आपको अत्यणु (अणोरणीयान्) और अति महान् (महतो महीयान्)में, कालके सूक्ष्मतम क्षणमें, देशके सूक्ष्मतम बिंदुमें, क्षणिक घटनामें व्यक्त कर सकता है। सांतके विषयमें ऐसा माना जाता है कि वह अविभक्तका विभाग है, परंतु बात ऐसी नहीं है; कारण यह विभाग केवल आपाततः ही है; सीमानिर्धारण तो है परंतु यथार्थ पार्थक्य संभव नहीं है। जब हम वृक्षादि पदार्थको स्थूल आंखोंसे न देखकर अंतर्दृष्टि और अंतरिन्द्रियसे देखते हैं तो हमें एक ऐसे अनंत एकतम परमार्थ-तत्त्वका ज्ञान होता है जो कि वृक्षादि पदार्थका संघटन करता है, उस-

के प्रत्येक परमाणु और अणुमें व्याप्त है, अपनेसे उनकी रचना करता है, संपूर्ण प्रकृतिका, भूत-भावकी क्रियाविधिका, अंतःस्थ ऊर्जाकी क्रियाका निर्माण करता है। इन समस्त पदार्थोंके रूपमें (या ये सब पदार्थ) वही है, वही अनंत, वही परमार्थ-तत्त्व है। हम उसे इस प्रकार अवि-भक्त रहते हुए विस्तृत होते और संपूर्ण पदार्थोंको संयुक्त रखते हुए देखते हैं कि जिससे कोई भी पदार्थ यथार्थमें पृथक् नहीं है और न दूसरे पदार्थोंसे पृथक् है। गीता कहती है कि "वह भूतोंमें अविभक्त है और फिर भी विभक्त जैसा है।" इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ वही अनंत है और दूसरे समस्त पदार्थोंके साथ भी जो कि उस अनंतके ही नाम, रूप और शक्तियां हैं, सारतत्त्वमें एक है।

संपूर्ण विभागों और विभिन्नताओंमें यह अदम्य ऐक्य अनंतका गणित है जिसका संकेत उप-निषद्के इस वचनमें किया गया है:—"यह पूर्ण है और वह पूर्ण है; पूर्णमेंसे पूर्ण घटानेसे पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।"[1] कारण परमार्थ-तत्त्वके अनंत आत्मगुणनके विषयमें भी यह कहा जा सकता है कि समस्त पदार्थ वह आत्म-गुणन हैं। एकतम ब्रह्म बहु होता है, परंतु ये समस्त बहु वही तत् हैं जो पहले ही एकतम था और सर्वदा एकतम है और बहु होनेपर भी एकतम ही बना रहता है। सांतके प्रकट हो जानेसे एकतम विभक्त नहीं हो जाता, कारण वह एक-तम अनंत ही हमें बहु सांतके रूपमें दिखायी देता है। सृष्टि अनंतमें कुछ भी नहीं जोड़ती; सृष्टिके हो जानेपर भी वह जो पहले था वही रहता है। अनंत पदार्थोंका योगफल नहीं है, यह वह (तत्) है जो समस्त पदार्थ है और साथ ही उनसे अधिक भी है। यदि अनंतका यह न्याय हमारी सांत बुद्धिकी अवधारणाओंका विरोध करता है तो इसका कारण यह है कि वह इस बुद्धिसे अतीत है और सीमित प्रपंचद्वारा प्रदत्त सामग्रीको अपना आधार नहीं बनाता, अपितु परमार्थ-तत्त्वका परिग्रहण करता है और संपूर्ण प्रपंचके सत्यको परमार्थ-तत्त्वके सत्यके प्रकाशमें देखता है। वह उन्हें पृथक् प्राणी, गतियां, नाम, रूप, पदार्थ नहीं देखता; कारण वे पृथक्-पृथक् नहीं हो सकते, क्योंकि वे ऐसे तभी हो सकते हैं यदि वे शून्यमें होनेवाले प्रपंच हों, ऐसे पदार्थ हों जिनका कि कोई एक सर्वसामान्य आधार या सारतत्त्व न हो, मूलगत संबंधसे रहित हों, जिनका संबंध केवल सह-अस्तित्वका और व्यावहारिक हो, जो ऐसी यथार्थताएं न हों जिन-का कि अस्तित्व एक ही मूलके द्वारा है। और इन्हें जो स्वाधीन माना जा सकता है, ये जो अपने बाहरी या आंतरिक रूप और गतिकी स्वाधीनतामें सुरक्षित हैं, यह केवल इस कारण है कि ये अपने जनक अनंतपर निरंतर निर्भर करते हैं, उस एकतम एकसम (Identical) से निगूढ़ तादात्म्य रखते हैं। वह एकसम (Identical) उनका मूल, उनके रूपका कारण, उनकी विभिन्न शक्तियोंकी एकमात्र शक्ति, उनका उपादान द्रव्य है।

वह एकसम (Identical) हमारे विचारोंके अनुसार अक्षर, अपरिवर्तनीय है; वह नित्य एकरूप (same) है, कारण यदि वह परिवर्तनके अधीन हो जाता है अथवा भेदोंको अंगीकार

---

[1]पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदिच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥—ईशोपनिषद्, शांतिपाठ।

करता है तो वह एकसा (Identical) नहीं रहता; परंतु हमें जो सर्वत्र दिखायी देता है वह है अनंत प्रकारसे विभिन्न होनेवाला मूलभूत एकत्व और यही प्रकृतिका स्वभाव-धर्म जान पड़ता है। आधारभूत शक्ति एक है, परंतु वह अपनेसे असंख्य शक्तियोंको व्यक्त करती है; आधारभूत द्रव्य एक है, परंतु वह अनेक विभिन्न द्रव्यों और लाखों असदृश्य पदार्थोंको विकसित करता है; मन एक है परंतु वह अनेक ऐसे मानसिक अवस्थाओं, मानस विरचनाओं (formations), विचारों, प्रत्यक्षोंका रूप धारण करता है जो एक-दूसरेसे भिन्न होते हैं और दूसरोंके साथ सामंजस्य या संघर्प करते हैं, प्राण एक है, परंतु प्राणके रूप असदृश और असंख्य हैं। मनुष्य प्रकृत्या एक है, परंतु उसकी भिन्न-भिन्न जातियां हैं, और प्रत्येक व्यक्ति अपना स्व-तंत्र अस्तित्व रखता है और दूसरोंसे एक प्रकारसे असदृश है। प्रकृति एक ही वृक्षकी प्रत्येक पत्तीमें भिन्न-भिन्न रेखायें रखनेका आग्रह करती है: उसके भेदको यहांतक बढ़ाया है कि ऐसा देखा गया है कि एक मनुष्यके अंगूठेकी रेखायें प्रत्येक दूसरे मनुष्यके अंगूठेकी रेखाओंसे भिन्न होती हैं, यहांतक कि वह केवल उस भेदसे ही पहचाना जा सकता है। परंतु फिर भी मूल-भूत रूपसे समस्त मनुष्य एक समान हैं, और उनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। एकत्व या अभिन्नत्व (sameness,) सर्वत्र है, भिन्नत्व सर्वत्र है; अंतःस्थ परमार्थ-तत्त्वने विश्वको इस सिद्धांतपर बनाया है कि एक बीज लाखों भिन्न-भिन्न रूपोंमें विकसित हो सकता है; **(एकं बीजं बहुधा यः करोति)**। परंतु यह भी अनंतका न्याय है। चूंकि परमार्थ तत्त्वका सारतत्त्व अपरि-वर्तित (अक्षर) रहता हुआ एक रूप रहता है अतः वह सुरक्षित रूपसे रूप, धर्म और गतिके इन असंख्य भेदोंको धारण कर सकता है; कारण यदि वे भेद अरबोंगुना बढ़ जायं तो इससे उनके मूलमें विद्यमान नित्य एकसम (Identical) की अक्षरतापर प्रभाव नहीं पड़ेगा। चूंकि आत्मा अथवा ब्रह्म पदार्थों और प्राणियोंमे सर्वत्र एक है, इसलिये प्रकृति अनंत विभेदकरणकी इस विलासिताके लिये सार्थ है। यदि यह सुदृढ़ आधार जिसका कि परिणाम यह होता है कि कुछ भी परिर्वातित न होते हुए सब कुछ परिर्वातित हो जाता है, न हो तो प्रकृतिकी समस्त क्रियायें और सृष्टियां इस लीलामें छिन्न-भिन्न और अस्तव्यस्त हो जायंगी। उसकी विसंवादी गतियों और सृष्टियोंको एक साथ बांधे रखनेवाला कुछ भी नहीं होगा। एकसमकी अक्षरता परिवर्तनरहित एकरूपताकी कोई ऐसी एकस्वरता (Monotone) नहीं है कि जिसमें विभिन्नता-की सामर्थ्य न हो। यह सत्की एक ऐसी अपरिवर्तनीयता है कि जो सत्को अनंत रूप प्रदान करनेमें समर्थ है किंतु जिसे कोई भी भेदकरण नष्ट, विकृत या क्षीण नहीं कर सकता। आत्मा कीट, पक्षी, पशु और मनुष्य हो जाता है, परंतु इन सब उत्परिवर्तनों (mutations) में वह सर्वदा वही आत्मा रहता है, कारण यह वह एकतम तत्त्व है जो कि अपने-आपको अनंत प्रकारसे अंतरहित भेदोंमें व्यक्त करता है। हमारी उत्तलीय बुद्धि यह निष्कर्प निकालनेको उन्मुख रहती है कि विभिन्नता मिथ्या, केवल प्रतीतिमात्र हो सकती है; परंतु यदि हम कुछ अधिक गहराईमें दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि यथार्थ विभिन्नता यथार्थ ऐक्यको व्यक्त करती है, उसे उसकी अत्यधिक क्षमतामें प्रदर्शित करती है, जो कुछ वह अपने स्वरूपमें हो सकती है और है उसे प्रकाशित करती है, उसके श्वेत रंगके भीतर जो अनेक रंग मिले हुए छिपे पड़े रहते हैं उन्हें

वहांसे उन्मुक्त करती है। एकत्व अपने-आपको अनंत प्रकारसे उसमें पाता है जो अपने एकत्व-से भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है, परंतु यथार्थमें वह ऐक्यसे भ्रष्ट नहीं है, अपितु ऐक्यका अक्षय विविध प्रदर्शन है। यह चमत्कार है, विश्वकी माया है, परंतु अनंतकी आत्मदृष्टि और स्वानुभूतिके लिये पूर्णतया न्यायसंगत, स्वाभाविक और साधारण बात है।

कारण, ब्रह्मकी माया अनंत प्रकारसे विभेदशील एकत्वका जादू और न्याय दोनों है। यदि सीमाबद्ध एकत्व और एकरूपत्व (sameness) का केवल कोई कठोर एकस्वरत्व (Monotone) ही हो तो युक्ति और न्यायके लिये कभी अवकाश नहीं होगा, कारण न्यायका कार्य है संबंधोंको यथोचित रूपमें देखना; युक्तिका उच्चतम कार्य है ऐसे एक द्रव्य, एक नियम-को अर्थात् ऐसे संयोजक अंतर्हित यथार्थ तत्त्वको खोज निकालना जो बहु, विभिन्न, असंयत और विसंवादियोंको जोड़नेवाला और उनका एकीकरण करनेवाला हो। संपूर्ण विश्वसत्ता इन दो सीमाओंके बीचमें गति करती है, एकतमका विभिन्नताकरण और बहु एवं विभिन्नका एकीकरण; और यह इस कारण होना चाहिये क्योंकि एकतम और बहु अनंतके मूलभूत पक्ष हैं। कारण, दिव्य आत्म-ज्ञान और सर्वज्ञान अपनी अभिव्यक्तिमें जिसे प्रकट करता है वह उसके स्वरूपका सत्य होना चाहिये और उस सत्यकी क्रीड़ा उसकी लीला है।

अतः ब्रह्मकी विश्वात्मक सत्ताकी क्रिया जिस प्रकार होती है उसका यही न्याय है और मायाकी अनंत बुद्धिकी आधारभूत क्रिया यही है। जैसा ब्रह्मकी सत्ताके संबंधमें है वैसा ही उसकी चेतना अर्थात् मायाके संबंधमें भी है। माया अपने बनाये किसी सांत प्रतिबंधसे अथवा अपने कर्मके किसी एक नियम या अवस्थासे बंधी हुई नहीं है। वह एक साथ ऐसी अनेक वस्तुएं हो सकती है, ऐसी अनेक समन्वित (coordinated) गतियोंको रख सकती है जो कि सांत बुद्धिको परस्पर-विरोधी प्रतीत हो सकती हैं: वह एक है परंतु असंख्य प्रकारसे विविधा है, अनंत प्रकारसे नमनशीला है, अक्षय्यतया अनुकूलनशीला है। माया सनातन और अनंत ब्रह्मकी परा और विश्वात्मिका चेतना और शक्ति है: चूंकि वह स्वभावतः निर्बंध और निःसीम है अतः एक ही कालमें चेतनाकी अनेक अवस्थाओंको, अपनी शक्तिकी अनेक प्रवृत्तियोंको सृष्ट कर सकती है, और ऐसा करनेपर सर्वदा वही चित्-शक्ति बनी रहती है। वह एक साथ विश्वातीता, विश्वात्मिका और व्यक्तिरूपा है; वह परम विश्वातीत सत्पुरुष है जो अपने-आपको सर्वसत्तामय, विश्वीय आत्मा, विश्वीय प्रकृतिकी चित्-शक्ति जानता है और साथ ही अपने-आपको समस्त भूतोंमें व्यक्तिगत सत्ता और चेतना अनुभव करता है। व्यक्तिगत चेतना अपने-आपको सीमित और पृथक् देख सकती है, परंतु अपने सीमाबंधको दूर हटा सकती है और अपने-आपको वैश्व और फिर विश्वातीत जान सकती है। यह इस कारण है कि इन सभी स्तरों और अवस्थाओंमें अथवा उनकी तहमें एक ही त्र्येक (triune) चेतना त्रिविध अवस्थामें विद्यमान है। अतः एकतमके इस प्रकार अपने-आपको त्रिविध रूपोंमें देखने और अनुभव करने-में कुछ भी कठिनाई नहीं है; ऐसा वह विश्वातीत सत्तामें ऊपरसे, वैश्व सत्तामें नीचे मध्यसे अथवा व्यक्तिगत चेतन सत्तामें नीचेसे देख सकता है। इसे स्वाभाविक और न्यायसंगत स्वीकार किये जानेके लिये केवल इतना ही मानना आवश्यक है कि एकतम सत्की चेतनाकी अनेक

यथार्थ अवस्थाएं हो सकती हैं और यह उस सत्के लिये, जो कि स्वतंत्र और अनंत है और किसी भी अकेली अवस्थासे बद्ध नहीं किया जा सकता, असंभव नहीं हो सकता। जो चेतना अनंत है उसमें आत्मविभिन्नकरणकी स्वतंत्र शक्ति स्वाभाविक रूपसे विद्यमान होनी चाहिये। यदि चेतनाकी विविध अवस्थाकी संभावनाको स्वीकार कर लिया जाता है तो उसकी अवस्थाकी विभिन्नकरणकी विधियोंपर कोई सीमा नहीं लगायी जा सकती यदि एकतम अपने-आपको एक साथ इन सबमें जानता हो; कारण एकतम और अनंतको इस प्रकारकी विश्वात्मक चेतना होनी ही चाहिये। इस विपयपर और अधिक विचार करनेपर केवल एक कठिनाई सुलझ सकती है; वह है हमारी जैसी सीमित और निर्मित चेतनाकी जो अज्ञानमयी अवस्था है, उसके अनंत आत्मज्ञान और सर्वज्ञानके साथ संबंधोंको समझनेमें उपस्थित होनेवाली कठिनाई।

अनंत चेतनाकी जिस दूसरी संभावनाको हमारे लिये मानना आवश्यक है वह है समग्र असीम चेतना और ज्ञानके भीतर अधीनस्थ (subordinate) गतिके रूपमें, उसकी आत्म-परिसीमनकी या द्वितीयक (secondary) आत्म-विरचनकी शक्ति; कारण अनंतके भीतर जो आत्म-सविशेषकरणकी सामर्थ्य है उसका यह आवश्यक परिणाम है। आत्म-सत्ता (self-being) के प्रत्येक आत्म-विशेष (self-determination) को अपने आत्म-सत्य (स्वधर्म) और स्वभावका अपना निजी ज्ञान होना चाहिये; अथवा यदि हम चाहें तो इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि उस विशेषके भीतर विद्यमान जो सत् है उसे इस प्रकारका आत्म-ज्ञान होना चाहिये। अध्यात्म-व्यक्तित्वका अर्थ यह है कि प्रत्येक जीवात्मा आत्मदर्शन और सर्वदर्शनका केंद्र है; इस दर्शनकी परिधि, जिसे कि हम सीमारहित परिधि कह सकते हैं, सबके लिये एक हो सकती है किंतु केंद्र भिन्न हो सकता है। यह केंद्र इस प्रकारका नहीं होगा जैसा कि किसी दैशिक वृत्तके भीतर दैशिक विंदुका स्थान निर्धारित होता है, अपितु एक मानसिक केंद्र होगा जो कि दूसरे केंद्रोंके साथ इस कारण संबद्ध है कि सब विविधतया सचेतन वहु एक ही वैश्व सत्में सह-अस्तित्व रखते हैं। जगत्के भीतर प्रत्येक जीव एक ही जगत्को देखेगा, परंतु अपनी निजी आत्म-सत्ता (self-being) से और अपने स्वभावके निजी प्रकारके अनुसार देखेगा; कारण प्रत्येक जीव अनंतके उस सत्यको अभिव्यक्त करेगा जो उस (जीव) का विशेप रूपसे अपना है; वह आत्म-विशेष (self-determination) के अपने निजी प्रकारको और वैश्व विशेषों (cosmic determinations) से मिलनेके अपने निजी प्रकारको अभिव्यक्त करेगा। निःसंदेह विभिन्नतामें एकताके नियमके कारण उसका दर्शन मूलतः वही होगा जो कि दूसरोंका, परंतु फिर भी वह अपने स्वकीय भेदको विकसित करेगा, जैसा कि हम देखते हैं कि सभी मनुष्य उन्हीं विश्व-पदार्थोंको एक ही मानव प्रकारसे जानते हैं, परंतु फिर भी सर्वदा अपने व्यक्तिगत भेदको रखते हुए जानते हैं। यह आत्म-परिसीमन मूलगत नहीं होगा, अपितु एक सर्वसामान्य विश्वात्मकता या समग्रताका एक व्यक्तिगत विशिष्टीकरण (specialisation) होगा। जिस व्यक्तिने आध्यात्मिक स्थितिको प्राप्त किया है वह एकतम सत्यके अपने स्वकीय केंद्रसे और अपनी आत्म-प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार कर्म करेगा, परंतु एक सर्वसामान्य आधारपर स्थित होकर और अन्य आत्मा और अन्य प्रकृतिके प्रति अंधा होकर नहीं।

यह एक ऐसी स्थिति है जब कि चेतना पूर्ण ज्ञानके साथ अपने कर्मको सीमित करती है, यह अज्ञानकी क्रिया नहीं है। परंतु इस व्यक्तिगत विशिष्टीकरणात्मक आत्मपरिसीमनके अतिरिक्त अनंतकी चेतनामें विश्वात्मक परिसीमनकी सामर्थ्य भी होनी चाहिये; वह अपने कर्मको इस प्रकार सीमित करनेमें समर्थ होनी चाहिये जिससे कि वह किसी निश्चित जगत् या विश्वकी आधार-स्थापना कर सके और उस जगत्को उसकी अपनी व्यवस्था, समंजसता, आत्मरचनामें बनाये रखे; कारण, विश्वकी सृष्टिके लिये यह आवश्यक है कि अनंत चेतना एक ऐसा विशेष रूप धारण करे जो कि उस जगत्पर अधिष्ठित हो और जो उस सृष्टिके लिये आवश्यक न हो उसे हस्तक्षेप करनेसे रोक रखे। इसी प्रकार मन, प्राण या भौतिक तत्त्व-जैसी किसी शक्तिके स्वतंत्र कर्मकी सृष्टिका अवलंबन इसी प्रकारका कोई आत्म-परिसीमनका तत्त्व होना चाहिये। यह नहीं कहा जा सकता कि चूंकि अनंत असीम है अतः ऐसी गति उसके लिये असंभव है; इसके विपरीत, उसकी अनंत शक्तियोंमेंसे यह भी उसकी एक शक्ति होनी चाहिये; कारण उसकी शक्तियां भी असीम हैं। परंतु दूसरे आत्म-विशेषों, दूसरे सांत आत्मनिर्माणोंके समान यह भी पार्थक्य या यथार्थ विभाग नहीं होगा, कारण संपूर्ण अनंत चेतना उसके सब ओर, पीछे और उसके अवलंबनरूप होगी; वह विशेष गति भी न केवल अपना अपितु, सारात्मना, उस सबका जो उसके पीछे था आभ्यंतरिक ज्ञान रखेगी। ऐसा अनंतकी समग्र चेतनामें अनिवार्य रूपसे होगा; परंतु हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि इस प्रकारका आभ्यंतरिक ज्ञान भी जो कि यद्यपि सक्रिय नहीं है, अपने-आपको सीमांकित करता हुआ और साथ ही अभीतक अविभक्त रहता हुआ, सांतकी गतिकी समग्र आत्मचेतनामें भी रह सकता है। इतना वैश्व या व्यक्तिगत सचेतन आत्म-परिसीमन स्पष्टतया अनंतके लिये संभव होगा और एक विशालतर बुद्धि इसे उसकी अन्यतम अध्यात्म-संभावनाओंमें स्वीकार कर सकती है। परंतु इस आधारपर किसी ऐसे विभाग या अज्ञानयुक्त पार्थक्य अथवा बंधनकारी एवं अंधकारी सीमाबंधकी, जैसा कि हमें अपनी चेतनामें दिखायी देता है, व्याख्या अभीतक हमें नहीं मिली है।

परंतु अनंत चेतनाकी तीसरी सामर्थ्य या संभावनाको, अपनेमें तल्लीन होने, निमग्न होनेकी, ऐसी अवस्थामें पहुंचनेकी सामर्थ्यको माना जा सकता है जिसमें कि आत्म-संवित् रहती तो है परंतु न ज्ञानरूपसे रहती है और न सर्वज्ञान रूपसे। उस स्थितिमें सब शुद्ध आत्म-संवित् में अंतर्लीन होगा और ज्ञान एवं आंतरिक चेतना भी शुद्ध सत्में विलीन होंगे। यह वह ज्योतिर्मयी स्थिति है जिसे हम निरपेक्ष अर्थमें अतिचेतना कहते हैं; परंतु वास्तवमें, जिसे हम अतिचेतन कहते हैं उसका अधिकतर भाग वह नहीं है अपितु वह केवल उच्चतर चेतन है, ऐसा तत्त्व है जो कि स्वयं अपने लिये सचेतन है, केवल हमारे ज्ञानके सीमित स्तरके लिये अतिचेतन है। और फिर, यह आत्म-निमग्नता, यह अनंतकी निद्रा ज्योतिर्मयी न होकर अंधकारमयी है, ऐसी अवस्था है जिसे हम निश्चेतना कहते हैं; कारण अनंतकी सत्ता वहां है यद्यपि वहां निश्चेतनाकी प्रतीति होनेके कारण वह हममें सत् प्रतीत होनेके बजाय अनंत असत् प्रतीत होता है। उस आपाततः असत्में आत्म-विस्मृत आभ्यंतरिक चेतना और शक्ति विद्यमान हैं, कारण निश्चेतनकी ऊर्जाके द्वारा एक व्यवस्थित विश्वकी सृष्टि होती है; यह सृष्टि आत्म-निमग्नताकी निद्रामें की

जाती है; यहां शक्ति (force) स्वतःचालित और आपाततः अंधताके साथ इस प्रकार क्रिया करती है मानों वह निद्रित अवस्थामें हो, किंतु फिर भी अनंतके सत्यकी अनिवार्यता और सामर्थ्य (power) उसके साथ रहती हैं। हम एक पग और आगे बढ़ाकर यह कह सकते हैं कि आत्म-निमग्नताका एक विशेष प्रकारका या सीमित और आंशिक कर्म अनंतके लिये संभव है; यह ऐसा कर्म है जो अनंतके उस आनंत्यका नहीं है जो सर्वदा असीम रूपसे अपनेमें केंद्रित रहता है, अपितु उसका है जो एक विशेष अवस्थामें या व्यक्तिगत अथवा वैश्व आत्म-विशेषमें सीमित हो गया है; ऐसी दशामें हमें उस संकेंद्रित अवस्थाकी व्याख्या मिल जाती है जिसके द्वारा वह अपनी सत्ताके एक पक्षका पृथक् रूपसे ज्ञान करता है। ऐसी अवस्थामें, दो मूलभूत अवस्थाएं हो सकती हैं, जैसे निर्गुण अवस्था जो सगुणके पीछे स्थित होती है और अपनी शुद्धि और अचलतामें तल्लीन होती है, और शेष पर्देके पीछे रोका हुआ होता है और उस विशेष अवस्थाके भीतर नहीं लिया जाता। इसी प्रकार हम चेतनाकी उस अवस्थाकी भी व्याख्या कर सकते हैं जो कि सत्ताके केवल एक क्षेत्रका या उसकी एक गतिका ज्ञान रखती है और शेष सबका ज्ञान पीछे और आवृत रहता है अथवा, क्रियात्मक एकाग्रताकी जागृत निद्राके द्वारा उस विशिष्ट या सीमित ज्ञानसे, जो कि केवल अपने एक ही क्षेत्र या गतिमें संलग्न है, विच्छिन्न हो गया है। अनंत चेतनाकी समग्रता वहां रहेगी, विनष्ट नहीं होगी, पुनः प्राप्तव्य होगी, किंतु स्पष्टतया सक्रिय नहीं होगी, वह वहां गूढ़ भावसे (by implication), अंतर्निहिततया (by inherence) अथवा सीमित ज्ञानको उपकरण बनाकर क्रिया करेगी, न कि अपनी अभिव्यक्त सामर्थ्य और उपस्थितिके साथ। यह स्पष्ट है कि ये तीनों शक्तियां अनंत चेतनाकी क्रियात्मकताके लिये संभव मानी जा सकती हैं, और जिन अनेक प्रकारोंसे वे क्रिया कर सकती हैं उन सबपर विचार करके ही हम मायाकी क्रियाओंके रहस्य सूत्रको पा सकते हैं।

इससे, आनुषंगिक रूपसे, उस विशेष विरोधपर प्रकाश पड़ता है जो कि हमारे मनोंने शुद्ध चेतना, शुद्ध सत्ता, शुद्ध आनंदके और उनके अतिशय सक्रियता, बहुविध उद्योगशीलता (application) और अनंत उलट-फेरोंके—जो कि विश्वमें होते हैं—बीचमें बनाया हुआ है। शुद्ध चेतना और शुद्ध सत्ताकी स्थितिका जो हमें अनुभव होता है वह यह है कि वह केवल वही है अर्थात् सरल, अमर, आत्म-सत्, रूपरहित या विषयरहित है, और हमें ऐसा संप्रतीत होता है कि यह अवस्था ही एकमात्र सत्य और यथार्थ है। दूसरी या क्रियात्मक स्थितिका जब हम अनुभव करते हैं तो हमें ऐसा संप्रतीत होता है कि उसकी क्रियात्मकता ही पूर्णतया सत्य और स्वाभाविक है और तब हम यह सोच सकते हैं कि उसके विषयमें शुद्ध चेतना जैसा कोई अनुभव हो ही नहीं सकता। तथापि अब यह स्पष्ट हो गया है कि अनंत चेतनाके लिये निष्क्रिय और सक्रिय दोनों ही स्थितियां संभव हैं। ये उसकी दो अवस्थाएं हैं और विश्वात्मिका संवित्में ये दोनों एक कालमें विद्यमान हो सकती हैं; इनमेंसे एक दूसरीको साक्षीरूपसे देखती हुई उसका अवलंब बनी होती है, अथवा उसकी ओर न देखती हुई और फिर भी निश्चेष्टतया उसका अवलंबन बनी होती है; अथवा शांत-निश्चलता और निष्क्रियता सक्रियताके भीतर व्याप्त रह सकती हैं अथवा सक्रियताको इस प्रकार बाहर फेंक सकती हैं जैसे समुद्र नीचे अचल रहता

श्री हरिवंश प्रसाद उपाध्याय पौडेल,
घर नं० १/२०४, गुहेश्वर,
[illegible]पुर, काठमाडौं (नेपाल)

Sri Harivansh Prasad
Upadhyaya,
Ishwari Nivas,
K. 23/96 Dudhavinayaka,
P.O. Varanasi-1

(U.P.)

ok - Post

श्री अरविंदो आश्रम 388
SRI AUROBINDO ASHRAM
PONDICHERRY-2

388
7/11/64

ADITI SAH BHARATMATA
C/o SRI AUROBINDO ASHRAM PRESS
PONDICHERRY-2